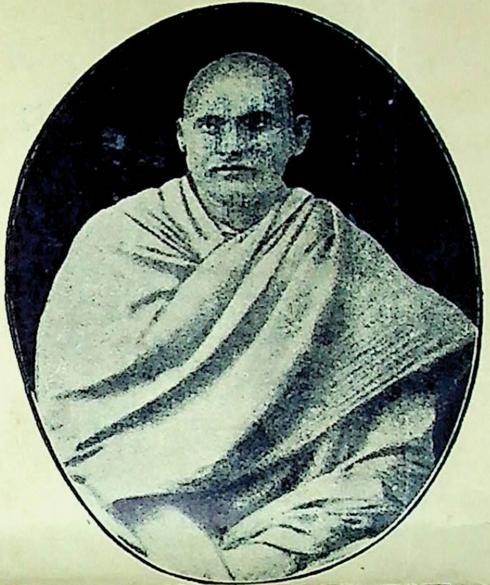
21

स्वा० नित्यानन्द जी
,, विश्वेश्वरानन्द जी

ग्रन्थकार





ओ३म्

पुरुषार्थ प्रकाशः

लेखक

स्व० श्री स्वामी नित्यानन्द जी महाराज
श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी महाराज

प्रकाशक

'सस्ता वैदिक साहित्य प्रकाशक मंडल'
दरीबा कलाँ, दिल्ली

प्रथमवार } सम्वत् १९९० विक्रमी { मूल्य ।॥)

57
1933

प्रकाशक—
सस्ता वैदिक साहित्य प्रकाशक मंडल
दरीबा कलाँ, दिल्ली

मुद्रक—
रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस,
चावड़ी बाज़ार,
दिल्ली ।

भूमिका

श्री स्वामी नित्यानन्दजी ने बहुत अरसा हुआ, एक ग्रन्थ—जिसका नाम 'पुरुषार्थप्रकाश' है—प्रकाशित किया था। ग्रन्थ में उस समय इस प्रकार के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर, कि कन्याओं को यज्ञोपवीत पहना चाहिये, पाक का काम शूद्रों को करना चाहिये—इत्यादि, जब आर्य्य समाज का प्रारम्भिक काल था, और जब इन प्रश्नों की ओर जनता का ध्यान भी पूर्णतया आकृष्ट नहीं हुआ था—विचार करते हुए गृहसूत्रादि अनेक ग्रन्थों के प्रमाणों से सुधार के पक्ष का समर्थन किया था। ग्रन्थ में गृहस्थ-सम्बन्धी अनेक उपयोगी की बातों का समावेश हो गया है, जिनसे प्रायः नर-नारी सभी लाभ उठा सकते हैं। यह ग्रन्थ अप्राप्त होने पर भी अब तक फिर क्यों नहीं छापा गया। उत्तर इसका वही निकम्मी मनोवृत्ति है, जो इस समय गम्भीरतापूर्ण ग्रन्थों के स्वाध्याय में बाधक हैं, और जिससे प्रेरित होकर अधिकांश नर-नारि क्षुद्र भजनों और कहानियों की पुस्तकों के देख लेने ही से स्वाध्याय की इतिश्री समझ लिया करते हैं। प्रसन्नता की बात है, कि श्री चतुरसेनजी पुस्तकाध्यक्ष देहली इस दुर्लभ और प्रायः अप्राप्त ग्रन्थ को प्रकाशित कर रहे हैं, और उन्होंने इस संस्करण को यथा-सम्भव अच्छा और सस्ता संस्करण बनाने का पूरा प्रयत्न किया है। आशा है, कि अधिक-से-अधिक गृहस्थ नर-नारी इस ग्रन्थ से लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे।

बलिदान-भवन
दिल्ली।

नारायण स्वामी

भूमिका

—❀:०:❀—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे ॥२॥ यजु० अ० ४० ॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति कृतिम्भगवो विजिज्ञास इति १ छां० प्र० ७ खं० २१ ॥

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥
१ व० अ० ३ पा० ४ ॥

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः
पुरुषार्थः ७० सां० अ० ६ ॥

फलश्च पुरुषार्थत्वात् ५ मीमां० अ० ३ पा० २ ॥

वीरः सुधीः सुविद्यश्च पुरुषः पुरुषार्थवान् ।
तदन्ये पुरुषाकारा पशवः पुच्छवर्जिताः २पु० ॥

न लभन्ते विनोद्योगं जन्तवः सम्पदाम्पदम्
१७ सु० प्र० २ ॥

पुरुषार्थस्य प्रभावेण तमस्तरति दुस्तरम्
१ नि० वि० ॥

यह तो प्रत्यक्ष ही है, कि इस संसार में साम्प्रत एत-देशनिवासी लोग विद्या, बल, बुद्धि, वीर्य्य, पराक्रम शरीर, सम्पत्ति, धनधान्य, राज्य-ऐश्वर्य्यादि सांसारिक व पारमार्थिक परमोत्तम सुखों से सर्वथा वञ्चित रहकर, दीन, धन-हीन, मनमलीन होकर, नाना प्रकार के दुःसह दुःखों का अनुभव करते हैं, इन उभय सुखों से वञ्चित रखने और

अनेक दुःखों के देनेवाले भयंकर कुरोग का जब तक निदान ज्ञात न हो, तब तक इस रोग वा रोगजन्य दुःखों की निवृत्ति और उभय सुखों की प्राप्ति का होना नितान्त असम्भव है। वेदादिस त्-शास्त्रों व प्रत्याक्षदि प्रमाणों के द्वारा विचार करने से, इस भयंकर रोग का निदान (मूलकारण)अविद्याजन्य आलस्यादि दुर्व्यसनों में फँस-कर सद्वैदिक पुरुषार्थ-पथ का परित्याग करना ही ज्ञात होता है, यद्यपि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छꣳसमाः" इत्यादिक वेद-वाक्यों से सृष्टिक्रम के उदाहरणों से जगन्नि-यन्ता जगदीश्वर ने मनुष्यों का स्वकर्त्तव्य कर्म करने का उपदेश किया है, परन्तु "यही चिन्ह अज्ञान के जो माने कर्त्तव्य; सोई ज्ञानी सुघड़ नर नहीं जाको भवितव्य" १ विचारसा०—इत्यादि कुशिक्षाओं के कारण से मूर्ख लोग ईश्वरेच्छा, प्रारब्ध, काल, ग्रह, देवी, देवता, भूत, प्रेत पिशाच, भैरूं [भैरव] भोपा, मन्त्र, जन्त्र, जादू, टोना, तीर्थाटन भिक्षा, कीमियाँ रसायन, आदि पुरुषार्थ के बाधक और दुःखालस्य के साधक मिथ्या भ्रमजालों में फँस के पुरुषार्थ से विमुख होकर, अपने मनुष्य-जन्म को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं, परन्तु बुद्धिमान् मनुष्यों को विचारना चाहिये कि जिन गृहों में रहते हैं, जिन वस्तुओं को पहिं-नते हैं, जिन रोटियों को खाते हैं, जिन पात्रों से जल पीते हैं, जिन शय्याओं पर सोते हैं, जिन पुस्तकों को पढ़ते

हैं, जिन शस्त्रों से लड़ते हैं, जिन हलों से खेत खड़ते हैं और जिन रेलादि यानों पर चढ़ते हैं, ये सब पदार्थ पुरुषार्थ से ही बने हैं। जब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यह सिद्ध है, कि समस्त भूमण्डल-भर में उदाहरण (नमूने) के लिये ऐसा एक भी मनुष्य नहीं है कि जो बिना पढ़ने से पण्डित और बिना पुरुषार्थ के मुनि-मण्डित हुआ हो, जब ऐसी व्यवस्था है, तो फिर पूर्वोक्त मिथ्या बातों को मानकर प्रत्यक्ष फलदायक पुरुषार्थ का परित्याग करके आर्य्यावर्त्त की हानि और अपने मनुष्य-जन्म की धूल-धानी करना, यही नीच कर्म और मूर्खता नहीं तो क्या है? अस्तु वेदादि सच्छास्त्रावलोकन से जिस दिन से हमको यह दृढ़ निश्चय होगया कि पुरुषार्थ करने से ही मनुष्यों को अभ्युदय निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। उसी दिन से हमारे चित्त में ऐसा संकल्प उत्पन्न हुआ कि पूर्वोक्त अविद्याजन्य आलस्यरूप-रोग की निवृत्ति के अर्थ पुरुषार्थ-प्रकाशरूप महौषधि का प्रयोग करके मनुष्यों को इस दुःसाध्य रोग से बचने का उपदेश करें, इस विचार में हम निमग्न थे, कि उसी समय में अर्थात् विक्रमीय सं० १९४७ में श्रीमद्राजाधिराज शाहपुराधिपति श्री १०८ श्रीनाहरसिंहजी वर्मा के महाराज कुमार श्रीयुव-वराज उम्मेदसिंहजी वर्म्मा व सरदारसिंहजी वर्म्मा के उप-नयन-संस्कार-महोत्सव का निमन्त्रण श्रीमान् शाहपुराधीश

ज्जी ने हम को भेजा, तदनुसार हम राजधानी शाहपुरा को गये, महोत्सवानन्तर श्रीमानोंने सहज-स्वभाव से सरल, मधुर, मनोहर वाणी में अपनी उत्कट-अभिलाषा को प्रकट करके हमें कथन किया, उपनयन-संस्कार का मुख्य प्रयोजन यही है, कि बालक ब्रह्मचर्य्यव्रत को धारण करके सृष्टि-क्रमानुसार समस्त वेदादि सद्विद्याओं के अध्ययन द्वारा पृथ्वी से लेकर परमेश्वरपर्य्यन्त सम्पूर्ण पदार्थों को यथा-योग्य जान के निज कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ, धर्मार्थ-काम और मोक्षरूप परम पद को प्राप्त होकर अपने अपने मनुष्य-जन्म को सफल करे, परन्तु वर्त्तमान समय में पठन-पाठन की शैली प्राचीन आर्य्य ऋषि-मुनि व अर्वा-चीन फ्लासफरों के तथा सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से विद्यार्थियों को निज पूर्वजों के धर्म और अपने कर्त्तव्य-कर्मों का यथावत् बोध नहीं होता, इसलिये वे स्वकर्त्तव्यों मे अपरिचित रहकर मनुष्य-जन्म के पूर्वोक्त फल चतुष्टपद से सर्वथा वंचित रहते हैं, अतएव आप एक ऐसा ग्रन्थ बनावें कि जिससे संसार का उपकार, मेरे बालकों का सुधार, यथार्थ पठन-पाठनक्रम* का निर्धार सदसद्विषय

---

*न क्रमेण विना शास्त्रं न शास्त्रेण विना क्रमः ।
शास्त्रं क्रमयुतं ज्ञात्वा यः करोति स सिद्धिभाक् ॥२॥
रसरत्नसमुच्चये अ० ६ ।

का विचार, मनुष्यों में सदाचार का सञ्चार और पुरुषार्थ का प्रचार हो, श्रीमानों की इस सूचना के अनुसार हमने यथा-मति पुरुषार्थ प्रकाश का निर्माण किया, इस पुरुषार्थ प्रकाश में तीन प्रकरण हैं जैसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम और राज्यप्रकरण, इन तीनों प्रकरणों में दो प्रकरण छपे हैं, और तृतीय प्रकरण किंचित्कालान्तर में मुद्रित होगा, इस पुस्तक में केवल मनुष्यों के पुरुषार्थ का वर्णन किया है, इसलिये इस पुस्तक का नाम पुरुषार्थप्रकाश रक्खा है, इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि सामान्यतः सर्व मनुष्यों को और विशेषतः विद्यार्थियों को स्वकर्त्तव्य का बोध कराकर पुरुषार्थ का वास्तविक स्वरूप जानकर अविद्याजन्य कुशिक्षोद्भव आलस्यादि दुर्व्यसनों से हटाकर कर्त्तव्यबुद्धि के प्रादुर्भाव द्वारा सद्वैदिक पुरुषार्थ-पथ में प्रवृत्त कर देना आदि है। अस्तु इस ग्रन्थ के छपवाने की शीघ्रता हमारी अनुपस्थिति और दृष्टि-दोषादि से यदि कहीं अशुद्धियाँ रह गई हों, तो महात्मा पुरुष सुहृद्भाव से कृपा-पूर्वक हमको सूचित करेंगे ताकि उनका धन्यवादार्पणपूर्वक द्वितीयावृत्ति में वे अशुद्धिएँ दूर कर दी जायँ। अब हम उदारचित्त महानुभाव धर्मात्मा आर्य्य* पुरुषों से स-विनय निवेदन करते हैं कि कृपा-दृष्टि से इस पुस्तक का

---

*कुलं शीले दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता।
अद्रोह इति येष्वेतत्तानर्यान् प्रचक्षते॥ १॥ माल० मां टी०

आद्योपान्त अवलोकन करके हमारे परिश्रम को सफल करें। यद्यपि इस ग्रन्थ में किसी मत-मतान्तर के खण्डन-मण्डन का रगड़ा-झगड़ा नहीं है, और न किसी के चित्त दुखाने की चेष्टा है, किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाण और सृष्टि-क्रम के अनुसार जो कुछ जगत्‌हितार्थ उपाय हमको ज्ञात हुआ वह साधु-भाव से इस पुरुषार्थ-प्रकाश-द्वारा प्रकाशित किया है, इसपर भी कोई पुरुष पक्षपात, दुराग्रह, द्वेषदृष्टि आदि के कारण से किंवा अन्य किसी निमित्तविशेष से न्याय का नाश और पुरुषार्थ का विनाश करके अवज्ञा* करेंगे तो उनकी इच्छा।

इस पुस्तक में स्वमन्तव्य आर्षग्रन्थातिरिक्त ग्रन्थों के जो प्रमाण दिये हैं वे—

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ॥यो० वा०॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यँ बालादपि सुभाषितम् ॥मनु०

के अनुसार समझने चाहियें, इत्यलं विज्ञेषु ॥ शमित्योम् ॥

---

* ये नाम केचिदिह नः पृथयन्त्यवज्ञां जानन्तु ते किमपि तान् प्रति नैष यत्न उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ १ ॥ मालतीमाधव ।

भद्रङ्कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रम्पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।
सामवेद ॥

इति भूमिका

कराक्षराणि विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्दयोः

स्थान श्रीनगर कश्मीर ॥

❀ ओ३म् ❀

अथ पुरुषार्थ-प्रकाशः

यदन्ति यच्च दूरके भयं विदन्ति मामिह । पवमान वि तज्जहि ।

ऋ० अ० ७ अ० २ व० १७ मं० २१ ।

हे पूजनीय परमेश्वर ! इस संसार में दूर व समीप देश में जो हमको भय होता है, उसका आप नाश कीजिये ॥ १ ॥

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडसी ।

य० अ० ८ मं० ३६ ।

जिस परमात्मा से परे अर्थात् जिससे बड़ा कोई नहीं है, और जो सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, वही परमात्मा सब संसार का पति और सर्व जीवों को सब पदार्थों का देने वाला है। जिसने सूर्य, अग्नि, वायु, सर्वत्र विस्तृत कर रक्खे हैं, और सोलह कलाओं से सब संसार को बनाया है, वही मनुष्य मात्र का उपासनीय है ॥ २ ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

साम० उ० उ० प्र० ११ मं० ३॥

हे सर्वेश्वर, ज्ञानमय, सर्वपोषक, सर्वज्ञानाधिकरण, सर्वशक्तिमन्, सर्वनियन्ता, सर्वरक्षक परमात्मन्! आप हम को अखण्ड सुख प्रदान कीजिये ॥ ३ ॥

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् । अभयं नक्तम् भयं दिवानः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।

अथर्व ० कां० १९ अनु० २ व० १५ मं० ६ ।

हे परमात्मन् ! आप मित्र और अमित्र, ज्ञात पदार्थ और अज्ञात पदार्थ, रात्रि और दिवस, इन सबों से हमको भयरहित कीजिये और आप की कृपा से सब दिशाएँ हमारी मित्र हों, अर्थात् सुखप्रद हों ॥ ४ ॥

शान्ता द्यौःशान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्व*न्तरिक्षम्। शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः।

अथर्व० कां० १९ अनु० १ व० ९ मं० १।

हे परमेश्वर! आप की कृपा से आकाश * पृथिवी, अन्तरिक्ष जल तथा औषधि हम को सुखप्रद हों॥ ५॥

उस सच्चिदानन्द, निराकार, निर्विकार, निराधार, निगमप्रद, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, नित्य, शुद्ध, पवित्र और सृष्टिकर्त्तादि अनेक विशेषण विशिष्ट परमात्मा को अनेकानेक धन्यवाद अर्पण कर के हम इस "पुरुषार्थ-प्रकाश" नामक ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हैं।

संसार की ओर देखते हैं, तो इस संसार में दो प्रकार के पदार्थ प्रतीत होता है। एक जड़ और दूसरा चेतन। जड़ उसको कहते हैं, कि जिस में ज्ञानादि गुण नहीं हैं, और चेतन उसको कहते हैं कि जिस में ज्ञानादि गुण है, वह चेतन भी जीव और ईश्वर भेद से दो प्रकार का है।

ईश्वर वह है, जो कि सच्चिदानन्दस्वरूप, अजन्मा, निराकार, निर्विकार, निर्गुण, निरवधि, निरवद्य, नित्य, निरञ्जन, निरामय, निरवयव, निरुपद्रव, निर्भय, अजरामर,

---

*आकाश नाम एक तत्व का है, जिसे अँग्रेज़ी में "ईथर" कहते हैं, और अन्तरिक्ष नाम पोलका है, जिसको अँग्रेज़ी में 'वेक्युम्' कहते हैं।'

शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्व नियन्ता सर्वान्तर्यामी, सर्वसुखद, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, विश्ववन्द्य, विश्वम्भर, विश्वविनोद, विश्वकृत् आदि अनेक विशेषण युक्त है। एवं जीव वह है, कि जो प्राण अन्तःकरणादि के सहित कर्मानुसार मनुष्य पशु, पक्षी, मृगादि शरीरों को धारण करके शुभाशुभ कर्मों के सुख दुःखरूप फल का अनुभव करता है। उन सब प्राणियों में मनुष्य * ही सर्वोपरि उत्तम है। अतः हम मनुष्य के कर्त्तव्य विषय का विवेचन करते हैं।

जब मनुष्य ५ वा ६ वर्ष का होता है, तब उसको कुछ निज और पर का ज्ञान होता है, और जब निज पर आदि व्यवहार को जानने की बालक में योग्यता होती है, तब वह कुछ कर्त्तव्य करने के योग्य होजाता है, और नव-दश वर्ष का हो जाने पर विशेष कर्त्तव्य करने में समर्थ होता है। अब विचारना चाहिये कि मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य क्या है ? इस विषय में युक्ति प्रमाणों से व सर्व विद्वानों

---

*भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठा नरेस्वपि द्विजातयः॥ भा० उद्यो० प० अ० ६ श्लो० १

पृथिव्यादि भूतों से प्राणधारी कीटादि जीव श्रेष्ठ हैं, और उनसे कुछ बुद्धिवाले हस्त्यादि पशु श्रेष्ठ हैं; उनसे मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में भी द्विजाति विद्यादिगुण सम्पन्न पुरुष श्रेष्ठ हैं।

की सम्मति से, यह सिद्ध हो चुका है है, कि इस संसार में मनुष्य का प्रथम मुख्य कर्त्तव्य ब्रह्मचर्य इसलिये है, कि सब मनुष्य सुखों को चाहते हैं और सांसारिक व पारमार्थिक सुख का मुख्य साधन ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ यह है कि "ब्रह्मणे वेदादिविद्यायै चर्यते इति ब्रह्मचर्यम् *" ब्रह्म नाम वेद विद्या का है। वेदादि विद्याओं के लिए जो व्रत धारण किया जाता है उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। और ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने वाले को ब्रह्मचारी† कहते हैं। जैसे "ब्रह्मणि चरितुं शीलमस्यातीति ब्रह्मचारी" अथवा "ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं यद्व्रतं तदपि ब्रह्मतच्चरतीति ब्रह्मचारी" ब्रह्म (वेदविद्या) को प्राप्त करने का शील जिस में हो, वह ब्रह्मचारी कहाता है। अथवा ब्रह्म वेदविद्या के पढ़ने के अर्थ जो जितेन्द्रियादि व्रत हैं उस को भी ब्रह्म कहते हैं। उस ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं।

हम पूर्व लिख आए हैं, कि ब्रह्मचर्य से उभय लोक के सुखों की सिद्धि होती है, उसी को अब दर्शाते हैं।

---

*कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा। सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥ ९४ योगयाज्ञवल्क्ये।

† अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणिस्थितः। ब्रह्मभूतश्चरन् लोके ब्रह्मचारीति कथ्यते। १। मोक्षधर्मे

क्योंकि सब सुखों की सिद्धि का हेतु जीवन है, और जीवन का मुख्य हेतु प्राणों की रक्षा और प्राणों की रक्षा का मुख्य साधन, वेदादि शास्त्रों में ब्रह्मचर्य ही कहा है। तद्यथाः—

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान्त्सर्वान्ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्या भृतम ॥ २२।

अथर्व० कां० ११ अनु० ३ व० १५

जगत्पिता परमात्मा की प्रजा मनुष्यादि सब जीव पृथक्-पृथक् अपने-अपने आत्मा में प्राण को धारण व पोषण करते हैं, उन सब जीवों के प्राणों की रक्षा ब्रह्मचारी में धारण किया हुआ जो ब्रह्मचर्य व्रत है, वही करता है, अर्थात् सब जीवों के प्राणों की रक्षा करनेवाला मुख्य ब्रह्मचर्य व्रत है, इसी प्रकार दुःख की निवृत्ति भी ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से ही होती है। जैसे—

ब्रह्मचारी न काञ्चनार्तिमार्च्छति।

शत० कां० ११ प्र० ३ ब्रा० ६ कं० २।

ब्रह्मचर्य्य व्रत के धारण करने से किसी प्रकार का दुःख प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार से पुण्य, शरीरारोग्यतादिक का कारण भी ब्रह्मचर्य्य ही है। जैसेः—

पुण्यतममायुः प्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनं ऊर्जस्करममृतं शिवं शरण्यमुदात्तं मत्तः श्रोतुमर्हथो-

पधारयितुम् प्रकाशयितुञ्च प्रजानुग्रहार्थमार्ष ब्रह्म-चर्य्यम् । चर० चि० अ० १ रसायनपाद । ४ ।

भृगु अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ; कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव असित, गौतम आदि महर्षियों से इन्द्र* ने कहा कि हे तपोधन ऋषियों ! सब मनुष्यों के लिए मुख्य पुण्य तम अर्थात् सर्व पुण्यों से उत्तम पुण्य ब्रह्मचर्य है; और पूर्ण आयु (उमर) का करने वाला, शीघ्र वृद्धावस्था को न आने देनेवाला, रोगों का नाश करनेवाला, तेज का बढ़ानेवाला, मृत्यु से बचानेवाला, कल्याण का करनेवाला, शरीरादि की रक्षा करनेवाला, और मन को सर्वदा आनन्द रखनेवाला, जो ब्रह्मचर्य है, उसको तुम मुझ से सुनो, और धारण करो, इस सनातन ब्रह्मचर्य को प्रजा के सुख के वास्ते संसार में प्रचार करो,इसी प्रकार अष्टांगहृदय में लिखा है कि:—

आहारशयनब्रह्मचर्य्यैर्युक्त्या प्रयोजितैःशरीरं धार्य्यते नित्यमागारमिव धारणैः

॥ ५१ ॥ अष्टांगहृदय सूत्र स्थान अ० ७।

आहार निद्रा के सहित ब्रह्मचर्य ही शरीर का आधार है, जैसे घर के आधार खँभे (थंभे) होते हैं। अहह ! जिस समय में इस आर्य्यावर्त्त देशरूप गृह में ब्रह्मचर्य का खंभा लगा हुआ था, उस समय में यह देश सब प्रकार से

*द्वयेन वा एष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानः । श० कां० ५ प्र० ब्रा० ५ कं० ४

उन्नति के शिखर पर चढ़ा हुआ था; परन्तु जब से इस भारतवर्ष देश का ब्रह्मचर्यरूप खँभा टूटा, तभी से यह देश गिर कर नष्ट भ्रष्ट होगया। वृद्ध गौतमस्मृति में लिखा है कि:—

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महाशयः।
पुण्यंच मतिप्रियत्वंच हन्यतेऽब्रह्मचर्य्यया ॥

गौ० स्मृ० अ० ४

आयु, तेज, बल, वीर्य्य, बुद्धि, श्री (शोभा), सौंदर्य, धन, महायश, पुण्य और प्रीति, इन सबको अब्रह्मचर्य नाश कर देता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य न रखने से, इन पदार्थों का नाश हो जाता है। वास्तव में ब्रह्मचर्य व्रत का परित्याग करने से इस देश की अकथनीय दुर्दशा हो रही है, और जब तक एतद्देश निवासी लोक ब्रह्मचर्य व्रत को पुनः धारण न करेंगे, तब तक देश की उन्नति होनी सर्वथा असम्भव है। आचार्य आदि उच्च पदवी तथा राज्य की प्राप्ति का मुख्य हेतु ब्रह्मचर्य ही है। जैसा कि अथर्ववेद में प्रतिपादन किया है किः—

आचार्य्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी। १६।

अथर्व० कां० ११ अनु० ३ व० १४।

ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने से ही आचार्य पदवी को पाता है, और ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने से ही प्रजापति

अर्थात् राजा होता है। और जो राज्य करता है, वही सब पर अपना अधिकार जमा कर सबको वश में रख कर इन्द्र कहाता है। एवं:—

ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। १७।

अथर्व० कां ११ अनु० ३ व० १४।

ब्रह्मचर्य से ही राजा राज्य की रक्षा भी कर सकता है; अन्यथा नहीं। एवं:—

ब्रह्मचर्य्येण वै लोकान् जयन्ति परमर्षयः। ६।

भा० शां० अ० २४३।

ब्रह्मचर्य से ही महर्षिजन लोक; लोकान्तरों को जीतते हैं। अर्थात् पूर्वकाल के ऋषि महर्षियों ने लोक लोकान्तरों को पराजित किया था। और ब्रह्मचर्य से ही शत्रु पराजय होता है, क्योंकि महाभारतादि इतिहासों के देखने से ज्ञात होता है, कि जैसे आज-कल के दुष्ट, मूर्ख, मिथ्यावादी; छली; कपटी, पाखण्डी, तन मन धन को समर्पण कराने वाले, धोखेबाज़, जालसाज़; मतलबी यार भारत को आरत करने वाले; क्षुद्र लोगों ने अपने तुच्छ लाभ के लिये वेद विरुद्ध मिथ्या मत चला के, भोले भाले लोगों को धर्म का धोखा देकर, अधर्म में फंसाए हैं, ऐसा पाखण्ड पूर्व काल में नहीं था, किन्तु प्राचीन काल में ऋषि महर्षि व राजा, महाराजा, ब्रह्मचर्य को ही परम धर्म मानते थे, और पूर्ण

ब्रह्मचर्य को धारण करके शत्रुओं का पराजय करते थे। जैसेः—

ब्रह्मचर्य्यं परो धर्म्मः स चापि नियतस्त्वयि।
यस्मात्तस्मादहं पार्थ रणोऽस्मिन् विजितस्त्वया।७१।

भा० आदि० अ० १७०।

अर्जुन ने युद्ध करके गन्धर्व को हरा दिया; तब गन्धर्व बोला कि हे अर्जुन! यह ब्रह्मचर्य ही परम धर्म है, क्योंकि इसी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से तूने मुझे जीत लिया। प्रिय पाठकगण! विचार कीजिए कि शत्रुओं को पराजय करने के लिए ब्रह्मचर्य कितना आवश्यक है। इतना ही नहीं, किन्तु जैसे:—

वैखानसा वालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः।
रसायनमिदं प्राश्य बभूवुरमितायुषः॥
ब्राह्मं तपो ब्रह्मचर्य्यं चेरुश्चात्यन्तनिश्चयाः।
रसायनमिदं ब्राह्ममायुष्कामः प्रयोजयेत्॥

चर० चि० अ० १ पाद १।

वैखानस नाम बानप्रस्थ तपस्वो, और बालखिल्य नाम मुनिजन, तथा अन्यान्य ऋषि महर्षि आदि तपोधन महात्मा, निश्चयपूर्वक ब्रह्मचर्य्यरूप रसायन को सेवन करके दीर्घजीवी हुए। ऐसे हो चरकाचार्य सर्व मनुष्यों को उपदेश करते हैं, कि जो अपनी आयु को बढ़ाना चाहे, वह ब्रह्म-

चर्य्यरूप रसायन को धारण करे, इसी ब्रह्मचर्य्य व्रत के पालन करने से वे महर्षि जनः—

बीततन्द्रा क्लमाश्चासन्निरातङ्काः समाहिताः ।
मेधास्मृतिबलोपेताश्चिररात्रं तपोधनाः ॥

चर० चि० अ० १पा १

तन्द्रा [नाम कुछ सोना कुछ जागना ऐसी हालत (दशा) जैसी कि अफ़ीमी लोगों की होती है] को जीतते थे, पापाचरण व निरान्तक अर्थात् समाधिस्थ शुद्धान्तःकरण पुरुषार्थी बुद्धिमान, स्मृतिमान् और बलवान् होते थे । अतः—

कामाश्चेष्टान् समश्नुते ॥

चर० चि० अ० १पा १

जो पुरुष क्रियाकुशलता को तथा नाना प्रकार के सुखों को भोगना चाहें, वह ब्रह्मचर्य्य का सेवन करे। इसी प्रकार धर्म यज्ञादिकी कामना जिसको हो, उसको चाहिए कि वह ब्रह्मचर्य्य धारण करे क्योंकिः—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम् ।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्य्यमेकान्त निर्मलम् ॥

अष्टां० उत्तरस्थाने अ० ४०

जगत् में धर्म का हितकारक, यश का करनेवाला, आयु का बढ़ानेवाला, और दोनों लोकों को सुधारनेवाला मुख्य ब्रह्मचर्य्य ही है। इसलिए अष्टांगहृदयकार वाग्भट्ट

कहते हैं कि इस निर्मल, ब्रह्मचर्य्य सेवन करने को हम भी अनुमोदन करते हैं! अवश्यमेव इस निर्मल ब्रह्मचर्य्य को धारण करना चाहिए। और इस बात को सब मनुष्य स्वीकार करते हैं कि जितने सांसारिक सुख हैं, वे सब आयु के आधीन हैं। और—

ब्रह्मचर्य्य मायुष्यकराणाम् ॥

च० सू० अ० २५॥

आयु के हितकारक जितने पदार्थ हैं, उन सब से श्रेष्ठ-तम ब्रह्मचर्य्य है, और जो पूर्वकाल के ऋषि मुनि ज्ञानी गुणी तथा पराक्रमी होकर, उन्नति के शिखर पर चढ़े हुए थे, इसका यही कारण था, कि वे महात्मा, आजकल के अनेक मूर्ख माता-पिता के सदृश स्वसन्तानों को, बाल-विवाहादि की कुशिक्षा नहीं देते थे, किन्तु वे तत्वज्ञ अपनी सन्तानों को अत्युत्तम ब्रह्मचर्य्य सेवन कराके, पराक्रमी, विद्वान्, और योग्य बनाते थे, उन ऋषियों के कुलकी ऐसी मर्य्यादा थी कि वे अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य्य सेवन कराने के बिना रख ही नहीं सकते थे, क्योंकि वे महात्मा अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य्य पालन कराना ही, अपना मुख्य कर्त्तव्य कर्म समझते थे। निम्नलिखित कालपर्यंत अपने सन्तान को, ब्रह्मचर्य्य पालन न कराने से, कुल को कलंकित करना, और सन्तानों का वर्णसंकर होना मानते थे। देखो:—

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तꣳह पितोवाच श्वेतकेतोवस ब्रह्मचर्य्यं न वै सोम्याऽस्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥

छां० प्र० ६ खं० १

उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश करते हैं, कि हे श्वेतकेतु! तू ब्रह्मचर्य्य को धारण कर, क्योंकि ब्रह्मचर्य्य के सेवन न करने से; मनुष्य वर्णसंकर होजाता है, और हमारे कुल में आज दिन तक कोई भी ऐसा नहीं हुआ, कि जिसने ब्रह्मचर्य्य व्रत पालन न किया हो, इसलिये तू ब्रह्मचर्य्य को धारण कर। इसी प्रकार प्राचीन ऋषि महर्षि यज्ञ और इष्ट इत्यादिक भी ब्रह्मचर्य्य को ही मानते थे जैसे:—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षेत ब्रह्मचर्य्यमेव* तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥ अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्येणह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्द-

*एवं पूर्वकाल में तीर्थ भी ब्रह्मचर्य्य को ही मानते थे, देखो वृद्धगौतमस्मृति—ब्रह्मचर्य्यं परं तीर्थं त्रेताग्निस्तीर्थमुच्यते। मूलधर्मः स विज्ञेयो मनस्तत्रैव वा युतम् ॥ वृद्धगौतमस्मृति अ० २० ॥ स्पष्टम्

तेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येवात्मानमनुविद्यमनुते ॥ २ ॥

छां० प्र० ८ खं० ५

ब्रह्मचर्य्य को ही यज्ञ कहते हैं, इस ब्रह्मचर्य्य के सेवन से ही जो सब का ज्ञाता परमेश्वर है, उसको जानकर, उस परमेश्वर को प्राप्त होता है, और जिसको इष्ट अर्थात् सर्व सुख का साधन कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य्य ही है। इस ब्रह्मचर्य्य से ही विद्या, बुद्धि आदि उत्तम गुणों को प्राप्त होता है ॥१॥ और इस ब्रह्मचर्य्य से ही, अपने आत्मा का यथावत् रक्षण भी होता है, और इस ब्रह्म चर्य्य से ही मननशील होकर परमात्मा का ध्यान भी कर सकता है ॥ २ ॥ जिस ब्रह्मचर्य्य का सत् शास्त्रों में ऐसा महात्म्य लिखा है, उस ब्रह्मचर्य्य के स्वरूप का यहाँ पर कथन करते हैं।

तदाहुर्न ब्राह्मणं ब्रह्मचर्य्यमुपनीय मिथुनं चरेद्गर्भो वा एष भवति ब्रह्मचर्य्यमुपैति ॥

श० कां ११ प्र० २ ब्रा० ६ कं० १६

ब्रह्मचारी को चाहिये कि ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करके, मैथुन कदापि न करे। जैसे लड़का जब गर्भ में रहता है, तब वह कुछ भी कुचेष्टा नहीं करता, ऐसे ही ब्रह्मचर्य्य भी विद्या, बल, बुद्धि, वीर्य्य, पराक्रमादि का गर्भ है जैसे गर्भ में बालक का शरीरादि बढ़ता है, ऐसे ही, बल, बुद्धि, विद्या, वीर्य्य, पराक्रम के सहित ब्रह्मचर्य्य व्रत रक्खे तब

तक मैथुन न करे, इससे यह बात सिद्ध हुई, कि विद्याभ्यासादि के लिए वीर्य्यादि के रक्षण करने को ही ब्रह्मचर्य्य कहते हैं जैसे योगशास्त्र में लिखा है कि:—

ब्रह्मचर्य्य प्रतिष्ठायां वीर्य्य लाभः ॥

योगशास्त्र पाद २ सू० ३८

ब्रह्मचर्य्य के धारण करने से ही वीर्य्य का लाभ होता है, इसी प्रकार मनुस्मृति में भी लिखा है । कि:—

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः। १८०।

मनु० अ० २

ब्रह्मचारी को चाहिये कि सर्वदा इकेला सोया करे, और कभी वीर्य्यपात न करे, यदि भूल कर के भी सुख के वास्ते ब्रह्मचारी एक बार भी वीर्य्य को गिरा दे, तो उस ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य्यव्रत नष्ट होजाता है, इसी प्रकार महाभारत में लिखा है कि:—

लिङ्गसंयोगहीनं* यच्छब्दस्पर्शविवर्जितम् ।
श्रोत्रेण श्रवणं चैव चक्षुषा चैव दर्शनम् ॥ ८ ॥
वाक्संभाषाप्रवृत्तं यत्तन्मनः परिवर्जितम् ।

---

*अष्टधा मैथुनत्याग को ब्रह्मचर्य्य कहा है । स्मरणं कीर्त्तनं केलिःप्रेक्षणं गुह्यभाषणं संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च, एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ दक्षस्मृति अ० ७

बुद्धया चाध्यवसीयीत ब्रह्मचर्य्यमकल्मषम् । ९ ॥

महा० शां० अ० २१४

ब्रह्मचर्य्य उसको कहते हैं, कि गुह्येन्द्रिय का गुह्येन्द्रिय से स्पर्श तो क्या, परन्तु विना निमित्त हस्तादि से भी स्पर्श न हो, और विषयसम्बन्धी बुरी बातों को न सुने, और आँखों से स्त्री आदि ब्रह्मचर्य्य व्रत के नाश करनेवाली चीज़ों को कुदृष्टि से कभी न देखे, और वाणी से विषय-सम्बन्धी बातें झूठी बातें तथा निरर्थक बातें न कहे, और मन से विषयसम्बन्धी बुरी बातें तथा किसी को हानि पहुँ-चाने की बातों को न सोचे, और जो काम करे उसको बुद्धि से प्रथम विचार के करे, अथवा जो कुछ अध्ययन करे, उसका अर्थ यथार्थ जानकर, ठीक-ठीक निश्चय करले, इसी को ब्रह्मचर्य्य कहते हैं। यहाँ पर कोई ऐसी शंका करे, कि कोई पुरुष, विद्याभ्यास के विना वीर्य्य का रक्षण करे, तो वह ब्रह्मचर्य्य व्रत होसकता है या नहीं; इसका उत्तर यह है कि विद्याभ्यास के बिना, वीर्य्य के रक्षण करने को भी किसी अंश में ब्रह्मचर्य्य कह सकते हैं, ※परन्तु वास्त-विक ब्रह्मचर्य्य वही है, कि जितेन्द्रिय रह कर, विद्याभ्यास

※ जैसा कि व्यासदेव ने योग के भाष्य में लिखा है कि ब्रह्मचर्य्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्यसंयमः ॥ यो० पा० २ सू० ३०

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये । दो प्रकार की विद्या होती है जैसे शस्त्रविद्या और शास्त्रविद्या ।

का करना जैसा कि महाभारत में लिखा है:—

शिष्यवृत्ति क्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्य्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ११ ॥

उद्यो० प० अ० ४४

जो मनुष्य जितेन्द्रियवादि सदाचारों से पवित्र होकर विद्या को प्राप्त करता है, वह ब्रह्मचर्य्य का प्रथम पाद अर्थात् पहिला भाग है। एवं ऐसे ही:—

धर्मादयो द्वादश *यस्य रूपमन्यानि चाङ्गानि तथा बलंच आचार्ययोगे फलतीति चाहुर्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्य्यम् ॥ १७ ॥ भा० उद्यो० अ० ४४

धर्म, सत्य, तप, दम, (अर्थात् जितेंद्रियता) अमात्सर्य्य (अपने से अधिक वैभव वाले को देखके ईर्ष्या न करना) तितिक्षा (अपने पर दुःख पड़ने से न घबराना) अनसूया (निन्दा का न करना) दानम् (विद्यादि उत्तम पदार्थों का देना) श्रुतम् (लौकिक व पारमार्थिक सिद्धान्तों का सुनना) धृतिः (धारणाशक्ति को बढ़ाना) क्षमा (सहनशील होना) यह पूर्वोक्त बारह, तथा यम नियमादि

---

*धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया।
दानं श्रुतंचैव धृतिः क्षमा च, महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥२॥

उद्यो० प० अ० ४२।

और शारीरिक व मानसिक बलादि, ये सब ब्रह्मचर्य्य के रूप हैं।

इस ब्रह्मचर्य्य की सिद्धि मुख्य करके आचार्य्य के पास अर्थसहित वेदादि विद्याओं के पढ़ने से ही होती है, इस विषय को हम आगे लिखेंगे, इन पूर्वोक्त वाक्यों से यह वार्ता सिद्ध हो चुकी है, कि सर्व प्रकार के सुखों का मूल कारण ब्रह्मचर्य्य ही है, और जितेन्द्रियता-पूर्वक विद्याभ्यास करने को ब्रह्मचर्य्य कहते हैं इस में जिज्ञासा यह होती है कि विद्या किसको कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि:—

विद्ययाऽमृतमनुते ॥ १४ ॥ यजु० अ० ४०

जिससे परम सुख की प्राप्ति होती है, उसी को विद्या कहते हैं एवः—

क्षरन्त्वविद्या ह्यमृतन्तु विद्या ॥ १॥

श्वेताश्वतरोपनिषत् अ० ५

जिसका नाश होता है उसको अविद्या और जिसका नाश नहीं होता उसको विद्या कहते हैं। वैशेषिक में विद्या का लक्षण *ऐसा किया है कि:—

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥ २१ ॥ वैशेषिक अ० ७ आ० १

अविद्या ही विद्या का लिंग अर्थात् जाननेवाली है

---

*लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः—तथा ऋषयोऽपि प्रमाणानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः। लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥ मीमांसा शवरभाष्य अ० २ पा० १ सू० २२

तात्पर्य यह है कि जो अविद्या से विपरीत स्वभाववाली वस्तु है उसी को विद्या कहते हैं और:—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या १ ॥ ५ ॥ योग० पा० २

जिसके कारण से मनुष्य अनित्य को नित्य, और नित्य को अनित्य अशुद्ध को शुद्ध और शुद्ध को अशुद्ध, दुःख को सुख, और सुख को दुःख अनात्मा को आत्मा तथा आत्मा को, अनात्मा, अर्थात् चेतन को जड़ वा जड़ को चेतन समझता है, वही अविद्या कहाता है। इस सूत्र का तात्पर्य्य यह है, कि जो पदार्थ जैसा हो, उससे उसको विपरीत (उलटा) समझ लेना अविद्या है, जैसे जल, पाषाण, मृत्तिका आदि जड़ अनात्म पदार्थों को, ईश्वर मानना वा इन में ईश्वर बुद्धि करना आदि अविद्या है।

तद्दुष्टं ज्ञानम् ॥११॥ अदुष्टं विद्या ॥१२॥

वैशे० अ० ९ आ० २

अविद्या को ही दुष्ट ज्ञान कहते हैं, और दुष्ट ज्ञान से भिन्न यथार्थ प्रमाज्ञान को विद्या कहते हैं। विद्या शब्द के (**विद्‌ ज्ञाने**) धात्वर्थ से भी देखा जाय तो यही सिद्ध होता है, कि (**वेत्ति यया सा विद्या**) जिससे पदार्थ

---

१ इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ १० ॥
वैशेषिक अ० ९ आ० २

का यथार्थ ज्ञान हो वही विद्या है, शतपथ ब्राह्मण में लिखा है किः—

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वाꣳस स्तपस्विनः ॥

श० कां० १० प्र० ४ ब्रा० कं० १६

विद्या के प्रभाव से मनुष्य उस पद को पाता है कि जहाँ सब सुखों की सीमा है और जो पदार्थ धन, चतुरता तथा विद्याहीन तप से नहीं मिल सकते वे सब विद्या के प्रताप से मिल सकते हैं, इसी विषय का वृहदारण्यक में उपदेश किया है किः—

विद्यया देवलोको❋वै लोकानाꣳ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां-प्रशꣳसन्ति ॥ बृ० अ० ३ ब्रा० ५

जो विद्याभ्यास करता है वह विद्वानों के स्थान को पाता है इसी कारण विद्या की प्रशंसा करते हैं, एवं ऐतरेय में लिखा है किः—

केन ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या † विद्ययेति ॥

ऐ० पं० ५ अ० ५

❋विद्वाꣳसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ प्र० ४ ब्रा० ६ कं० १०

अन्तस्थञ्च बहिष्ठञ्च साधियज्ञाधिदैवतम् । ज्ञानान्विता हि पश्यन्ति ते देवास्तात ते द्विजाः ॥ २३ ॥ भा० शां० प० अ० २३४

† त्रयीं विद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तामथांगतः । ऋक्सामवर्णाक्षरतो

त्रयीविद्या के अध्ययन से ननुष्य को ब्रह्मत्व पद की प्राप्ति होती है तथा निरुक्त में प्रतिपादन किया है कि:—

विद्यातः पुरुषविशेषो भवति ॥

निरु० पूर्वष० अ० १ पा० ५ खं० २

विद्या से ही पुरुष सर्व मनुष्यों में श्रेष्ठतम और माननीय होता है ऐसे ही मनुस्मृति में लिखा है कि:—

तपो विद्या च विप्रस्य*निः श्रेयस्करं परम् ।

यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥ १ ॥ भा० शां० अ० २३५

इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है वर्तमान समय में वेदानभिज्ञ लोग त्रयीविद्या के नाम से ऋग्यजुः और साम इन तीन वेदों का ग्रहण करते हैं और चतुर्थ अथर्ववेद नहीं मानते परन्तु ऐसा मानने वालों की महामूर्खता है क्योंकि इस श्लोक में भी चारों वेदों को त्रयीवेद लिखा है, तथा न्यायविस्तर सर्वानुक्रमणी वृत्ति आदि अनेक ग्रन्थों में त्रयीवेद के नाम से ४ वेदों का ग्रहण किया है और त्रयीवेद के नाम से वेदों की प्रसिद्धि का कारण भी उक्त ग्रन्थों में यही लिखा है कि ४ वेदों में कर्म उपासना और ज्ञान का विधान किया है तथा गद्य-पद्य और गानात्मक चारों वेदों की रचना होने से भी वेदों को वेदत्रयी कहते हैं यदि त्रयी नाम से तीन ही वेदों अभीष्ट होते तो ऋग्वेद अ० ३ अ० ८ व० १० मं० ३ की व्याख्या में निरुक्तकार यास्कमुनि व महाभाष्यकार पतंजलि व छान्दोग्योपनिषत् शतपथ-ब्राह्मणादि अनेक ग्रन्थों में अथर्ववेद को वेद क्यों लिखते ।

*विप्र इति मेधाविनामसु पठितं निघण्टौ ॥ अ० ३ खं० १५

तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते । १०४ ।

मनु० अ० १२

सत्यभाषणादि तप और विद्या ये दोनों ही बुद्धिमानों के कल्याण करनेवाले हैं सत्यभाषणादि तप से मनुष्य सब पापों से बच जाता है और विद्या से सर्व प्रकार के सुख मिलते हैं एवं:—

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविता ।
विद्या तपो विवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये । ३० ।

मनु० अ० ६

तप की वृद्धि और शरीर की शुद्धि के लिए पूर्वकाल में ऋषियों ने व ब्राह्मणों ने तथा अन्य गृहस्थों ने विद्या का सेवन किया । जिस में एतद्देशीय लोग विद्याऽभ्यास करके सर्व विद्याओं में पूर्ण विद्वान् और निपुण होते थे उस समय में यह देश बल, बुद्धि, वीर्य, पराक्रम, राज्य, ऐश्वर्य्यादि, सर्व पदार्थों से सुभूषित सम्राट् था परन्तु इस समय में इस देश के मनुष्य पूर्वोक्त गुणों से रहित होजाने से यह देश अन्यदेशों का पदाऽऽक्रान्त, महादीन, हीनदशा में है, इन सब आपत्तियों का मूल कारण यही है, कि महा-भारत युद्ध के पीछे एतद्देशीय लोग विद्या के पठन पाठन से सर्वदा हाथ धो बैठे, और अविद्या के पंजे में फंस गये इसीसे यहाँ के लोग अन्न-वस्त्र से भी दुःखी हो रहे हैं। आप जानते हैं कि यह सम्पूर्ण विश्व के सब तत्वज्ञ

(फिलासफर) विद्वानों का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, कि जिस-जिस देश में जब-जब विद्या की वृद्धि होती है, तब तब उस-उस देश की उन्नति, और जब-जब विद्या की अवनति, तब-तब देश की अवनति होती है, जैसे पूर्वकाल में आर्यावर्त, उस से मिसर यूनान आदि सब देश उन्नति को प्राप्त हुए थे, और विद्या के प्रभाव से अब यूरुप, अमेरिका आदि देश उन्नति पर हैं अस्तु आर्यावर्त पूर्वकालवत् जब विद्वान् होगा तभी अपने योरुप आदि बन्धुओं की श्रेणी में पदारोपण कर सकेगा, इसलिए एतद्देशनिवासिओं को समुचित है, कि देशोन्नतिजन्य सर्व सुख सम्पत्ति के अर्थ तन, मन, धन से विद्योन्नति करें क्योंकि केनोपनिषद् में लिखा है किः—

विद्या विन्दतेऽमृम् ॥ ४ ॥ केन० खं० २

विद्या से ही परम आनन्द को प्राप्ति होती है ऐसे ही भोज प्रबन्ध में भो वर्णन किया है किः—

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते ।
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम् ॥
कीर्तिं च दिक्षु विमलां वितनोति लक्ष्मीं ।
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥२॥ भोजप्रबन्ध

माता जिस प्रकार से पुत्र का पालन पोषण व रक्षण करती है, ऐसे ही विद्या भी मनुष्य का पालन पोषण व

रक्षण करती है। यद्यपि माता केवल बाल्यावस्था में ही पुत्र का रक्षणादि करती है, परन्तु विद्या सब अवस्थाओं में मनुष्य का पालनादि करती है। और जैसे पिता, पुत्र का जिसमें हित हो उसमें पुत्र को लगाता है, ऐसे ही विद्या भी मनुष्य को हिताहित का ज्ञान कराकर, हित में प्रवृत्त कराती है, तथा जैसे पतिव्रता स्त्री, पुरुष को सर्व प्रकार से सुखी रखती है और दुःख नहीं होने देती ऐसे ही विद्या भी मनुष्य को सब प्रकार सुखी कर दुःख से बचाती है। और विद्या ही एक ऐसी वस्तु है, कि जो मनुष्य की संसार-भर में महाकीर्ति को विस्तृत कराकर यथेष्ट धन की प्राप्ति करा देती है। भोजप्रबन्धकार कहता है, कि सन्सार में ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जो विद्यारूप कल्पलता से प्राप्त न होसके, इसी प्रयोजन से चरक में कथन किया है कि:—

विद्या बृंहणानाम् ॥ चर० सू० अ० ३०

सर्व पदार्थों की बृद्धि का हेतु मुख्य विद्या ही है, इतना ही नहीं किन्तुः—

सर्वद्रव्येषु विद्यैव* द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ॥
अहार्य्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षयत्वाच्च सर्बदा ॥४॥ हि० प्र०

---

* अपूर्वःशब्दकोशोऽयं विद्यते तव भारती ॥ व्ययतो बृद्धि-माप्नोति क्षयमाप्नोति संचयात् ॥ रस कल्पद्रुम परिच्छेद । ६०

सब धनों में विद्या धन ही उत्तम है, क्योंकि विद्यारूप धन को चोर चुरा नहीं सकता, और इसका नाश भी नहीं होता, तथा अमूल्य होने से बाजार में मोल भी नहीं मिल सकती, यदि लाख रुपये तोला भी विद्या विकती होती, तो आलसी राजा महाराजा व धनाढ्य सेठ साहूकारादि सब ले लेते, और दीनों को एक रत्ती भर भी न मिलती, परन्तु विद्या मूल्य खरच करने से नहीं मिलती, किन्तु परिश्रम से ही आती है, इसलिए विद्या अनर्घ्य अर्थात् अमूल्य है। देखिए बिना पैसा खर्च करने से विद्या मुफ्त मिलती है यदि इस पर भी न पड़े तो उससे और कौन कर्महीन होगा।

सङ्गमयति विद्यैव नीचगाऽपि नरं सरित्॥
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम्॥ ५॥
हि० प्र०

जैसे नीचे को चलती हुई नदी अपने में पड़े हुए तृण काष्ठादि को समुद्र में पहुँचा देती है, वैसे ही नीचकुलोत्पन्न पुरुष को भी विद्या राज्याधिकार प्राप्त करा देती है। इतना ही नहीं, किन्तु इससे भी अधिक भाग्यशाली बना देती है तथा:—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्॥
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्म्मं ततः सुखम्। ६।
हि० प्र०

विद्या से पुरुष को विनय (नम्रता) मिलती है, और नम्रता से पुरुष सुपात्र योग्य (लायक) होजाता है, योग्यता से धन, धन से धर्म्म और धर्म से मनुष्य को सुख मिलता है एवं:—

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ॥
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं नास्त्यन्ध एव सः ॥ ११ ॥

हि० मित्र०

सब सन्देहों को मिटाने वाली, परोक्ष (अप्रत्यक्ष) पदार्थों का ज्ञान करानेवाली, सब जगत् की आँखें, ऐसी शास्त्र विद्या जिसके पास नहीं वह अन्धा ही है ऐसे ही—

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा।
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमतर्धनम्।
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाःकस्तैः सह स्पर्धते ॥ १६

भर्तृ० नी०

विद्या ऐसी वस्तु है कि चुराने वाले को तो देखने में ही नहीं आती, और पढ़नेवाले को सर्वदा कल्याणदायिनी होती है। व अन्तःकरणादि को सर्वदा पोषण करती है और प्रतिदिन विद्यार्थियों को देने से बढ़ती जाती है, एवं विद्या का कल्पान्त में भी नाश नहीं होता। ऐसा विद्यारूप गुप्तधन जिनके पास है, उनकी बराबरी कौन कर सकता

है ? इसलिये भर्तृहरिजी कहते हैं हे राजाओ ! तुम विद्वानों के सन्मुख कभी अभिमान मत करो, क्योंकि:—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं ।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या वन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं ।
विद्या राजसु पूजिता न तु धनं विद्याविहीनः पशुः

॥ २० ॥ भर्तृ० नी०

विद्या पुरुष का रूप, गुप्तधन; भोग, यश, व सुखका साधन, विदेश में वन्धु के समान रक्षक, और राजाओं में पुजाने का हेतु है। अतएव जिस मनुष्य में विद्या है, वही मनुष्यहै, और जिसमें विद्या नहीं है, वह मनुष्य केवल पशु हैं, अस्तु सत्शास्त्र के अवलोकन से वा अनुभव से ज्ञात होता है कि:--

धनहीनो न हीनस्तु ह्यधनवन्निर्मलं कुलम् ॥
विद्याविहीनो यः कश्चित्स हीनः सर्ववस्तुषु ।

२२८ । नी० शा०

जिसके पास धन नहीं है वह वास्तव में निर्धन नहीं है, किन्तु जिसने विद्या नहीं पढ़ी, वह निर्धन है, इसी प्रकार-

रूपयौवनसम्पन्ना*विशालकुलसम्भवाः ॥

---

*कोकिलानां स्वरो रूपं स्त्रीणां रूपं पतिव्रतम् । विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥ ९ ॥ चाणक्य० अ० ३

विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः *

॥ २९ ॥ हि० प्र०

चाहे पुरुष कितना ही रूपयौवनसम्पन्न और विशाल-कुलोत्पन्न हो, परन्तु सुगन्धिरहित पलाशपुष्प के सदृश मनुष्य विद्या बिना शोभा को प्राप्त नहीं होता।

इस विषय में नीतिज्ञों का यह भी सिद्धान्त है कि:—

किं कुलेन विशालेन विद्याहीनेन देहिनाम् ।
विद्यावान् पूज्यते लोके नाविद्यः परिपूज्यते । २२६

नी० शा०

बड़े कुल में उत्पन्न होने से अविद्वान् पुरुष जगत् में कभी बड़ा नहीं होसकता, क्योंकि विद्यावान् की ही संसार में पूजा व प्रतिष्ठा होती है तथा:--

धर्म्माधर्म्मौ न जानाति लोकोऽयं विद्यया विना ॥
तस्मात्सदैव धर्मात्मा विद्यादानरतो भवेत् । १ ।

ज्यो० त० रघ०

विद्या बिना मनुष्यों को धर्माऽधर्म का यथार्थ ज्ञान कभी नहीं हो सकता इसलिये धर्मात्माओं को उचित है कि विद्याऽभ्यास करके अन्य पुरुषों को विद्याप्रदानद्वारा विद्या

---

* क्षुधा समा नास्ति शरीरवेदना, चिन्ता समा नास्ति शरीरशोषणा ॥ विद्या समा नास्ति शरीरभूषणा क्षमा समानास्ति शरीररक्षणा ॥ २० ॥ नी० शा०

की उन्नति करते रहैं, महाभारत शान्तिपर्व में भीष्मजी ने कहा है कि:—

नास्ति विद्यासमंचक्षुः। २३५। शां० अ० १७५

विद्या के समान संसार में अन्य कोई भी नेत्र नहीं है, एवं पुरुषपरीक्षा में भी लिखा है कि:—

उत्तमं हि धनं विद्या दीयमानं न हीयते ॥
राजदायादचौराद्यैर्ग्रहीतुं नापि शक्यते ॥ २ ॥
पुरुषं साहसक्लेशाद्यर्जनायासकारिणम् ॥
लक्ष्मीर्विमुञ्चति क्वापि विद्याऽभ्यस्ता न मुञ्चति।३।
किं तस्य मानुषत्वेन बुद्धिर्यस्य न निर्मला ॥
बुद्धियापि किं फलं तस्य येन विद्या न सञ्चितु ॥४॥

पुरु० प्र०

विद्या ऐसा उत्तम धन है कि जिसका देने से नाश नहीं होता और जिसको राजा, चोर व दायाद (हिस्सेदार) आदि नहीं ले सकते ॥ २ ॥ यद्यपि बहुत दुख से उत्पन्न किये हुए धन का नाश होना सम्भव है, तथापि अच्छे प्रकार से पढ़ी हुई विद्या का नाश कभी नहीं होता ॥ ३ ॥ जिस पुरुष में बुद्धि नहीं है, उसको यदि मनुष्य का शरीर मिल भी गया तो भी कुछ लाभ नहीं। और यदि मनुष्य में बुद्धि भी हो; परन्तु उसने विद्या न पढ़ी तो उस विद्या-हीन बुद्धि से उसको कुछ भी फल नही हो सकता। इसी प्रकार शुक्रनीति में भी वर्णन किया है कि—

विद्या धनं श्रेष्ठतरं तन्मूलमितरद्धनम् ।
दानेन वर्धते नित्यं न भाराय न नीयते ॥१७८॥

शु० नी० अ० ३

विद्यारूप धन ही सब धनों में श्रेष्ठ है, क्योंकि देने से वृद्धि को प्राप्त होता है और उठाना भी नहीं पड़ता । इतना ही नहीं; किन्तु धन की रक्षा आदि भी विद्या से ही होती है । देखो विद्या के विना अनेक राजाओं ने राज्य खो दिये और विद्वानों ने अनेक नये राज्य बना लिये । यह सब विद्या का ही प्रताप है, पूर्व मीमांसा में भी लिखा है कि—

विद्याप्रशंसा ॥ १५ ॥

पूर्व० मी० अ० १ पाद २

विद्या से ही मनुष्य सुशोभित व प्रशंसनीय होता है, इसके भाष्य में शवरस्वामी नेः—

शोभतेऽस्य मुखम् ।

विद्या से ही मुख की शोभा मानी है, एवं सांसारिक सुखों से अतिरिक्त पारमार्थिक मोक्षसुख की प्राप्ति भी विद्या से ही होती है, देखो वेदान्तशास्त्रः—

विद्यैव तु निर्धारणात् । ४८ ।

वे० अ० ३ पा० ३

मुक्ति का साधन केवल विद्या ही है । विद्या से अतिरिक्त और कुछ कोई भी मुक्ति का साधन नहीं है । इसी

विषय को व्यास जी ने निम्न-लिखित सूत्र से पुनः पुष्ट किया है कि:—

तच्छ्रुतेः । ४ । अ० ३ पा० ४

वेद भी विद्या से ही मुक्ति-प्राप्ति का विधान करता है। इसी प्रकार:—

कामधेनुगुणा विद्या*ह्यकाले फलदायिनी ।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम् । ५ ।
चा० नी० अ० ४

कामधेनु के सदृश सर्वदा फलप्रद और माता के समान विदेश में सब सुखों को देनेवाली विद्या ही है यह विद्या एक प्रकार का गुप्त धन है।

शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना ।
न गुह्यगोपने शक्तं न च दंशनिवारणे । १९ ।
चा० नी० अ० ८

इस विद्या के बिना कुत्ते की पूँछवत् मनुष्य का जीवन सर्वथा व्यर्थ है जैसे कुत्ता अपनी पूँछ से न तो डांस आदि को उड़ा सकता है और न गुह्य अंगों को ही ढांप सकता है, ऐसे ही विद्या के बिना मनुष्य भी किसी महत्कार्य को नहीं कर सकता, इतना ही नहीं किन्तु:—

---

*महत्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृपदेवतानाम् ।।
दातुं प्रदानोचित भूरिधाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम्।।१३।।
किरा० सर्ग ३

विद्याविहीनः पशुः* । २० । भर्तृ० नी०

विद्या के विना मनुष्य पशु के समान है, अतः हम सर्व मनुष्यों से निवेदन करते हैं कि इस पशुपंक्ति से निकलकर विद्याभ्यास करके अभ्युदय निःश्रेयस को प्राप्त हूजिये।

इस उभयलोक सुधारनेवाली विद्या की प्राप्ति का मुख्य उपाय आचार्य के समीप (पास) श्रमपूर्वक विद्याऽभ्यास करना ही है, जैसा कि सच्छास्त्रों का सिद्धान्त है:—

श्रुतꣳ ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यः आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति छां० ३० प्र० ४ खं० ९.

जाबाल ऋषि ने गौतम से कहा कि हे भगवन्! आप ऐसे महात्माओं से मैंने सुना है कि आचार्य से ही पढ़ी हुई विद्या अत्यन्त शोभा दृढ़ता वा साधुता की प्राप्ति कराने वाली होती है तथा:—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्य्यधिगच्छति ॥
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥२१८॥

मनु० अ० २

जैसे पृथिवी को कुदाली से खोदते २ मनुष्य को जल की प्राप्ति होती है ऐसे ही पूर्ण परिश्रम करने और गुरु के

---

*साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ॥
तृणन्नखादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥ १२ ॥
भर्तृ० नी०

सेवन से विद्या की प्राप्ति भी होती है, ऐसा ही महाभारत में लिखा है कि:—

आचार्य्ययोनिमिह ये प्रविश्य—
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति-
विहाय देहं परमं यान्ति योगम् ॥६॥

म० भा० उद्यो० अ० ४४

जो मनुष्य आचार्यरूपयोनि में प्रवेश करके ब्रह्मचर्य-रूप गर्भ को प्राप्त होते हैं वे ही इस संसार में विद्वान् वा ग्रन्थकार होते हैं और इस शरीर को परित्याग करके मुक्ति को भी वे ही मनुष्य पाते हैं एवम्—

आचार्य्यःशास्त्राधिगमहेतूनाम् ॥ चरक सू० अ० २५

विद्याऽध्ययन के सब साधनों में मुख्य साधन आचार्य्य (मास्टर) ही है, इस विषय में ऋषियों का ऐसा मत है कि—

ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गान्धारानेवोप-सम्पद्येतैवमेवेहाचार्य्यवान् पुरुषो वेद ॥

छां० उ० प्र० ६ खं० १४

जैसे विज्ञ मनुष्य कन्धार का मार्ग पूछता हुआ एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाता-जाता कन्धार को चला जाता है वैसे ही गुरु के समीप पढ़ने से मनुष्य विद्वान हो जाता है, इस विषय में अनेक मूर्खों का यह निश्चय है कि बिना

पढ़ने से भी मन्त्र जप अनुष्ठानादि करने से विद्या आजाती है परन्तु यह वार्ता सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि महाभारत में लिखा है कि भारद्वाज का पुत्र यवक्रीत विद्याऽध्ययन के अर्थ पठन को परित्याग करके तप करने लगा, तब इन्द्र ने कहा कि—

अमार्ग एष विप्रर्षे येन त्वं यातुमिच्छसि ॥
किं विघातेन ते विप्र गच्छाधीहि गुरोर्मुखात् ॥ २२

भा० वनप० अ० १३५

अय यवक्रीत ! पढ़ने के बिना विद्या नहीं आसकती तू अमार्ग से चलकर जाना चाहता है सो यह अयुक्त है, इसलिये गुरु के पास जाकर विद्या पढ़, इस कथन से भी यवक्रीत ने नहीं माना तब इन्द्र यवक्रीत के सन्मुख जाकरः—

वालुकामुष्टिमनिशं भागीरथ्यां व्यसर्जयत् ।
सेतुमभ्यारभच्छक्रो यवक्रीतं निदर्शयन् ॥२३॥
तं ददर्श यवक्रीतो यत्नवन्तं निबन्धने ।
प्र हसन् चाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥२४॥
किमिदं वर्त्तते ब्रह्मन् किं च ते ह चिकीर्षितम् ।
अतीव हि महान् यत्नः क्रियतेऽयं निरर्थकः ॥२५॥

इन्द्रउवाच

बन्धिष्ये सेतुना गङ्गां सुखः पन्था भविष्यति ।

क्लिश्यते हि जनस्तात तरमाणः पुनः पुनः ॥३६॥

गङ्गा में बालू-रेत फेंकने लगा, तब यवक्रीत हँसकर बोला कि यह क्या करता है, इन्द्र ने उत्तर दिया कि लोक-हितार्थ पुल बाँधता हूँ, इस बात को सुनकरः—

नायं शक्यस्त्वया बद्धुं महानोघस्तपोधन !
अशक्याद्विनिवर्त्तस्व शक्यमर्थं समारभ ॥३७॥ इन्द्रउवाच।
यथैव भवता चेदं तपो वेदार्थमुद्यतम् ।
अशक्यं तद्वदस्माभिरयं भारः समाहितः ॥३८॥

म० वनपर्व अ० १३५

यवक्रीत बोला कि बालू का पुल बंधना सर्वथा असम्भव है इसलिये अशक्य (न होसकने वाले) कार्य्य से निवृत्त होकर शक्य कार्य्य का आरम्भ कर, इन्द्र ने उत्तर दिया कि जैसे पदार्थ के लिए अशक्य उपाय तप को तुम करते हो वैसे ही मैंने भी यह कार्य्य आरम्भ कर दिया है। इन श्लोकों का तात्पर्य यह है कि बिना पढ़े मन्त्र, जन्त्र, तन्त्र, टूने-आदि से विद्या का आना सर्वथा असम्भव है। बस पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि आचार्य्य, अध्यापक आदि से ही विद्या की यथार्थ प्राप्ति होती है, अतः आचार्य्य के विषय में यत्किञ्चित् लिखना समुचित है, कि आचार्य्य किसको कहते हैं, तथा आचार्य्य शब्द की निरुक्ति व अर्थ क्या है ?:—

कस्मादाचार्य्यः* आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थाना-चिनोति बुद्धिमिति वा । निरु० पू० अ० १ पा० २ खं० १

इस विषय में निरुक्तकार महर्षि यास्कजी का सिद्धान्त है कि आचार्य्य उसको कहते हैं, जो आप सर्वविद्यार्थ-सम्पन्न होके मनुष्यों को अत्युत्तम आचार सिखाकर सर्वार्थसम्पन्न कराता है, अर्थात् सब विद्याओं को अर्थ-सहित पढ़ाकर धनादि अर्थयुक्त कर देता है और बुद्धि का वृद्धि कराकर मनुष्य को महा बुद्धिमान् करता है। इसलिये शास्त्रों में सर्वोत्तम आचार्य्य कहते हैं तथा:—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य्यं † प्रचक्षते ॥१४॥

मनु० अ० २

जो शिष्य को उपनयन संस्कार कराकर उच्चश्रेणी की वेदादि विद्याओं को पढ़ाता है, वही आचार्य्य कहाता है।

इस विषय का उपदेश वशिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को भी किया है कि—

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ! ॥

---

*आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ॥ स्वयमाचरते यस्मादाचार्यः परिकीर्त्यते ॥१॥ ऐतरेयारण्यक अ० २ के सा० भा०

† आम्नायतत्त्वविज्ञानाच्चराचरसमानतः ॥ यमादियोगसिद्धित्वादाचार्य्य इति कथ्यते ॥१॥

प्रज्ञां ददाति चाचार्य्यस्तस्मात्स* गुरुरुच्यते । ३

वा० रा० अयो० कां० स० १११

पिता पुत्र को उत्पन्न करता है और आचार्य बुद्धि को देता है अर्थात् आचार्य शिष्य को सत्यासत्य पदार्थों का ज्ञान कराता है एतदर्थ आचार्य्य को ही गुरु कहते हैं इस विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि:—

अल्पं वा बहु वा यस्त श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया । १४९ ।

मनु० अ० २

थोड़ी अथवा बहुत जो विद्या पढ़ाने में सहायता करता है उसको गुरु जानना चाहिये इस मनु वाक्य के अनुसार मनुष्य के अनेक ही गुरु हैं; परन्तु **गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसम्प्रत्ययः** इस परिभाषा के अनुसार:—

त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति, माता पिता आचार्य्यश्च । विष्णुस्मृ० अ० ३१

मनुष्य के माता-पिता और आचार्य ये तीन मुख्य गुरु हैं इन तीनों में भी प्रथम मनुष्य की गुरु माता है क्योंकि बालक को प्रथम शिक्षा माता से ही मिलती है, इसी हेतु

---

* यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्य्यः ॥ १३ ॥ स हि विद्यातस्तं जनयति ॥ १५ ॥ तच्छ्रेष्ठं जन्म ॥ १६ ॥ आपस्तंबीय ध० सू० प्र० १ प० खं० १

महाभारत में प्रति पादन किया है कि:—

नास्ति वेदात्परं शास्त्रं नास्ति मातृसमो गुरुः । ६५ ।

महा० अनु० पर्व अ० १०

वेद से परे कोई शास्त्र नहीं और माता से परे कोई गुरु नहीं है जैसे बालक की प्रथम गुरु माता है एवं द्वितीय गुरु पिता है यथा—

निषेकादीनि कर्म्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ।

मनु० अ० २

गर्भाधानादि संस्कार करके अन्नपानादि से पुत्र को पालना करने से पिता को भी गुरु कहते हैं यद्यपि माता पिता भी बालक के गुरु हैं परन्तु वेदादि विद्याओं को पढ़ाने के लिये इन दोनों से बढ़कर आचार्य्य ही मुख्य गुरु है जैसे मनुस्मृति में लिखा है कि:—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।

॥ १४६ ॥ मनु० अ० २

बालक को जन्म देनेवाले पिता और पढ़ानेवाले आचार्य्य इन दोनों में से पढ़ानेवाला ही गुरु मुख्य है एवं शुक्रनीति में भी लिखा है कि:—

हितोपदेष्टा शिष्यस्य सुविद्याध्यापको गुरुः ॥ ८० ॥

शु० नी० अ० १

मुख्य गुरु वह है कि जो विद्याभ्यासादि सदुपदेशों से शिष्य का यह लोक और परलोक सुधारे, वह गुरु धार्मिक, विद्वान् , बुद्धिमान्, परोपकारी, सदाचारी, निरभिमानी, विज्ञानी, शान्त, दान्त, धीर, गम्भीर, चतुर, देशहितैषी, अनुभवी, (तजर्बेकार) देशकालज्ञ, प्रगल्भ, पढ़ाने में रुचि-कर, नीरोग, निर्व्यसनी, विवेकी, सत्यप्रतिज्ञ, पाठनक्रमज्ञ, छात्रस्वभावज्ञ, मृदुभाषी, लोकप्रियादि अनेकगुणसम्पन्न होना चाहिये, क्योंकि विशेषतः यही देखने में आता है कि जैसा गुरु होता है वैसा ही शिष्य भी होता है इसलिये प्रथम अध्यापक ही उत्तमोत्तम होना चाहिये, अध्यापक के अनेक गुण सत्शास्त्रों में लिखे हैं देखो:—

आचार्य्य*परीक्षेत-तद्यथा पर्य्यवदातश्रुतंपरिदृष्टकर्माणं-दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोप-पन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमनुपस्कृतविद्यमनसूयकम-कोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञापनासमर्थ मित्येवंगुणोह्याचार्य्यः स्वक्षेत्रमार्त्तवो मेघ इव शस्य-गुणैः सुशिष्यमासु सम्पादयति । चर० वि० अ० ८

आचार्य्य ऐसा होना चाहिये कि जिसने सब प्रकार से (पर्य्यवदात) शुद्धतापूर्वक विद्याभ्यास किया हो, जो

* वर्तमान समय में आचार्य को प्रिंसीपिल अध्यापक को प्रोफ़ेसर और अन्य उपाध्यायों को मास्टर आदि कहते हैं।

(परिदृष्टकर्माणम) शिल्प, कला-कौशल, चित्र, लेखनादि हस्तक्रियाओं में कुशल हो, (दक्षम्) बुरे-भले कर्मों का जाननेवाला तजर्बेकार हो (दक्षिणम्) बड़ा चतुर-सरल स्वभाव उदारधी (शुचि) मन बुद्धि शरीर इन्द्रिय वस्त्र आदि से शुद्ध रहनेवाला (जितहस्त) हस्तादि अवयवों से वृथा चेष्टा, कुकर्म, वृथा शिष्यताड़नादि, निरर्थक व्यवहारों को न करनेवाला, (उपकर्णवन्तम्) पढ़ाने के पुस्तक यन्त्र आयुध आदि सर्वसाधनसम्पन्न, (सर्वेन्द्रियोपपन्नम्) सर्व इन्द्रियें जिसकी नीरोग वा स्व २ विषय को यथावत् ग्रहण करनेवाली हों, (प्रकृतिज्ञ) शिष्य की प्रकृति लक्षण-शरीर बल विद्याभ्यासार्थयोग्यता रुचि आदि का जाननेवाला हो तथा राज्य के सब व्यवहार व राजा मन्त्री आदि के लक्षण राष्ट्र की हानि लाभ आदि के जानने में कुशल प्रत्येक पदार्थ के स्वभाव को जाननेवाला प्रत्येक पदार्थ के निदान का वेत्ता हो, तथा (प्रतिपतिज्ञ) प्रवृत्तिज्ञं किंवा प्रवृत्तिवान् अर्थात् आलस्य प्रमादादिदोषरहित व प्रगल्भ गौरववान् प्रत्येक पदार्थ की प्राप्ति करने में व प्राप्ति होने के प्रयत्न को जानने में कुशल और कर्त्तव्यता को यथावत् जाननेवाला व प्रत्येक पदवी (डिगरी) को प्राप्त करने-वाला हो तथा जिसने सभी विद्या पढ़ी हों और वे विद्या सब उपस्थित हों (अनसूयकम्) और जो निन्दक चुगल (अकोपनम्) व क्रोधी न हो और (क्लेशक्षमम्) पढ़ाने

आदि नाना प्रकार के क्लेशों को सहन करने वाला हो तथा (शिष्यवत्सलम्) शिष्य से प्रीति करनेवाला (ज्ञापनासमर्थम्) और पढ़ाने व समझाने में बड़ा कुशल हो ज्ञापनासमर्थ ग्रन्थकार ने इसलिये लिखा है कि बहुत से मनुष्य पठित होने पर भी पढ़ा व समझा नहीं सकते, एतदर्थ आचार्य्य पढ़ा हुआ हो और पढ़ाने में व समझाने में अतिनिपुण होना चाहिये जैसे कि उचित समय का मेघ वर्षा करके (कृषि) खेती को उत्पन्न कर हरित प्रफुल्लित कर देता है ऐसे ही जो आचार्य्य विद्यार्थी की बुद्धिरूप भूमि में विद्यारूप मेघ की वृष्टि करके विद्यार्थी को सर्वगुणसम्पन्न करे वह ही पुरुष गुरु आचार्य्य व अध्यापक होने के योग्य है और वास्तव में ऐसा ही अध्यापक होना चाहिये, यद्यपि पूर्वोक्त सर्वगुणसम्पन्न अध्यापक मिलना अतिदुर्लभ है तथापि जहां तक हो सके वहां तक उत्तमोत्तमगुणालंकृत अध्यापक को ही पाठनार्थ नियुक्त करना चाहिये, अह ह ! आज कल लोगों में ऐसी अन्धपरम्परा चल रही है कि लोग कान फूंकने वाले मनुष्यों को ही गुरु मानते हैं जोकि महामूर्ख, निरक्षरभट्टाचार्य्य, बिगड़ेल, धोखेबाज़, जालसाज़, दुष्टात्मा, लोगों का यह लोक और परलोक बिगाड़ने वाले,दुष्ट मुफ्त में रुपया वस्त्र व नारियल लेकर लोगों के गुरु बन जाते हैं ऐसे बनावटी गुरु प्रायः भेषधारी साधु व गृहस्थ भी होते हैं, ये लोग केवल दस

पांच अक्षर * उसके कान में सुनाकर मनुष्य को अपना चेला बना पशुवत् अपने बन्धन में फँसा कर बहुधा ऐसा उपदेश करते हैं कि हे शिष्य ! तू किसी मतवाले की बात मत सुनना और किसी को यह गुरुमन्त्र मत बतलाना और यदि गुरु लोभी होय तो वामनावतार का रूप मानना गुरु क्रोधी होय तो नृसिंह अवतार और गुरु कामी होय तो कृष्ण स्वरूप मानना, बस ऐसी-ऐसी अनेक बातें सिखाकर उसको पूरा अपने आधीन कर जन्मपर्य्यन्त मूर्ख रख कर उसका यह लोक और परलोक बिगाड़ देते हैं, इसलिये प्रत्येक मनुष्य को ऐसे धूर्त्त ठग गुरुओं से सर्वदा बचना चाहिए, जैसा कि चाणक्यनीति में लिखा है:—

त्यजेद्धर्मं दयाहीनं गुरुं त्यजेत् ॥१६॥ चा०नी०अ० ४

जिस में दया न हो उस धर्म का परित्याग करे और जिस गुरु में विद्या न हो ऐसे गुरु को भी तिलाञ्जलि दे; क्योंकि शुक्रनीति में लिखा है कि—

शास्त्राय गुरुसंयोगः ॥१४८॥ शुक्रनी० अ० १

---

*इन रामकृष्ण वासुदेव शिव आदि अक्षरों को तो सभी मनुष्य जानते हैं क्योंकि वर्णमाला के अक्षर प्रायः सब संसार में बोले जाते हैं जिनको आबालवृद्ध जानते हैं पुनः उन्हीं वर्णमाला के दो-चार अक्षरों को सुनाकर गुरु बन बैठना यह बड़े-भारी आश्चर्य की बात है वास्तव में ऐसी लीला करनेवाले परम ठग हैं परन्तु गुरु वही है कि जो सद्विद्या का उपदेश करता है अस्तु।

विद्या पढ़ने के लिये गुरु किया जाता है, न कि कान फुकाने को गुरु किया जाता हो, आजकल की गुरु बनाने की रीति वेद-विरुद्ध और महा हानिकारक है अतः इस विषय में हम इतना कहना चाहते हैं कि आप अपनी सन्तानों को व अपने आपको इस गुरु बनाने रूप अविद्या जाल से बच बचाकर सच्चे पूर्वोक्त लक्षणयुक्त धार्मिक विद्वान् गुरुओं का सेवन करके धर्मोपार्जन कीजिये जैसा उपनिषदों का सिद्धान्त है कि:—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनंदानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मा नमाचार्य्यकुले अवसादयन्त्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ १ ॥ छां० प्र० २ खं० २३

धर्म के तीन स्कन्ध (अवयव) अर्थात् अंश हैं एक (यज्ञ) * अर्थात् पदार्थों की संगतिकरण (क्रियाकौशल विद्वानों का सत्कार अग्निहोत्रादि) दूसरा ब्रह्मचर्य्यव्रत को धारण करके आचार्य्य के समीप निवास करना, तृतीय क्लेशों को सहन करके भी बहुत काल तक आचार्य्य के समीप निवास करके सर्व विद्याओं का पढ़ना आदि,-एवं सांख्यायन सूत्र में लिखा है कि:—

ब्रह्मचारिणं परि ददामि दीर्घायुष्ट्वाय सुप्रजात्वाय

---

*"यज" देवपूजासंगतिकरणदानेषु-

सुवीर्य्याय रायस्पोषाय सर्वेषां वेदानामाधिपत्याय मुश्लोक्याय स्वस्तये ॥ २ ॥ सां० गृह्यसू० अ० १

ब्रह्मचारी को सर्वथा मैं गुरुकुलनिवासार्थ आचार्य्य के सुपुर्द (अर्पण) इस लिये करता हूँ, कि जिससे इसकी दीर्घायु, स्वसन्तान, सुजनता, वीर्य्यवृद्धि, सर्वप्रकार के धन वैभवादि की प्राप्ति, तथा सर्व वेदों का ज्ञान होवे। देखो प्राचीन काल में महर्षियों का गुरुकुल में निवास करके विद्याध्ययन करना मुख्य कर्तव्य था। सृष्टि के आदि से लेकर महाभारत के समय तक एतद्देशनिवासी आर्य्यलोग ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण कर, गुरुकुल में निवास करके विद्याऽध्ययन करते आए हैं, सृष्टि की आदि में तावत्:—

स ब्रह्मचर्य्यमचरत् ॥ ९६ ॥ गोप० पू० प्र० १

ब्रह्माजी ने ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण किया ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण करके:—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ ३२॥

मनु० अ० १

अग्नि वायु आदि ऋषियों से सनातन अर्थात् अपौरुषेय नित्य वेदों का ब्रह्माजी ने अध्ययन किया। एवम्:—

त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य्यमू

षुर्देवा * मनुष्या असुराः ॥ १ ॥ बृ० उ० ७

(प्रजापति) ब्रह्माजी के पास निवास करके देव मनुष्य और असुरों ने विद्याऽभ्यास किया। तथाः—

भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तैत्ति उ० भृगुव० अनु० १

भृगुजी ने अपने पिता वरुण जी के समीप निवास करके विद्याऽभ्यास किया, एवमः–

पिप्पलादोऽङ्गिराः सनत्कुमारश्चाथर्वणं भगवन्तं पप्रच्छ । अथर्वशीर्षोपनिषत्

पिप्पलाद ऋषि का पुत्र अंगिरा और सनत्कुमार दोनों ने अथर्वा ऋषि के समीप निवास करके विद्याऽभ्यास किया, ऐसा हीः–

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः ।

छां० उ० प्र० ७ खं० १

सनत्कुमार ऋषि के पास निवास करके नारद ऋषि ने विद्याध्ययन किया, इसी प्रकारः–

तꣳहैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याय अन्तेवासिने उक्त्वोवाच ॥ ७ ॥ बृ० उ० अ० ८ ब्रा० ३

उद्दालक ऋषि के समीप निवास करके याज्ञवल्क्य ने

---

* सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता वै मनुष्या इति ॥ ६ ॥
ऐत० ब्रा० पं० १ अ० १

विद्याध्ययन किया इस स्थल में याज्ञवल्क्य से मधुक ने मधुक से चूल ने चूल से भागवित्ति ने भागवित्ति से जाबाल ने एवं जाबाल ऋषि ने अन्य ऋषियों को विद्याभ्यास कराया तथा प्रश्नोपनिषत् प्रश्न १ में भी लिखा है कि सुकेशाभारद्वाज, शैव्यसत्काम, सौर्यायणीगार्ग्य, कौशल्यआश्वलायन, भार्गववैदर्भि, कबन्धीकात्यायन, इन ऋषियों ने पिप्पलाद ऋषि के पास निवास करके विद्याध्ययन किया एवम्ः–

उपकौशलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले बृह्मचर्य्यमुवास ॥ १ ॥ छां० प्र० ४ खं० १०

उपकौशल ने जाबाल के समीप गुरुकुलवास किया तथाः–

सोऽहं गुरुवचः कुर्वन् ॥१४॥ बा० रा० बालकां० स०७६

जगद्विदित महात्मा परशुराम जी ने कश्यप ऋषि के समीप अध्ययन किया था इसी प्रकारः–

महर्षेरग्निवेशस्य सकाशमहमच्युतः ।
अस्त्रार्थमगमं पूर्वं धनुर्वेदचिकीर्षया ॥ ४० ॥
ब्रह्मचारी विनीतात्मा जटिलो बहुलाः समाः ॥
अवसं सुचिरं तत्र गुरुशुश्रूषणे रतः ॥ ४१ ॥

भा० आदिप० अ० १३१

द्रोणाचार्य्य ने भी भीष्मपितामह से कहा कि अस्त्रादि विद्याओं की प्राप्ति के लिये मैंने अग्निवेश ऋषि के पास

जाकर अध्ययन किया और ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण करके गुरु की शुश्रूषा करते हुए मैंने बहुत समय तक उनके पास निवास किया, एवम्ः–

विविक्ते पर्वततटे पाराशर्य्यो महातपाः ॥
वेदानध्यापयामास व्यासः शिष्यान्महातपाः॥२६॥
सुमन्तं च महाभागं वैशम्पायनमेव च ॥
जैमिनिं च महाप्राज्ञं पैलं चापि तपस्विनम् ॥२७॥
भा० शां० अ० ३२८

एकान्त में पर्वत के किनारे पर व्यासजी ने सुमन्त, वैशम्पायन; जैमिनि और पैल इन चारों शिष्यों को वेदाध्ययन कराया, अस्तु जिस क्रम से ब्रह्मर्पियों ने विद्याध्ययन किया ऐसे ही राजर्षियों ने भी विद्याध्ययन किया था, देखोः—

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः ॥ ४ ॥ छां० उ० प्र० ३ खं० १०

ब्रह्माजी से प्रजापति, प्रजापति से मनु और मनु से प्रजा ने विद्याभ्यास किया, एवं राजा जनक ने पञ्चशिख नामक महात्मा से विद्याभ्यास किया था देखो राजा जनक कहते हैं किः-

भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः ॥ २४ ॥
महा० शां० प० अ० १३२

मैं पञ्चशिख सन्यासी का शिष्य हूं। इसी प्रकार वृहदारण्यक में लिखा है कि:-

जनको ह वैदेहःकूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्ते याज्ञवल्क्यानुमाशाधीति ॥ १ ॥ वृ० अ० ६ ब्रा० २

राजा जनक* विदेह ने आसन से उठ कर याज्ञवल्क्य ऋषि को नमस्ते अर्थात् प्रणाम करके कहा कि हे भगवन्! मेरे को पढ़ाओ एवम्:-

स तेहं पितुराचार्य्यस्तव चैव परन्तपः ॥ ४ ॥

बा० रा० अयो० कां० स० १११

वशिष्ठ ऋषि ने रामचन्द्रजी से कहा कि मैं तेरा और तेरे पिता का भी गुरु हूं तथा:-

प्रतिजग्राह ते विद्ये महर्षेभावितात्मनः ॥
विद्यासु मुदितो रामः शुशुभे भीमविक्रमः ॥ २२ ॥

बा० रा० बा० कां० स० २२

बला और अतिबला आदि अनेक विद्या महाराज रामचन्द्रजी ने विश्वामित्र ऋषि से पढ़ी, एवं कृष्णचन्द्र † ने घोरांगिस से विद्याध्ययन किया था, देखो छान्दोग्य उ० प्र० ३ खं० १७ ऐसे ही:—

---

* राजा जनक ने अष्टावक्रादि अन्य ऋषियों से भी विद्याध्ययन किया था ॥

† वशिष्ट, परशुराम, जनक, मार्कण्डेय, उद्दालक, शुक्र

बृहस्पतिपुरोगांस्तु देवर्षीनसकृत्प्रभुः ।
तोषयित्वोपचारेण राजनीतिमधीतवान् ॥ ९ ॥
उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद गुरुद्विजः ।
यच्च धर्मं स वैयाक्यं प्राप्तवान् कुरुसत्तमः ॥१०॥
भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानङ्गोपबृंहितान् ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्वशिष्टाच्चरितव्रतः ॥ ११ ॥
मार्कण्डेयमुखात् कृत्स्नं यतिधर्ममवाप्तवान् ।
रामादस्त्राणि शुक्रच्च प्राप्तवान पुरुषर्षभ ॥१२

भा० शां० प० अ० ३६

व्यासजी युधिष्ठिर ने कहा, कि भीष्मजी ने बृहस्पति † आदि ऋषियों कोप्रसन्न करके, उनसे राजनीति पढ़ी थी—जितनी विद्या बृहस्पति और शुक्राचार्य्य जानते थे उतनी सब विद्या अर्थ सहित भीष्मजी ने इन्हीं से पढ़ी

---

* भागवत दश० पूर्वार्ध अ० ४५ श्लो० ३१ में स्पष्ट है कि संदीपन ब्राह्मण से अवन्तिका (उज्जैन) नगरी में निवास करके श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने विद्या पढ़ी थी। इसको उज्जैन के आबाल वृद्ध जानते हैं। [यह पृष्ठ ४८ का दूसरा फुटनोट है]

† बृहस्पति नाम के भिन्न-भिन्न काल में अनेक ऋषि हुए हैं, इस लिये त्रेता के वशिष्ट, परशुराम ही द्वापर में थे ऐसा भ्रम मत करो। [इसका प्रथम अंश भूल से पृष्ठ ४८ के दूसरे फुटनोट के स्थान पर चला गया है, पाठक सुधार लें।]

थी, तथा भार्गव च्यवन और वशिष्ट ऋषि से सांग वेदों का अध्ययन किया था, एवं मार्कण्डेयजी से वेदान्त और परशुराम व इन्द्र से युद्ध विद्या सीखी थी तथाः—

पाञ्चाल्यो राजपुत्रश्च यज्ञसेनो महाबलः ।
इष्वस्त्रहेतोर्न्यवसत्तस्मिन्नेव गुरौ प्रभुः । ४२ ।

भा० आदिप० अ० १३१

पञ्जाब देश के राजा द्रुपद ने भी अग्निवेश ऋषि के पास निवास करके शस्त्रास्त्र विद्या पढ़ी थी एवम्ः—

विश्रान्तेऽथ गुरौ तस्मिन्पौत्रानादाय कौरवान् ॥
शिष्यत्वेन ददौ भीष्मो वसूनि विविधानि च । २ ।
गृहं च सुपरिच्छन्नं धनधान्यसमाकुलम् ।
भारद्वाजाय सुप्रीतः प्रत्यपादयत प्रभुः ॥ ३ ॥
राजपुत्रास्तथा चान्ये समेत्य भरतर्षभ ॥
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमस्त्रार्थे द्विजसत्तमः ॥ १० ॥
वृष्णयश्चान्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवाः ।
सूत्रपुत्रश्च राधेयो गुरुं द्रोणमियात्तदा ॥ ११ ॥

मा० आदिप० अ० १२२

जब गुरु द्रोणाचार्य्यजी इतस्ततः भ्रमण करते हुए कौरवों की राजधानी में उपस्थित हुए तब कुछ दिन की विश्रान्ति के पश्चात् भीष्मजी ने परीक्षा करके कौरव-

पांडवों को विद्याध्ययनार्थ द्रोणाचार्य्य के सुपुर्द किये और द्रोणाचार्य्य व कौरव-पांडवादिकों के निवासार्थ सुन्दर गृह और धन धान्य आदि से उनके गुरकुल में निवास करने के लिए सब प्रकार का प्रबन्ध भीष्मपितामह ने कर दिया, द्रोणाचार्य्य के समीप कौरव पाण्डवों के अतिरिक्त यादव, वृष्णि अन्धक और कर्णादि बहुत से राजपुत्रों ने विद्याध्ययनार्थ गुरकुलवास किया, जैसे इन पूर्वोक्त राजर्षि ब्रह्मर्षियों के कुछ नाम हमने गुरुकुलवास करके विद्याध्ययन करने के विषयमें गिनाए हैं, ऐसे ही पूर्वकाल में सर्व आर्य्य ऋषियों ने एक दूसरे से विद्या पढ़ी थीः—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्संप्रादुः ॥

निरु० पू० अ० १ पा० ६ खं ५

जिन्होंने सर्व पदार्थों के गुण धर्म का सम्यक् निश्चय किया ऐसे महाविज्ञानवान् ऋषियों ने अपने से छोटे धार्मिक ऋषियों को वेदविद्या पढ़ाई, एवं अन्यान्य हमारे सब पूर्वजों ने एक दूसरे से विद्या पढ़ी और पढ़ाई थी, ऐसा ही अब भी करना चाहिए यदि कोई कहे कि पूर्व काल में विद्यार्थीजन निवासालय (बोर्डिंगहौस) पाठशाला (स्कूलें) नहीं होती थीं तो यह उसका कथन सर्वथा अलीक है क्योंकि पूर्वकाल में सब ब्रह्मर्षि और राजर्षि

गुरुकुलवास करते थे यह संस्कृत के सब ग्रन्थों से सिद्ध है जैसा मनुस्मृति में लिखा है कि:—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः । २७ ।

मनु० अ० ८

जिस बालक के माता पिता का बाल्यावस्था में ही देहान्त होजाय तो राजा को उचित है कि वह बालक जब तक विद्याध्ययन कर के अपने घर को न आवे तब तक उसकी स्थावर जंगमात्मक सम्पत्ति की रक्षा राजा करे, इस प्रमाण से भी यह वार्त्ता सिद्ध होती है कि पूर्व काल में राज्यादिप्रबन्ध से सब बालकों को गुरुकुलवास करने की आज्ञा मिलती थी अस्तु, पूर्वकाल में पढ़ानेवाले ऋषि महर्षि नगर और ग्रामों के बाहर ही एकान्त शुद्ध देश में वेश्वविद्यालय बनाकर रहते थे, और उनके समीप उनके शिष्य पढ़नेवाले भी रहते थे इसीलिये मनुजी ने कहा कि:—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्य्यो नाभ्युदवात् क्वचित् ॥

॥ २१९ ॥ मनु० अ० २

ब्रह्मचारी चाहे सर्वथा मस्तक मुण्डन कराय रक्खे **अथवा सर्वथा** जटा [पञ्चकेशी] रक्खे रहे, वा शिखा-

मात्र ही रक्खे परन्तु सूर्य्य के उदय होने के पूर्व और अस्त होने के पश्चात् रात्रि को ग्राम में न रहे, किन्तु उसी विद्यार्थीजननिवासालय (बोर्डिङ्ग हौस) में रहे, इसीलिये भीष्मपितामह ने कौरव पाण्डवादिकों को द्रोणाचार्य्य के सहित निवास के लिये विद्यार्थीजननिवासालय (बोर्डिङ्गहौस) दिया था, और जैसे इस समय विश्वविद्यालय में कालिज व राजकुमार कालिज में दूर २ के राजकुमार और इतर विद्यार्थीजन रहते हैं वैसे ही पूर्वकाल में भी विद्यार्थी इसी प्रकार रहते थे, जैसे कि द्रोणाचार्य्य के पास अन्य राजपुत्र और पिप्पलाद ऋषि के पास राजा के और ब्राह्मणों के पुत्र पढ़ने को आये थे, यदि कोई कहे कि पूर्वकाल में सर्व विद्यार्थी लोग भीख माँगकर खाते थे और पढ़ते थे आजकल के समान बोर्डिङ्गहौस आदि का प्रबन्ध न था तो यह कथन सर्वथा मिथ्या है क्योंकि देखो श्री कृष्णचन्द्र महाराज रामचन्द्र महाराज, मनु, परशुराम, राजा जनक, याज्ञवल्क्य, सुकेशादि ६ ऋषि और कौरव पाण्डव आदि इन सबों ने गुरुकुलवास करके विद्याध्ययन किया, यह अनेक ग्रन्थों में लिखा है, परन्तु इन्होंने भीख माँगी यह कहीं नहीं लिखा, यदि कहा जाय कि स्मृतियों में विद्यार्थी को भिक्षा माँगकर खाने का उपदेश किया है। हाँ निस्संदेह स्मृतियों ने यह उपदेश किया है, परन्तु स्मृतिकारों का मुख्य आशय यह होगा कि जिनके पास धन न हो वे लोग

भीख माँगकर भी विद्वान् हों मूर्ख न रहें, जैसे आजकल भी दीन लोग जहाँ-तहाँ संस्कृतादि विद्या भीख माँग के खाकर भी पढ़ते हैं, वैसे पूर्वकाल में भी था, परन्तु जैसे आजकल दीन लोग अँग्रेजी भाषा नहीं पढ़ सकते, इसका कारण यही है कि उनके पास फीस देने को धन नहीं इसलिये अनेक दीन विद्यार्थी अंग्रेजी नहीं पढ़ सकते परन्तु हमारे प्राचीन ऋषि महर्षि इतने दीर्घदर्शी थे कि उन्होंने जिन क्षत्रियादि को प्रतिग्रह लेने का निषेध किया है, उनका भी विद्यार्थी अवस्था में यदि कोई प्रबन्ध न हो तो भिक्षा माँगकर खाके पढ़ें, परन्तु कोई भी विद्याहीन देश में न रहे, बस जो स्मृति आदि ग्रन्थों में विद्यार्थी को भिक्षा माँगने का विधान है, वह दीनावस्था के लिये किया होगा, यदि भिक्षा माँगकर विद्या पढ़ने में पाप होता तो भीष्मपितामह ऐसे धार्मिक पुरुष कौरव पाण्डवों को बिना भिक्षा माँगकर पढ़ाने का प्रबन्ध क्यों करते ? तथा शतपथ ब्राह्मणकार भिक्षा माँगने को ऐसा बुरा क्यों बतलाते देखो:—

अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्यैव अह्रीभूत्वा भिक्षते य एवास्य मृत्यौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति ॥५॥

शा० कां० ११ प्र० २ अ० ३

जो मनुष्य अपने आप (आत्मा) को दरिद्री बनाकर निर्लज्ज हो के भीख माँगता है उस ब्रह्मचारी का मृत्यु में पाद जानना चाहिये। अर्थात् वह ब्रह्मचारी जीता हुआ

मुर्दे के समान है। वास्तव में यह शतपथ का वचन यथार्थ है; क्योंकि जो-जो भीख माँगकर खाके विद्या पढ़ते हैं वे बहुधा आजन्म भिखारी हो रहते हैं, और अच्छे प्रकार से विद्याभ्यास भी नहीं कर सकते; क्योंकि दिन-भर उनका भीख मांगने-खाने आदि में ही व्यतीत होजाता है, इसलिये भीख मांगने की रीति अत्यन्त बुरी है, हाँ कोई उपाय न हो सके तो फिर लाचारी है, बस पूर्वोक्त प्रमाणों से यह बात सिद्ध हुई कि दीनदशा विना विद्यार्थी को भिक्षा माँगकर खाने को आवश्यकता नहीं है किन्तु विद्यार्थी को बोर्डिङ्गहौस में रहके पठन करने ही की आवश्यकता है इसलिये उन विद्यार्थियों के पठनार्थ पाठशाला और निवासार्थ बोर्डिङ्गहौस बनाना चाहिए, उस बोर्डिङ्गहौस की प्रत्येक पंक्ति (लाइन) की कोठरियों में समानवय (उमर) के विद्यार्थी रखने चाहियें, उन सबको खान-पान, भोजन वस्त्रादि अतिशुद्ध यथायोग्य मिलने चाहियें, तथा विद्यार्थियों के निवासस्थान व पाठशाला नगर से नातिदूर, नाति समीप स्वच्छ एकान्त शुद्ध मनोहर देश में बनावें; क्योंकि नगर व ग्राम में विद्यालय होय तो कोलाहल से तथा नगर के शुद्धोदक वायु न होने के कारण से विद्यार्थियों को विद्याध्ययन में बाधा होनी सम्भव है इसी हेतु से मनुस्मृति में लिखा है कि—

नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च ।

धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥१०७॥
मनु० अ० ४

ग्राम नगर व दुर्गन्धियुक्ति स्थान में कभी विद्यार्थी न पढ़ा करें, एवं शुक्लयजुः प्रातिशाख्य में लिखा है कि:—

शुचौ*॥२१॥ शु० प्रा० अ० १

विद्यार्थियों को स्वच्छ पवित्र स्थान में पढ़ना चाहिये, जो पूर्वोक्त विशेषणयुक्त स्थान बालक-बालिकाओं को विद्याध्ययनार्थ नियत हो, उसमें बालकों को अवश्य भेज देवें, परन्तु यह स्मरण रहे कि बालकों के माता-पिता वा राज्यव्यवस्था से बालकों को विद्यारम्भ कराने का समय प्राणीधर्म शास्त्रानुकूल बालक की शारीरिक व मानसिक योग्यतानुसार होना चाहिए। जैसे—

नानुपसन्नायानिदं विदे॰ नि० पू० अ० २ पाद० १ खं० ६

निरुक्त में लिखा है कि जब तक लड़का अपने आप पाठशाला में जाने योग्य न हो, और जब तक पढ़ने में प्रीति न हो तथा जब तक लड़के को (किमिदं) यह क्या है इतना ज्ञान न हो, तब तक लड़के को पढ़ाना न चाहिये। इस विषय को महर्षि धन्वन्तरिजी ने सुश्रुत में स्पष्टतया लिखा है देखो:—

वयःशीलशौर्य्यशौचाचार विनयशक्ति†बलमेधा

---

*अधीयी शुचौ देशे ब्रह्मचारी समाहितः ॥ औशनसस्मृ० अ० ३

† शक्तिमन्तश्चैनं ज्ञात्वा यथावर्णं विद्यांग्राहयेत् सुश्रु० शा० अ० १०

धृतिस्मृतिमतिप्रतिपत्तियुक्तम् ॥ सुश्रु० सू० अ० २

धन्वन्तरिजी सुश्रुताचार्य्य को कहते हैं कि बालक वयसम्पन्न अर्थात् अधिक अवस्था का हो तब तक उसको पढ़ावे। अधिक अवस्था के लड़के को पढ़ाने की आवश्यकता इसलिये है कि छोटी अवस्था में बालक के शरीर के अवयव सूक्ष्म होने से शरीर में रहनेवाला ज्ञान भी सूक्ष्म होता है। जैसे उत्पन्न होते ही वृक्ष को कुल्हाड़ी से बराबर काटता जाय तो वह वृक्ष न कभी बढ़ सकेगा और न उसके पुष्प फलादि ही लग सकेंगे ऐसे ही बाल्यावस्था में बालक के ज्ञानरूप वृक्ष को पढ़ाने रूप कुल्हाड़ी से काट डालने से सहित शरीर के ज्ञानरूप वृक्ष की हानि होजाने से मनुष्य-शरीर के अर्थ धर्म काम और मोक्ष रूप फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये माता-पिता को उचित है कि जब तक बालकों के शरीरावयव दृढ़ (मज़बूत) न हों, तब तक उनको विद्या पढ़ाने में प्रवृत्त कभी न करें तथा शीलवान्, बलिष्ठशरीर वस्त्रादि से शुद्ध सदाचारी नम्र ज्ञातृत्व शक्तियुक्त बलवान् बुद्धिमान् (धृतिमान्) धारणाशक्तियुक्त (स्मृतिमान) स्मरणशील और पढ़ने की इच्छा रखनेवाला तथा (प्रतिपत्तियुक्त) प्रवृत्तिमान् अर्थात् पढ़ने के परिश्रम को उठा सके ऐसे बालकों को गुरुकुल में निवास कराकर विद्याभ्यास कराना चाहिये इस से इतर को नहीं। ऐसा ही चरक विमानस्थान अ० ८ और वाग्भट्टादि ग्रन्थों

में भी लिखा है जो हमारे*पूर्वजों ने बाल्यावस्था में तथा निर्बल बालक को पढ़ाने का निषेध किया है वह यथार्थ में ठीक है; क्योंकि जब तक बालक का शरीर दृढ़ न हो तब तक बालक को पढ़ाने में अनेक हानियाँ होती हैं जैसे अति छोटे बालक को पढ़ाने से, बालक का शरीर छोटा रहता है, बड़े होजाने पर ज्ञान उसका कम (न्यून) होजाता है, शरीर दुर्बल व रोगी रहता है, आयु घट जाती है, और शीघ्र ही मर जाता हे। बस छोटे-छोटे बालकों को पढ़ाने से ऐसी-ऐसी अनेक हानियाँ होती हैं। इसलिये माता-पिता को यह वार्त्ता अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिये, कि सर्वथा छोटे बालकों को बलात्कार से कभी न पढ़ाया करें, क़िन्तु जैसा बालकों को पढ़ाने का क्रम हमने इस ब्रह्मचर्य्यप्रकरण तथा गृहस्थाश्रम में लिखा है उसी क्रम से बालकों को पढ़ाना श्रेयस्कर है, अस्तु, अब विचारणीय वार्त्ता यह है कि अ-ब्राह्मणों को ही पढ़ने का अधिकार है और कितनेक मनुष्य कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों को पठन-पाठन का अधिकार है, परन्तु स्त्री शूद्रों को नहीं, इस विषय में विचार करने से ज्ञात होता है कि स्त्री शूद्र को भी विद्याध्ययन का अधिकार है

---

*वर्तमानकाल के फ़्लास्फर हर्बर्ट स्पेंसर ने अपने (ऐज्यूकेशन) में बहुत युक्ति से यही सिद्ध किया है, छोटे बालक को पढाने से अनेक हानियें होती हैं।

जैसे आपस्तम्ब ऋषि ने कहा है कि—

आर्थवणस्य* वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति ॥ १२ ॥

आपस्तं० धर्मसू० प्र० प० ११ खं० २९

स्त्री शूद्रों को अथर्व वेद पढ़ाना चाहिये, देखिये स्त्री शूद्रों को वेदाधिकार आपस्तम्ब धर्मसूत्र से सिद्ध है और वेदों में तो वेदाधिकार मनुष्यमात्र के लिये कहा ही है :—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ॥
ब्रह्मराजन्याभ्याᳬशूद्राय चार्य्याय स्वाय चार-णाय ॥ २ ॥ यजु० अ० ५६

परमात्मा का उपदेश है कि हे विद्वानो ! जैसे मैं ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र (अरण) अतिशूद्र अर्थात् (अर आराकमर्णि) अन्त्यज आदि सब मनुष्य मात्र के लिये वेदों का उपदेश करता हूँ वैसे तुम भी करो, बस इस मंत्र से सिद्ध है कि मनुष्यमात्र को वेदादिविद्या पढ़ने का अधिकार है एवम्:—

ब्रह्म वै स्तोमानां त्रिवृत् क्षत्रं पञ्चदशो विशः सप्तदशः ॥ शौद्रो वर्ण एकविंशः ॥ ४ ॥ ऐत० पं० ८ अ० १

---

* यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते ॥ ४ ॥ ऋ० अ० १ अ० २ व० २७ यत्र यस्मिन् कर्मणि नारी पत्नी अपच्यवं शालाया निर्गमनं उपच्यवं च शालाप्राप्तिं शिक्षते अभ्यासं करोति, शिक्ष विद्योपादाने, सायणभाष्ये,

ऐतरेय ब्राह्मण के अग्निष्टोमप्रकरण में लिखा है कि ब्राह्मण नव अग्निष्टोम करे क्षत्रिय १५ वैश्य १७ और शूद्र २१ इस से यह वार्ता सिद्ध होती है कि शूद्र को भी यज्ञद्वारा वेदाध्ययन का अधिकार है क्योंकि निरुक्त के पूर्वषटक अध्या० १ खं० २ में स्तोम नाम वेदमंत्रों का है, बस इस से सिद्ध हुवा कि ब्राह्मण नव मंत्र से क्षत्रिय १५ वैश्य १७ से शूद्र २१ से यजन करै इस विषय में छान्दोग्योपनिषत् के प्रपाठक ४ खं० २ में "हीरेत्वाशूद्र" इत्यादि वाक्य देखो, जानश्रुति शूद्र को रयिक महर्षि ने विद्या पढ़ाई है तथा इसी छान्दोग्य प्र० ४ खं० ४ में अज्ञातकुल जाबाल को गौतम ऋषि ने उपनयन * संस्कार करके विद्या पढ़ाई इसी प्रकार ऋग्वेद मण्डल १० अनुवाक

---

* (उप) समीप (नयन) प्राप्त करना (आचार्य) विद्या पढ़ाने वाले के पास विद्यार्थी को प्राप्त करना यही मुख्यका अर्थ है यथागृह्योक्तकर्मणा येन समीपे नीयते गुरोः बालो वेदाय तदयोगात् बालस्योपनयं विदुः १—परंतु इस मुख्यार्थ को तो बहुधा लोग भूल गये हैं केवल मुख्यार्थ के सहचारी सूत्र जनेऊ डाल लेने को ही उपनयन संस्कार मान बैठे हैं यदपि जैसे ब्रह्मचर्य्य इस शब्द में ब्रह्मवेदः तदध्ययनार्थं ब्रह्म, ब्रह्म नाम वेद का है परन्तु वेदप्राप्ति का (सहचारी) संबंधी जो जितेंद्रियादि व्रत उसको भी ब्रह्म कहते हैं ऐसे ही उपनयन नाम विद्याध्ययनार्थ गुरु के समीप प्राप्त होने का है परन्तु तत्संबंधी (चिन्ह) यथोपवीत को भी उपनयन कहते हैं परन्तु उपनयन का मुख्यार्थ तो

३ सुक्त ३० से ३४ तक इन चार सूक्तों का ऋषि कवष ऐलूष हुआ है इन सूक्तों को कवष ऐलूष ने वहुत से ऋषियों को पढ़ाया है यह कवष ऐलूष शूद्र था इसका प्रमाण ऐतरेय ब्राह्मण की पञ्चिका २ अ० ३ में है, एवं कौशीतकीय ब्राह्मण १२–३ में भी लिखा है और पूर्वोक्त सूक्त का कवष ऐलूष ऋषि (प्रचारक) था यह ऋग्वेद को अनुक्रमणिका में तथा इन्हीं सूक्त के सायणभाष्य में लिखा है ऋग्वेद मं० १ अनु० १७ सू० ११६ से १२६ तक इन सूक्तों का ऋषि, प्रचारक अर्थात् इन सूक्तों का फैलानेवाला कक्षीवान् हुआ है यह कक्षीवान् अंगदेश के राजा की दासी का पुत्र था यह ऋग्वेद की अनुक्रमणिका में और इन सूक्तों के सायणभाष्य में तथा महाभारत में भी लिखा है, अहो बड़े आश्चर्य्य की बात है कि जिन शूद्रों के पुरुषा कवष ऐलषादि ऋषियों ने * वेदों को संसार में फैलाया और जिन कवष ऐलषादि शूद्रों की कृपा से सन्सार में वेदों का प्रचार हुआ उन्हीं कवष ऐलषादि के सन्तान शूद्रों † को वर्त्तमान के

गुरु के समीप प्राप्त होकर विद्याभ्यास करना ही है जैसे आपस्तम्बीय धर्मसूत्र में लिखा है कि उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कारः ॥ आपस्तम्बधर्म सू० प्र० १ प० १ खं २ सू० ११ वेद ने उपनयन संस्कार विद्या पढ़ने वाले के लिये कहा है,

*ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ॥ नि० पू० अ० २ पा० ३ खं०२ ऋषि मन्त्रों के द्रष्टाओं को कहते हैं।

† शूद्रों के शूद्र ही होते हैं यह हमारा मत नहीं है।

कितनेक हठी मनुष्य कहते हैं कि तुम को वेद के सुनने का अधिकार ही नहीं है, हाँ इतने अन्याय से ही इन हठो दुराग्रही मनुष्यों को सन्तोष नहीं हुआ किन्तुः—

श्रवणे त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूर्णं उच्चारणे जिह्वा-छेदो धारणे हृदयविदारणमित्यादि ॥ वेदान्तसू०*अ० १ पा० ३ सू० ३८

शूद्र वेद को सुन लेवे तो शीशा व लाख गलाकर शूद्र के कान भर दो और मन्त्र बोलने से जीभ काटो याद करने से हृदय विदीर्ण करदो, वस अब सुज्ञ लोग इस विषय में स्वयं विचारेंगे कि शूद्रों पर लोगों ने कितना अन्याय किया, हम नहीं कहसकते कि वे लोग इस विषय में इतना दुराग्रह क्यों करते हैं, देखो शतपथ में सुस्पष्ट लिखा है कि:—

एहीति ब्राह्मणस्यागहद्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्य-बन्धोश्चा धावेति शूद्रस्य···श० कां० १पृ० १अ० १ब्रा० ४ कं० ११

चारों वर्ण वेदमन्त्रों से यज्ञ की हविः को शुद्ध करें, एवं आपस्तम्बीय श्रौत्रसूत्र में लिखा है कि:—

हविष्कृदेहीति †ब्राह्मणस्य हविष्कृदागहीति राजन्य-

---

*देखो शंकररामानुज और मध्व के भाष्य को

† निर्वापादौ मन्त्ररूपाया वाचो हविः करणसाधनत्वाद्वागेव हविः कृत् ॥ ११ ॥ आचार्यहरिस्वामिकृत टीका–

स्य हविष्कृदाद्रवेति वैश्यस्य हविष्कृदाधावेति शूद्रस्य ९ प्रथमं वाव सर्वेषाम् ॥ आपस्तं० श्रौ० सू० प्र० १ कं० १९

यज्ञ के विधान में पूर्वोक्त पृथक् २ मन्त्रों से चारों वर्ण हविः शुद्ध करें अथवा प्रथम मन्त्र को पढ़के ही चारों वर्ण के मनुष्य हविः को शुद्ध करें, देखो इस श्रौतसूत्र से भी शूद्रको वेदाधिकार पाया जाता है इसी प्रकार:—

आचान्तोदकाय गौरितिनापितस्त्रीर्ब्रूयात् ॥ १८ ॥ मुञ्च गा वरुण पाशात् ॥ १९ ॥गोभि० ली०सू० प्र०४ कं० १० टी० तमेव नापितं मुञ्च गामिति मन्त्रं ब्रूयात्।

पूर्वोक्त मन्त्र नाई को सुनावै इससे नापित को वेदाऽधिकार सिद्ध है, एवं आपस्तम्बीय श्रौतसूत्र में भी देखो.—

तयैवावृता निरादस्थपतिं याजयेत् । १२ ।
आप० श्रौ० सू० प्र० ९ कं० १४

जो पूर्व यज्ञ प्रतिपादन किया है वह सब निषाद से करावे पूर्व सूत्र में सावित्री पुरो अहुवाक्या इत्यादि सूत्र में गायत्री मन्त्र से आहुति देने का विधान है, बस इससे गायत्री मन्त्र का भो शूद्र को अधिकार है इस विषय में शांखायन श्रौत सूत्रों में ऐसा लिखा है कि:—

गायत्रछन्दसो ब्राह्मणाः ९ त्रिष्टुपछन्दसः क्षत्रियाः १२ जगतीछन्दसोविशः १५ अनुष्टुपछन्दसः मूद्राः ॥१९॥ अ० १४

गायत्री मन्त्र से ब्राह्मण त्रिष्टुप्छन्द से क्षत्रिय, जगतीछन्द से वैश्य और अनुष्टुप्छन्द से शूद्र यजन करे, बस इससे भी शूद्र को वेदाधिकार स्पष्ट है, इसी प्रकार जैमिनि महर्षि ने पूर्वमीमांसा में मनुष्यमात्र को शास्त्र व यज्ञाधिकार कहा है यथा—

फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥४॥

पू० मी० अ० ६ पा० १

विद्याध्ययन व यज्ञ आदि कर्म्म मनुष्यमात्र को फल देते हैं अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अन्त्यजादि कोई क्यों न हो जो विद्या पढ़ेगा उसको विद्या अवश्य आवेगी जो यज्ञादि शुभ कर्म करेगा उसको फल भी अवश्य ही होगा इसलिए विद्याध्ययनादि शुभकर्म मनुष्यमात्र को करना चाहिये यदि कोई कहे कि अनेक मनुष्य पढ़ना नहीं चाहते फिर शास्त्रकारों ने सब मनुष्यों को अधिकार क्यों दिया तो इसका उत्तर यही है कि जो प्रमाद व आलस्य आदि से न पढ़े तो उसको मूर्खता है परन्तु श्रुति तो सब को शुभकर्म करने की आज्ञा देती है जैसे:—

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कात्स्न्येंन गम्यते । ५ ।

पू० मी० अ० ६ पा० १

वेदाध्ययन यज्ञादि कर्म करने में जो समर्थ हो उसको श्रुति संयोग से उक्त कर्म करने का सर्वथा अधिकार है हम पूर्व लिख आये हैं कि श्रौत यज्ञ का शूद्र को भी अधिकार

है इस विषय को महर्षि जैमिनि जी ने स्पष्ट लिख दिया है कि:—

स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात् ॥ ५१ ॥

पूर्वमी० अ० ६ पा० १

(शब्दसामर्थ्यात्) अर्थात् वेद की आज्ञा से निषाद् रौद्रयाग को करे यज्ञ के सब कर्म वेद पढ़े हुओं को ही करने की आज्ञा है जैसे—

ज्ञाते च वाचनं नह्यविद्वान् विहितोऽस्ति ॥१८॥

पूर्वमी० अ० ३ पा० ८

यदि कोई कहे कि जिसने वेद नहीं पढ़ा हो उसके बदले ऋत्विगादि मन्त्र पढ़ लेंगे जैसे आज-कल विवाह में वर-वधू बालक होने से विवाह करानेवाला ब्राह्मण ही वर-कन्या के वेदोक्त प्रतिज्ञा* वाक्यों को बोल लेता है इसका उत्तर इस सूत्र में जैमिनि महर्षि ने ही दे दिया है कि वेद का पढ़ा हुआ ही यज्ञकर्म का अधिकारी

---

*वर-कन्या के वेदोक्त प्रतिज्ञावाक्य विवाह कराने वाला ब्राह्मण बोलता है यह बड़ा-भारी अन्याय है क्योंकि उक्त प्रतिज्ञा यदि दम्पत्ति में से कोई भी न पाले तो उस पाप का भागी उक्त ब्राह्मण इस लिये है कि वे वर वधू बालक होने से उन वाक्यों का उच्चारण नहीं कर सकते और न उन वाक्यों के तात्पर्य को नहीं जानते हैं अतः जो प्रतिज्ञा की जाती है उसका पालन वे न करें तो वे पाप के भागी नहीं हैं पाप का भागी मन्त्रों को बोलकर उनकी ओर से प्रतिज्ञा करनेवाला वही ब्राह्मण है ।

है अविद्वान् नहीं, अस्तु निषाद् को यज्ञाधिकार…यजुर्वेद के २६ अध्याय मं० १९ के महीधरभाष्य में स्पष्ट लिखा है, तथा निरुक्ति पू० अ० ३ पा० २ खं० २ में भी स्पष्ट है, और लोक व शास्त्रों में निषाद अति शूद्र का नाम प्रसिद्ध है, बस इन पूर्वोक्त वाक्यों से निषाद को वेदाधिकार सिद्ध है, एवं महाभारत में लिखा है कि—

यथामति यथापाठं तथा विद्या फलिष्यति सर्व*
स्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु। ।४८ ॥

महा० शा० अ० ३२८

जैसी मनुष्य की बुद्धि और जैसा पढ़ने में परिश्रम करता है वैसी ही मनुष्यको विद्या फलीभूत होतीहै एतदर्थः—

श्रावयेच्चतुरो † वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।

---

*इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सारस्वती विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥ १५ ॥ महा० शां० प० अ० १८७ इस भारत के प्रमाण से भी चारों वर्णों को विद्याधिकार स्पष्ट है।

† चान्द्रायण व्रत की विधि के प्रकरण में वृद्धगौतम स्मृ० अ० १६ में लिखा है कि ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रों वा चरितव्रतः इत्यारभ्य गायत्री मम वा देवीं सावित्रीं वा जपेत्ततः- इत्यन्तम् चारों वर्ण गायत्री का जप करें, एवं गौतमस्मृ० अ० १० में लिखा है कि अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः पाकयज्ञैः स्वयं यजेतेत्येके, शूद्र वेद के नमस्कारमंत्रों से अपने आप यज्ञकरे, एवं स्वाहाकारो नमस्कारो मंत्राः शूद्रे विधीयते इति भारते संस्का० १ मयूखभाग २ पृ० ८५ काशी संस्कृत यंत्रालय में छपा० सं० १९३६

वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्य्यं महत्स्मृतम् । ४९ ।

भा० शां० प० अ० ३२८

वेदव्यासजी शुक्राचार्य्य आदि अपने शिष्यों को उपदेश करते हैं कि हे शिष्यो ! तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारोंवर्णों को क्रमशः वेद का उपदेश करो, क्योंकि वेद का अध्ययन करना मनुष्य का मुख्य कार्य है एवं—

चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति ॥ ११ ॥

भा० वन० प० अ० १३४

इस पर टीका नीलकण्ठ की:—

इसी तरह से याज्ञवल्क्यस्मृति में भी लिखा है कि नमस्कारेण मंत्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत् १२१ या० व० स्मृति० आचार अ० प्र० ५ शूद्र नमस्कारमंत्र से पंच यज्ञों को कभी न त्यागे वे पांच यज्ञ ये हैं बलिकर्म स्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः भूतपित्र्यमरब्रह्ममनुष्याणाम् महामखाः १०२ याज्ञ० व० स्मृ० आचाराध्या० प्र० कं० ५–बलिवैश्वदेव-पितृयज्ञ, होम, वेदाध्ययन, व अतिथिसेवा बस देखिये याज्ञ० व० स्मृति से भी शूद्रों को वेदाध्ययन सुस्पष्ट है, एवं शूद्र को आश्वलायन गृह्यसूत्र में मधुपर्काधिकार भी है इस मधुपर्क कर्म में अनेक वेदमंत्र उच्चारण करने पड़ते हैं सव्यं शूद्राय १० आश्व० गृ० च० १ खं० २४ जब शूद्र मधुपर्क करे तो राजा आचार्य आदि उससे वामपग पहिले धुवावे इसी प्रकार से रसशास्त्रं प्रदातव्यं विप्राणां धर्महेतवे, राज्ञे वैश्याय वृद्धयर्थं दास्यर्थमितरस्य च ६८ रसरत्नसमुच्चय अ० ६ धर्मार्थ ब्राह्मण को और शास्त्रवृद्धयर्थ क्षत्रिय वैश्य को तथा दासकर्म के लिए शूद्रादिकों को वैद्यक विद्या का प्रदान करना चाहिए ।

यज्ञं ज्ञानयज्ञे शूद्रस्याप्यस्त्यधिकार, इत्यादि चारों वर्णों को ज्ञानयज्ञ (जो सर्वयज्ञों से श्रेष्ठतम है) का अधिकार है ऐसे ही शुक्रनीति में भी लिखा है कि:—

विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात् सर्वेषां पालने गृही । २ ।

शु० अ० ४ प्र० ४

विद्या पढ़ने के लिये चारों वर्णों के मनुष्य को ब्रह्मचारी होना चाहिए और सर्व मनुष्यों के पालनार्थ गृहस्थ होना चाहिये यदि कोई कहे कि शूद्रों को विद्याधिकार होता तो उपनयन का विधान भी अवश्य होता, परन्तु उपनयन का अधिकार शूद्रों को शास्त्रों में कहीं नहीं है इसलिये शूद्रों को विद्याधिकार भी नहीं है, इसका उत्तर यह है कि—

शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् । १ । पारस्कर गृ० कां० २ पृ० ६० छापा० सं १९३६ देखो

हरिहरभाष्य के सहित पारस्करगृह्यसूत्र में स्पष्ट लिखा है कि जो शूद्र दुष्टकर्म के करनेवाले न हों उनका उपनयन संस्कार करना चाहिए और जहाँ पर शूद्र के यज्ञोपवीत संस्कार का निषेध है, वह दुष्टकर्म करने वालों के लिए है जैसे दुष्टकर्म करनेवाले शूद्र को उपनयन का निषेध किया है ऐसे ही दुष्टकर्म करनेवाले ब्राह्मणादि को भी उपनयन का निषेध किया है देखोः—

आपस्तं० सू० प्र० १ सू० ५ एवम्—

शूद्राणां ब्रह्मचर्य्यत्वं मुनिभिः कैश्चिदिष्यते। ३६।

योo अ० २

योगयाज्ञवल्क्य में भी शूद्रों को ब्रह्मचर्य्याधिकार है तथा—

शूद्रो वा चारितव्रतः। वृ० गौ० स्मृ० अ० १६

से शूद्र को उपनयन का विधान किया है जैसे पुरुषमात्र* को विद्याध्ययन का अधिकार शास्त्रसम्मत है वैसे स्त्रियों को भी वेदादि विद्याओं का अधिकार सशास्त्र है यथाः—

ब्रह्मचर्येण† कन्या युवानं विन्दते पतिम्। १८।

अथ० कां० ११ अनु० २ व० १५

ब्रह्मचर्य्य से कन्या युवा पति को प्राप्त हो जैसे वेद में स्त्रियों को ब्रह्मचर्य्य धारण करने की आज्ञा है ऐसे ही श्रौतसूत्रों में भी स्त्रियों को ब्रह्मचर्य्य का विधान किया है यथा—

समानं ब्रह्मचर्य्यम्। २४। आ० श्रौ० पट० कं० १५

स्त्री पुरुष का समान ही ब्रह्मचर्य्य होना चाहिये, एवं अनेक स्त्रियों ने ऋग्वेद का प्रचार किया है यथा ऋग्वेद

---

* जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, ऋषि (मंत्रों के प्रचारक) हुये हैं ऐसे ही वैश्य भी ऋषि हुये हैं देखो ऋग्वेद अष्टक ८ अध्याय २ के ६५ ६६ इन दो सूक्तों का ऋषि वसुकर्ण वैश्य हुआ है यह वसुकर्ण वैश्य था ऐसा आर्यविद्यासुधाकर में स्पष्ट लिखा है,

† ब्रह्मचर्येण नाम जितेन्द्रियत्वपूर्वकवेदाध्ययनव्रतेनेत्यर्थः—

मं० १ अनु० २३ स० १७९ इस सूक्त की प्रचारिका (ऋषि) लोपामुद्रा हुई है तथा मं० ८ अनु० ९ सू० ९१ इस सूक्त की प्रचारिका अपाला नाम कन्या हुई है इस का प्रमाण ऋा- वेदानुक्रमणिका तथा सायण भाष्य में देखो, बस स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार ही क्या इन प्रमाणों से तो स्त्रियें वेदों की प्रचारकर्ती हुई, एवं बृहदारण्यकउपनिषत् अ० ६ ब्रा० ५ में वर्णन किया है कि याज्ञवल्क्य ऋषि की स्त्री मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी परमविदुषी थी इसी प्रकार:—

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच [इत्यारभ्य] गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥ १ ॥ बृ० उ० अ० ५ ब्रा० ६

गार्गी ने याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ (प्रश्नोत्तर) बहुत किये, तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर देकर अन्त में यह कह दिया कि बहुत मुझ से मत पूछ, देखिये ! गार्गी कैसी विदुषी (पण्डिता) थी कि जिससे शास्त्रार्थ करने से किंवा उसके प्रश्न का उत्तर देने में याज्ञवल्क्य सरीखे ऋषि ने भी विस्मित होकर कह दिया कि अब तू गार्गी कुछ मत पूछ, तथा:—

अथ य इच्छेद् दुहिता में पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १७ ॥ बृह० उ० अ० ५ ब्रा० ४

जो मनुष्य चाहे कि मेरे विदुषी लड़की उत्पन्न हो उस

को उचित है कि तिल चांवल पका उस में घी मिलाकर स्त्री पुरुष दोनों खावें और पण्डिता पुत्री उत्पन्न करने की इच्छा करें, इस श्रुति में कन्या को विदुषी बनाने की आज्ञा दी है इससे स्त्रियों को विद्याधिकार सुस्पष्ट ही है एवम्ः—

इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य ॥ ६ ॥

अ० कां० १९ अनु० ७ व० ५८

पत्नीसहित यज्ञ * करने की वेद में आज्ञा है तथाः—

यज्जायायै करोति गार्हपत्य एव तज्जुहोति ॥२४॥

ऐत० पं० ८ अ० ५

स्त्री के लिये गार्हपत्याग्निनामक अग्निहोत्र करने की श्रुति में आज्ञा है इसलिये वह स्त्री गार्हपत्य अग्नि में गृह्य-श्रौतसूत्रोक्त वेदमँत्रों से हवन करे, इससे भी स्त्री को वेद-मंत्र पढ़ने की आज्ञा पाई जाती है तथाः—

अथ वेदे पत्नी विस्रथ्ंसयति इत्यारभ्य यजुषा चिकीर्षेदेतेनैव कुर्यात् इत्यन्तं द्रष्टव्यम् ॥ २३ ॥

श० कां० १ अ० अ० ९ ब्रा० २ कं० १९

शतपथ में भी स्त्री को वेदाधिकार लिखा है, एवं श० कां० २ अ० ५ ब्रा० २ कँ० ११ में भी है इसी प्रकारः—

पाणिग्रहणादिगृह्यं परिचरेत् स्वयं पत्न्यपि वा पुत्रः

---

* शुद्धा पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमवसर्पन्तु शुभ्राः ॥ १७ ॥ अथर्व० कां० ११ अ० व० १

कुमार्यन्तेवासी वा ॥ १ ॥ आश्व० गृ० अ० १ खं ९

जब से विवाह होजाय तभी से गृह्य अग्नि का सेवन करना चाहिये, इस गार्हपत्य अग्निहोत्र को स्वयं पुरुष करे वा स्त्री अथवा पुत्र वा पुत्री अथवा शिष्य करे, इसी प्रकार कात्यायन श्रौतसूत्र में भी लिखा है कि:—

चात्वाले मार्जयन्ते सपत्निकाः सुमित्रियान् इति ॥३७॥

का० श्रौ० सू० अ० २६ कं० ७ टी०

पत्न्या अपि मन्त्रपाठो भवत्येवेत्यादि, स्त्री वेदमंत्र का पाठ करे तथा शांखायनगृह्यसूत्र अ० खँ० १५ सू० ३—४—६ से भी स्त्रियों का वेदाध्ययन सिद्ध है एवम्:—

अग्नये स्वाहेति सायं जुहुयात् सूर्य्याय स्वाहेति प्रातस्तूष्णीम् द्वितीये उभ यत्र ॥ ८ ॥ आश्व० गृ० १खं ९

सायंकाल को अग्नये स्वाहा इस मंत्र से आहुति दे और प्रातःकाल सूर्याय स्वाहा इस मंत्र से दूसरी वार प्रजापतये स्वाहा इस मंत्र से दोनों काल में तूष्णीम्भाव से, बस इन सूत्रों से भी स्त्री व कन्या को वेदाध्ययन की आज्ञा स्पष्ट ही है, ऐसा ही गोभिलीय गृह्यसूत्र में भी लिखा है यथाः—

कामं गृहेऽग्नौ पत्नी जुहुतात् सायं प्रातर्होमौ गृहपत्नी गृह्य एषोऽग्निर्भवतीति ॥१५॥ गोभि० गृ० प्र० १ कं० ३

सायंकाल व प्रातःकाल स्त्री अग्निहोत्र करे इसको

गृह्याग्नि कहते हैं क्योंकि पत्नी से हो गृह है, इस सत्र की टीका में लिखा है कि

[पत्नीमध्यापयेत् कस्मात् पत्नी जुहुमादिति वचनात्
नहि खल्वनधीत्य शक्नोति पत्नी होतुमिति]

स्त्री को अध्ययन कराना चाहिये क्योंकि बिना पढ़ने के पत्नी (स्त्री) अग्निहोत्र नहीं कर सकती और सूत्रों में स्त्री के अग्निहोत्र करने का और पढ़ने का अधिकार है, इसलिये स्त्री को अवश्य पढ़ना चाहिये, एवम्:—

यच्चाम्नायो विदध्यात् ॥१२॥ गोभि० गृ० प्र० कं०६

स्त्री आम्नाय (वेद को) पढ़े, अहह ! वर्त्तमान समय में पक्षपात वा अविद्या से कन्याओं के उपनयन संस्कार को लोगों ने सर्वथा ही उठा दिया है परन्तु इन गृह्यसूत्रों में तो कन्याओं के सब संस्कार कुमारवत् करने की आज्ञा है यथाः—

प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत् सोमोऽददद्
गन्धर्वायेति ॥ १९ ॥ गोभि० गृ० प्र० २ कं० १

जो कन्या उत्तम वस्त्रादि से (प्रावृत) आच्छादित और (यज्ञोपवीतिनीम्) यज्ञोपवीत धारण किये हो उस कन्या को विवाहशाला में लावे और "सोमोऽददद्" इत्यादि मंत्रों को वर पढ़े, इस सूत्र से कन्याओं को उपनयनाधिकार सुस्पष्ट पाया जाता है, इसी प्रकार सहित हरिहर-

भाष्य पारस्करगृह्यसूत्र में भी स्त्रियों को उपनयनसंस्कार का विधान किया है:--

स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च । पार० गृ० सू० पृ० ८४ छापा काशी सिद्धविनायक सां० १९३६ का देखो

इसी कार पाराशरस्मृति के माधवभाष्य में लिखा है कि:--

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः । सद्यो वध्वश्च तत्र ब्रह्मवादितीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्य्या इति वधूनां तूपस्थितेविवाहे कथञ्चिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः इति हारीतेनोक्तं तथाः

पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ॥
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥ १ ॥
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् परः ।
स्वगृहे चैव कन्याया भैक्षचर्या विधीयते । २ ॥
यमस्मृ० पाराशरमाधवे*

स्त्रियें दो प्रकार की होती हैं एक तो ब्रह्मवादिनी और दूसरी सद्योवध, इनमें से ब्रह्मवादिनी स्त्रियों को जनोई (उपनयन) अग्नि होत्र, वेद का पढ़ना और अपने घर में

---

* देखो पाराशरमाधव एसियाटिक सुसाइटी कलकत्ता में छपा १८८३६ में

ही भोजन करने का विधान है; तथा सद्योवधूओं को तो विवाह करने के समय में उपनयनमात्र कराकर विवाह करना चाहिये ये हारीत का वचन है तथा पहिले कल्प में भी कन्याओं को उपनयनसंस्कार गायत्री का उपदेश और वेद पढ़ने की आज्ञा थी पहिले कल्प में पिता भाई आदि घर में ही कन्याओं के पढ़ाने और भोजन का प्रबन्ध करते थे। एवम्।

ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासममुष्यासाविति पति नाम गृह्णीयादात्मनश्च । ९ । गोभि० गृ० प्र० २ कं० ३

कन्या 'ध्रुवाहं' इस मन्त्र को उच्चारण करके ईश्वर से प्रार्थना करे कि हे परमात्मन्! मैं पतिसहित घर में निर्विघ्नतापूर्वक निश्चल बनी रहूँ, ऐसा कहकर पति का और अपना नाम उच्चारण करे, एवं लाट्यायन श्रौतसूत्रों में भी लिखा है कि—

पत्नी च । ४ । लाट्या० श्रौ० प्र० १ कं० ६

पत्नी भी सामवेद का गान करे, इसी प्रकार:—

गृहपतेर्दास्यो नवानुदहरणान् पूरयित्वा प्रदक्षिणं मार्जालीयं परीयुर्हैं महा इदं मध्विदं मध्विति वदन्त्यः पञ्चावराद्धर्याः पञ्चशतं तराद्धर्याः पञ्चविंशतिः साम्प्रतः

॥१८॥ लाट्या० श्रौ० प्र० ४ कं० ३

यज्ञ में गृहपति की दासियें जल के नवीन घट भर कर

इदं मधु इदं मधु, इत्यादि वाक्यों का उच्चारण कर तथाः

उत्तरोत्तरिवाचो व्याहारयेयुर्यावतीरधिगच्छेयुः। २०

लाट्या० श्रौ० प्र० ४ कं० २

इस सूत्र की टीका में भी स्पष्ट लिखा है कि (शास्त्राण्यधि-कृत्य कथाः कारयेयुरिति) वे दासियें जितनी हों परस्पर शास्त्र की कथा करें, जैसे शूद्रों को विद्याधिकार है वैसे ही इन वाक्यों से शूद्रा स्त्रियों को भी विद्या अधिकार है एवँ पारस्करगृह्यसूत्र में प्रतिपादन किया है कि—

स्त्रियोपि मन्त्रेण तमारुह्य, इत्यादि पारस्क० गृ० (काशी सिद्धविनायक में छपा सँ० १९३६) स्त्रियें भी वेदमंत्र को पढ़कर आसन पर बैठें, एवं शांखायन सूत्रों में भी उल्लेखन किया है कि—

घृतवन्तं कुलायिनं रायस्पोषं सहस्रिणं वेदो दधातु वाजिनम् इति वेदे पत्नीं वाचयति ॥ १३ ॥

शांखा० श्रौ० अ० १ कं० १

घृतवन्त आदि अनेक मंत्रों का स्त्रीं उच्चारण करै, इसी प्रकार आश्वलायन श्रौतसूत्र अ० १ कं० १० में भी स्त्री को वेदाध्ययनाधिकार स्पष्ट है, एवं आपस्तम्बीय श्रौतसूत्र में भी कथन किया है कि—

पत्नी पन्नेजनीर्गृह्णाति प्रत्यङ्तिष्ठन्ती वसुभ्यो रुद्रेभ्य आदित्येभ्य इति। १२। आप० श्रौ० प्र० १२ कं० ५

पश्चिम की ओर खड़ी होकर स्त्री यज्ञ के अर्थ (पन्नेजनी) जल पात्र को लेकर वसुभ्यो रुद्रेभ्य इत्यादि मन्त्रोच्चारण करै, इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र में भी लिखा कि—

सावित्री प्रसूता दैव्या आप उहदन्तुते तनुःदीर्घायुष्ट्वायवर्चस इति । ९ । पार० गृ० सू० कां० २ कं० १

बालक के चूड़ाकर्म संस्कार में पूर्वोक्त मन्त्र को स्त्री उच्चारण करै, एवमेव जैमिनि जी करते हैं कि—

तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्य्यमतुल्यत्वात् । २४ ।

पूर्व० मी० अ० ६ पा० १

स्त्री के लिए भी जो ब्रह्मचर्य्य और आशीः वेद में विधान किया है इसलिये स्त्री भी ब्रह्मचर्य धारण करे यदि कोई कहे कि जैसे पुरुष वेदमन्त्रों से आशीः अर्थात् आशीर्वाद प्रदानादिक करते हैं ऐसे स्त्री भी करें या नहीं ? तो इसका उत्तर भी इस सूत्र से आगया कि स्त्री भी वेदमन्त्रों से आशीर्वाद प्रदानादि अवश्य करें,

जातिंतु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्पर्थ्यस्या विशिष्टत्वात् । ८ ।

पू० मी० अ० ६ पा० १

व्यास मुनिका यह मन्तव्य है कि स्त्री भी मनुष्य जाति में होने से, उसको भी वेद पठन पाठनादिक सब कर्मों का अधिकार है ।

आयुर्दा असि इत्याशी ॥३२॥ पू० मीं० अ० २ पा०१
सू० ३२ शावर भाष्य एवम्—

फलवत्तां च दर्शयति ॥२१॥ पू० मी० अ० ६ पा० १

स्त्री पुरुष दोनो को यज्ञ का समान अधिकार होने से स्त्री को वेदाध्ययन करने की आज्ञा है देखो इसी सूत्र के शावरभाष्य को—

सपत्नी पत्या सुकृतेन गच्छतां यज्ञस्य धूर्यां युक्तावभूताम् । सञ्जानानौ विजहीतां अरातीर्दिवि ज्योतिरजरमारभेताम् ॥

एवं महाभाष्य के कर्त्ता पतञ्जलि जी के कथन से भी स्त्रियों को पठन पाठन का अधिकार है पतञ्जलि जी ने अनुपसर्जनात् अ० ४ पा० १ सू० १४ इस सूत्र के भाष्य में ऐसा लिखा है कि—

आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी, काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी, काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी ।

एवं अ० ३ पा० ३० सू० २१ के भाष्य में भाष्यकार ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि—

उपेत्याधीयते तस्या उपाध्यायी उपाध्याया इस पतञ्जलिजी के महाभाष्य से भी स्त्रियों का पढ़ना और पढ़ाना

सिद्ध है एवं वाल्मीकीय रामायण में भी लिखा है कि—

साक्षौम वसना हृष्टा नित्य व्रतपरायणा। अग्निंजुहोतिस्मतदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला। १५। अयोध्या० स०

२० इस श्लोक से कौशल्या वेद मन्त्रों से यज्ञ करती थी इसी प्रकार—

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वामन्त्रविद्विजयैषिणी।
अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता ॥२२॥

रा० किष्किन्ध्या स० १६

इसी श्लोक में तारा को वेद की वेत्ता (जाननेवाली) साफ़-साफ़ लिखा है, इसी प्रकार एक वार सुलभा-नामक * नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी राज-कन्या राजा जनक की सभा में गई, तब राजा जनक ने सुलभा से पूछा कि तू कौन है? तब सुलभा ने उत्तर दिया कि—

साहं † तस्मिन् कुले जाता भर्त्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम् ॥८३॥

महा० शां० प० अ० ३२१

मैं विशाल क्षत्रियकुल अर्थात् राजा के कुल में उत्पन्न

---

* यह प्रधान नामक राजा की लड़की थी।

† साहं इस श्लोक पर नीलकण्ठी टीका—तस्मिन् व्याख्यात-प्रभावे कुले विनीता गुरुभिः शिक्षिता मद्विधे भर्त्तर्यक्षत्यप्राप्ते सति नैष्टिकब्रह्मचर्यमाश्रित्य सन्न्यासं कृतवत्यस्मीत्यर्थः।

हुई हूँ और मैंने अपने गुरुओं से विद्याध्ययन किया है। ब्रह्मचर्य्य की समाप्ति करने पर मुझे योग्य विद्यादि गुणयुक्त जैसा चाहिये वैसा पति न मिलने से मैंने सन्यास ग्रहण कर लिया है। एवम्—

अभ्यासप्रयोज्यांश्च चातुःषष्टिकान् यान् कन्या रहस्ये काकिन्यभ्यसेत् ॥१२॥ वात्सायनका० सू० अ० ३

अभ्यास करके ६४ कलाओं को कन्या एकान्त में अवश्य पढ़े एवम्—

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता ॥२॥
भा० वनप० अ० २७

इस प्रमाण से सिद्ध है कि द्रोपदी* परमविदुषी थी। इसी प्रकार उत्तरा विराट राजा की पुत्री व राजा भोज की स्त्री विद्यावती व लीलावती आदि अनेक विदुषी स्त्रियें हुई हैं और अब भी हैं, जैसे स्त्री शूद्रों को अध्ययन करना शास्त्र-सिद्ध है वैसे ही युक्तिसिद्ध भी है। जैसे ईश्वर ने आँखें देखने को दी हैं इसलिये आँखों से देखने का काम अवश्य लेना चाहिये। यदि कोई पुरुष किसी मनुष्य की आँखों को फोड़ डाले तो वह दण्ड का भागी होता है ऐसे ही बुद्धि परमात्मा ने विद्या ग्रहण करके सत् असत् का विचार करने के लिये दी है यह विद्या मनुष्य के हृदय की आँखें हैं मनुष्यों

* भारत वनपर्व अ० ३२ में देखो द्रौपदी ने वृहस्पति कृत राजनीति पढ़ी थी।

को विद्या पढ़ने का निषेध करनेवाले लोग हृदय की आँखों के फोड़नेवाले हैं; जैसे चर्मचक्षु के फोड़नेवाले को राजदण्ड होता है ऐसे ही हृदय की आँखों के फोड़नेवाले स्वार्थियों को भी राजदण्ड होना चाहिये। विद्या पढ़ने का निषेद करने वाले स्वार्थियों (ख़ुदग़र्ज़ों) का यह प्रयोजन है कि जब सब लोग विद्या पढ़ जायेंगे तो हमारा दाव न लगेगा और यदि लोग मूर्ख रहेंगे तो पशुवत् उनको अनेक फन्दों में फँसा झूँठ-साँच समझाकर उनमें लालबुझक्कड़वत् गुरुघंटाल होकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेंगे, यह बात केवल कथन मात्र ही नहीं हैं किन्तु वर्तमान समय में यह व्यवहार इस देश में हो रहा है इतना ही नहीं, किन्तु पक्षपाती स्वार्थियों (मतलबी यारों) ने इस विषय के कई ग्रन्थ बना लिये हैं और प्राचीन ग्रन्थों में स्वार्थसिद्धि का मिथ्या लेख मिला संस्कृतग्रन्थों को बिगाड़ लोगों की आँखों में धूल डालकर अपना स्वार्थ सिद्ध किया है। जैसे—

शक्तेनापि* हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।

---

* यह श्लोक अन्य का बनाया है मनुजी का नहीं, क्योंकि मनुजी धार्मिक थे, ऐसा पक्षपात नहीं कर सकते थे। धनोपार्जन में समर्थ शूद्र यदि धनोपार्जन करे तो उसका धन बिना अपराध के छीन लेना चाहिये, भला ऐसी बात मनुजी कब कह सकते हैं ? क्योंकि इसी मनुस्मृति के अ० ११ श्लो० ३४ में शूद्र को धन के द्वारा दुःख से बचने का विधान किया है यदि शूद्र धनोपार्जन न करेगा तो धन के द्वारा आपत्ति से कैसे बच सकेगा।

शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥१२९॥

मनु० अ० ९

मनुस्मृति में किसी कुशाग्र कुबुद्धि ने इस श्लोक के मिलाने की कृपा की है, ऐसा ज्ञात होता है क्योंकि इस श्लोक का आशय यह है कि चाहे शूद्र धन उपार्जन करने में समर्थ (होशियार) हो तो भी शूद्र को उचित है कि धनोपार्जन न करे। क्योंकि शूद्र धन को उत्पन्न करके ब्राह्मणों को ही दुःख (तकलीफ़) देगा इसलिये शूद्र धन न पैदा करे, देखिये प्रथम तो ऐसे-ऐसे कपोलकल्पित वाक्य बनाये कि जिससे भोले-भाले लोगों ने धनोपार्जन करना छोड़ दिया होगा। इसी से यह देश निर्धन होगया, परन्तु कुछ बुद्धिमान शूद्रों ने ऐसी अप्रामाणिक बातों पर ध्यान न देकर धनोपार्जन करना प्रारम्भ कर दिया होगा तब ऐसे-ऐसे श्लोक बने—

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत् ।
नहि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्य्यधनो हि सः॥४१७

मनु० अ० ८

यदि शूद्र ने धनोपार्जन किया हो तो उस धन को बलात्कार (जबर्दस्ती) से छीन लो क्योंकि शूद्र के धन का स्वामी ब्राह्मण है, देखिये ! ऐसे न्याय और वेद से विरुद्ध लेख पक्षपाती स्वार्थियों के अतिरिक्त और किसके होसकते हैं परन्तु हमको तो न्याय और वेद की ओर दृष्टि देनी

चाहिये। वेदों में परमात्मा पक्षपातरहित न्याय का उपदेश किया है। देखो—

सत्यमहं गम्भीरः काव्येन सत्यज्ञातेनास्मि जातवेदा न मे दासो न मे आर्यो महित्वा व्रतं मीमायं यदहं धरिष्ये

॥३॥ अथर्व० कां० ५ अ० २ व० ११

हे मनुष्यो ! मैं परमेश्वर सत्यस्वरूप महागम्भीर और सत्य वेदविद्या के प्रकट करने से मैं जातवेदा हूँ, मैं किसी दास वा आर्य का पक्षपात नहीं कर सकता, किन्तु जो मेरी न्यायाचरणरूप सत्यव्रताज्ञा का पालन करेगा उसी का मैं उद्धार करूँगा।

अब बिचारना चाहिये कि जब मनुजी वेदानुयायी थे तो वे इस वेद के बचन से विरुद्ध शूद्रों को दुःख देने का प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं, बस इससे यह वार्ता सिद्ध है कि ऐसे-ऐसे श्लोक मनुजी के नहीं हो सकते किन्तु स्वार्थी लोगों के मिलाये हुए हैं; अस्तु जैसे पक्षपाती लोगों ने शूद्रों को धन उपार्जन करने से रोका, ऐसे ही विद्याध्ययन करने का भी निषेध कर दिया, स्त्री व शूद्रों को वेदविद्या पढ़ानेका निषेध करनेवालों से हम पूछते हैं कि इनके विद्या पढ़ने से क्या ये अपवित्र होजाते हैं ? अथवा वेदादि विद्या भ्रष्ट होजाती है, यदि विद्याध्ययन से स्त्री व शूद्र भ्रष्ट होजाते हैं तो ब्राह्मणादि भी वेदादि के पढ़ने से भ्रष्ट होने चाहियें। क्योंकि अग्नि में जो दाह का गुण है वह अग्निस्पर्श करने

वाले ब्राह्मण शूद्र दोनों को एकसा फल देता है ऐसा ही वेद पढ़ने का जो फल है वह ब्राह्मण व शूद्र दोनों को समान ही होगा, यदि कहो कि शूद्रादि के पढ़ने से वेदादि विद्या बिगड़ जाती है तो पूर्वकाल में कवष एलूषादि व वर्त्तमान समय में अनेक अँग्रेज़ वेदादि विद्याओं को पढ़ चुके हैं इसलिये वेदादि विद्या क्या भ्रष्ट होगई ? अतः ब्राह्मणादि वर्णों के पढ़ने योग्य नहीं रही दूसरे जलादि पदार्थों के सदृश वेद विद्या ईश्वर ने जगत् हितार्थ प्रकट की है, इस बात को तुम मानते हो वा नहीं, यदि मानते हो तो जलादि पदार्थ के सदृश विद्या भी मनुष्यमात्र के वास्ते क्यों नहीं ? यदि स्त्री व शूद्रों को विद्या पढ़ने का अधिकार न होता तो इनको विद्या पढ़ने पर भी नहीं आती, जैसे नेत्र को बोलने का अधिकार नहीं है इसलिये नेत्र से बोलने का प्राणी कितना ही प्रयत्न करे परन्तु नेत्र से एक शब्द भी नहीं बोल सकता, चौथे स्त्री व शूद्र न पढ़ेंगे तो देश में मूर्खता बनी ही रहेगी जिससे विज्ञों में और अज्ञों में देवासुर संग्राम के सदृश सर्वदा कलह बना रहेगा, पाँचवें स्त्री व शूद्रों को पढ़ने से रोकना उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की आज्ञा का भंग करना है, क्योंकि यदि स्त्री व शूद्रों को विद्याधिकार नहीं होता तो परमात्मा उनको शब्दोच्चारण के लिये जिह्वा अक्षरावलोकन को नेत्र, लिखने को हस्त, विचारने को बुद्धि, मनन करने को मन, स्मरण को स्मृत्यादि पदार्थ न

देता, छठे विद्याधिकार मनुष्य के पढ़ने व बुद्धि आदि की योग्यताधीन है जिसकी बुद्धि उत्तम हो, जो पढ़ाने से पढ़ सके उसको बराबर पढ़ने का अधिकार है, अब नादिरशाही पोप पण्डित का राज्य नहीं है कि जो कोई शूद्र अकस्मात् वेद का शब्द सुनले तो उसके कान में शीशा गलाकर डाल दिया जाय, अब तो हमारी न्यायशीला राजराजेश्वरी महाराणी विक्टोरिया क़ैसरहिन्द का राज्य है। यदि कोई किसी के कान में शीशा गला के डाले तो उसका फल तत्काल ही मिल जायगा, सातवें यदि स्त्री व शूद्रों का पढ़ाना परमेश्वर को अभीष्ट न होता तो स्त्री व शूद्रों को बुद्धियादि पढ़ने के साधन ही न देता, आठवें शूद्रादि पढ़े हुए न होंयगे तो गृहकार्य नहीं कर सकेंगे, एवं स्त्रियें यदि पढ़ी हुई न होंगी तो सन्तति कभी सुशिक्षित नही होगी, जैसे बाल्यावस्था में बालक अपने आप कमाय के नहीं खा सकता किन्तु वह सर्वथा माता के आधीन रहता है ऐसे ही छोटी अवस्था में लड़का अपने विचार से कोई भी कार्य नहीं कर सकता किन्तु माता पिता की शिक्षा पर चलता है और बाल्यावस्था में बालक का विशेष सम्बन्ध माता से ही होने के कारण माता का शिक्षण बालक के नवनीतवत् कोमलान्तःकरण पर मोहरछाप के सदृश जम जाता है वह संस्कार आजन्म बना रहता है इसलिये स्त्रियों को प्राणिधर्मशास्त्र, मानसशास्त्र, समाजसंस्थितिशास्त्र, रसायनशास्त्र, आलोख्य

शास्त्र, वैद्यकशास्त्र, गृह्यशास्त्र आदि विद्याओं का तो अवश्य ही शिक्षण मिलना चाहिये क्योंकि जैसे बाल्यावस्था में बालक की शारीरिक उन्नति माता के आधीन रहती है ऐसे ही मानसिक उन्नति भी माता के आधीन ही होती है जैसे बालक की शारीरिक शक्ति भोजन विना नहीं बढ़ सकती ऐसे ही मानसिक शक्ति भी शिक्षणरूप खुराक के विना नहीं बढ़ सकती। और इन दोनों शक्तियों को बढ़ानेवाली बालक की माता है, इसलिये माता विदुषी होनी चाहिये, जब से इस देश में स्त्रीशिक्षा का निषेध किया गया तभी से इस देश की सर्वथा हानि होरही है और जब पुनः स्त्री-शिक्षण का प्रारम्भ होगा तभी यह देश सुधरेगा, अतः इस विद्या की वृद्धि मनुष्यमात्र को करनी चाहिये परन्तु मुख्यतः राजा-महाराजाओं को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये, जैसे महाराजा भोज ने विद्या की वृद्धि के लिये स्पष्ट आज्ञा दे दी थी कि—

विप्रोऽपि* यो भवेन्मूर्खः स पुराद्बहिरस्तु मे ।
कुम्भकारोऽपि यो विद्वान् स तिष्ठतु पुरे मम ॥१॥

भोज प्रवन्ध

जो मेरा प्रिय भी हो परन्तु मूर्ख हो तो वह मेरे नगर में न रहने पावे और कुम्हार भी यदि विद्वान् होय तो वह

---

* यो विप्रियन्न कुरुते न चायुक्तम्प्रभाषते तथार्जवसमाचारः सप्रियः परिकीर्त्तितः ॥ १ ॥ मालती माधवटीकायाम् ॥

मेरे शहर में अवश्य बना रहे, देखिये महाराजा भोज ने मनुष्यमात्र को पढ़ने का प्रबन्ध करके पढ़ने की आज्ञा दे दी थी, तभी राजा भोज के राज्य में सब मनुष्य विद्वान् थे, जिससे यह देश उन्नति पर था, बस इस विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते हैं, बुद्धिमान् पुरुष होना चाहिये किंवा स्त्री, अथवा दोनों हों, यदि दोनों हों तो ब्राह्मण ब्राह्मणी हों किंवा अन्य नर-नारी भो, इसका उत्तर यह है कि उभय ❀ अर्थात् सर्व वर्ण के पुरुषों को सर्व वर्ण के पुरुष और सर्व वर्ण की स्त्रियों को सर्व वर्ण की स्त्रियाँ, जहां पुरुषों को पुरुष † व स्त्रियों को स्त्रियां पढ़ाने के लिये न मिल सक्ती हों तो व्यक्तिक्रम होना चाहिये अन्यथा नहीं, महाभाष्य को देखने से ज्ञात होता है कि पूर्वकाल में स्त्रियां भी बालकों को पढ़ाती थीं, देखो:—

औदमेघ्यायाश्छात्रा औदमेधा इत्यादि---

महाभाष्य अ० १४ पा० १ सू० ७८ ।

❀ आचार्य्यस्तु कन्यानां प्रवृत्तपुरुष सम्प्रयोगा सहसं प्रवृद्धा धात्रेयिका तथाभूता वा निरत्ययसम्भाषणा सखी संवयाश्च मतृश्च सा विस्रब्धा तत्स्थानीया वृद्धदासी पूर्वसंसृष्टा वा भिक्षुकी स्वत्या च विश्वास प्रयोगात्० ॥ ३ ॥ वात्स्या० सू० अ० ३ ।

† यदि लड़कों के पढ़ाने को स्त्री नियत की जाय तो वह स्त्री वृद्धा हो, एवं बालिकाओं के पाठनार्थ वृद्ध अध्यापक होना समुचित है ।

एवं पढ़ाने वाले भी चारों वर्णों के स्त्री व पुरुष होसक्त हैं। जैसे ऋ० मं० १० सू० १३४ का प्रचारक राजा यौवनाश्व का पुत्र मान्धाता हुआ है इसी प्रकार अनेक सूक्तों के प्रचारक (ऋषि) क्षत्रिय, वैश्य * और शूद्र हुए हैं, अनुक्रमणिका व सायणभाष्य में देख लीजिये, एवं महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २६३ में वैश्य तुलाधार से ब्राह्मण ने शिक्षा पाई, इसी प्रकार अपाला, लोपामुद्रा आदि स्त्रियों के विषय में हम प्रथम लिख चुके हैं तथाः—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२३८॥

मनु० अ० २।

मनु जी आज्ञा देते हैं कि शुभ विद्या को शूद्र से उत्तम धर्म्म चांडाल से और स्त्री को नीच कुल से भी गृहण कर लेना चाहिये एवम्ः—

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते
ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे ॥ ७ ॥

छां० प्र० ५ खं० ११।

छान्दोग्य उपनिषत् में लिखा है कि प्राचीनशाल औपमन्यव, सत्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जनशार्कराक्ष्य, वुडिल आश्वतराश्वि, ये सब उद्दालक के पास विद्योपदेश-

* मत्स पुराण अ० १३२ में वैश्यों को ऋग्वेद के दृष्टा लिखा है ।

ग्रहणार्थ गये तब उद्दालक जी ने इन से कहा कि राजा अश्वपति के पास चलो तब सब वहां पर गये और ऋषियों ने हाथ जोड़कर राजा से कहा कि आप हमको उपदेश करें, राजा ने कहा कि कल उपदेश करूँगा, पुनः द्वितीय दिन उन सर्व ऋषियों को राजा अश्वपति ने शिक्षा दी, एवं विदुर ने धृतराष्ट्र को, सूत पुराणी ने अट्ठासो हजार ऋषियों को तथा वनपर्व अ० २०६ से २१६ तक धर्मव्याध चांडाल ने कौषिक ऋषि को उपदेश किया इसी प्रकार स्त्रियों में भी गार्गी वाचक्नवी, वड़वा, प्रातीथेयी, सुलभा, मैत्रेयी, ये सब स्त्रियाँ आचार्य्या हुई हैं देखो—आश्वलायनगृह्य सू० अ० खं० ५ सू० ४

तथा भारत वनप० अ० २६ में कौषिक को एक स्त्री ने उपदेश किया, एवं अष्टा० अं० ४ पा० १ सू० ४९ पर

आचार्य्यस्य स्त्री आचार्य्यानी पुंयोग इत्येव आचार्य्या स्वयंव्याख्यात्री ।

आचार्य्य की स्त्री का जहाँ कहीं नाम आवेगा तो उसका नाम आचार्य्यानी होगा, परन्तु जो स्त्री आप विद्या पढ़ाती है उस स्त्री का नाम आचार्य्या है जो स्त्री पढ़ाती न होगी और उसका पति उपाध्याय (लड़कों को पढ़ाने वाला) होगा तो उसकी स्त्री का नाम उपाध्यायी होगा, परन्तु जो स्त्री आप बालिका व बालकों को पढ़ाती हो तो उसका नाम उपाध्याया व उपाध्यायी होगा किन्तु पढ़ाने-

वाली स्त्री अपने आप प्रसिद्ध होती है इसलिए व्याकरण के नियम से उसका उपाध्यायानी नाम कभी नहीं होसकता, देखिये व्याकरण से भी स्त्रियों का पढ़ना-पढ़ाना सिद्ध है। हम इस विषय को अधिक बढ़ाना नहीं चाहते किन्तु हमारे विज्ञ पाठक इतने में ही समझ लेंगे, हम प्रथम लिख आये हैं कि बालकब-ालिकाओं को पृथक्-पृथक् विद्यार्थीजन-निवासालय में रखकर पढ़ाना चाहिये, अब विचारणीय विषय यह है कि बालकों को किस प्रकार और कौन-कौन-सी विद्यायें पढ़ानी चाहियें*, इस विषय में विचार करने से ज्ञात होता है कि यथावश्यक बालोद्यान-शिक्षणक्रम के अनुसार परीक्षा करके यथासम्भव यथायोग्य विद्या पढ़ावे, बालोद्यान-शिक्षणक्रम यह है कि किसी वाटिकादि स्थान विशेष में कलायन्त्र वाद्य, शिल्पकारी (कारीगरी) आदि सब विद्याओं को सीखने के साधन आयुधादि पदार्थ विद्यमान हों वहाँ पर बालकों को खेलने देवे और आचार्य्य उपाध्यायादि पाठक अलग बैठे-बैठे देखते रहें कि किस बालक की अमुक बालक की किस विद्या में रुचि है जब परीक्षा से ज्ञात होजाय कि अमुक बालक की अमुक विद्या में रुचि है तब उनकी रुचि के अनुसार तथा उनके पिता-

---

*जो जो विषय बालकों के विषय में लिखे हैं वे-वे बालिकाओं के विषय में भी समझ लेने चाहियें। हम बार-बार पृथक् नाम से नहीं लिखेंगे।

पितामहादि भी जिस विद्या से आजीवन करते आये हों उसका विचार करके निम्नलिखितक्रमानुसार उनको वे-वे विद्यायें पढ़ावें।

(१) बालक को प्रथम सुगम विषय सिखाकर पुनः कठिन विषय सिखावे, प्रथम सुगम विषय सिखाने की आवश्यकता इसलिये है कि प्रथम ही प्रथम बालक की समझ में गहन (कठिन) विषय नहीं आसकता, अतः बलात्कार उसको कठिन विषय न सिखाना चाहिये क्योंकि इससे बालक की मानसिक शक्ति का अधिक व्यय होता है और कठिन विषय बालक की समझ में न आने से पढ़ने में ग्लानि भी होजाता है जिससे बालक पढ़ने से घबराकर पढ़ना ही छोड़ बैठता है अतएव बालको प्रथम सुगम विषय ही सिखानी समुचित है जैसे स्थल पदार्थो का ज्ञान कराकर पुनः सूक्ष्म पदार्थो का ज्ञान कराना ही सृष्टिक्रमानुसार है जैसे सृष्टि की आदि से लेकर आज दिन पर्य्यन्त बालकों को प्रथम स्थूल पदार्थों को देखकर पुनः सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान हुआ है, बस जिस क्रम से मनुष्य जाति में ज्ञान की उन्नति हुई है उसी क्रम से बालकों को शिक्षण भी मिलना चाहिये, सृष्टिक्रम विद्या (इवोल्यूशनथ्योरी) तथा इतिहासादि भी हमारे शिक्षाक्रम को पुष्ट करते हैं इतना ही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से भी बालकों को पृथ्वी, जल, सूर्य्य, चन्द, नक्षत्र, घट, पट, कट, कुक्कुट,

करी, काक, कुत्ते, बिल्ली आदि का ज्ञान प्रथम होता है और आकर्षणशक्ति, आश्लेषशक्ति, काल, दिशा, आत्मा (जीवेश्वर), प्रकृति, अन्तःकरणादि वस्तुओं का ज्ञान पुनः होता है जब जगन्नियन्ता परमात्मा का सृष्टिक्रम ही ऐसा है तो फिर सृष्टिक्रम से विरुद्ध बालकों को शिक्षण देकर उनके शरीर बल बुद्धि आदि का नाश करना महा हानिकारक नहीं तो क्या है? जैसे आजकल बालकों को भाषा परिज्ञान न कराकर प्रथम ही व्याकरण पढ़ाना प्रारम्भ करा देते हैं परन्तु यह रीति सृष्टिक्रम से विरुद्ध और बालकों को हानिकारक है। सृष्टिक्रमानुसार तो बालकों को प्रथम भाषा सिखाकर पुनः व्याकरण सिखाना चाहिए, क्योंकि व्याकरण भाषा की शुद्धि के अर्थ है। यदि भाषा ही न होगी तो व्याकरण किसकी शुद्धि करेगा तथा सृष्टि-नियम से भी बालक को प्रथम भाषा ही को बोलनी आती है न कि व्याकरण, एवं जब तक बालक किसी भाषा को जानता हो तब तक उसको व्याकरण कोई भी नहीं पढ़ा सकता, इससे भी सिद्ध है कि प्रथम बालक को भाषापरिज्ञान कराना उचित है; क्योंकि जिस भाषा का व्याकरण पढ़ाते हैं उस भाषा को पूर्व न पढ़ाकर उस भाषा का व्याकरण पढ़ाने से अनेक-अनेक हानियाँ होती हैं, जैसे बाल्यावस्था में बालक की बुद्धि अल्प होने से व्याकरण का परिज्ञान नहीं होता तथा बालक की छोटी बुद्धिरूप

कीड़ी (पिपीलिका) के ऊपर व्याकरण जैसे क्लिष्ट विषय-रूप घन की चोट लगने से बालक की बुद्धि चकनाचूर होकर नष्ट भ्रष्ट होजाती है जिससे वह बालक बुद्धिहीन शुकपत्ती बनकर आजकल के मूर्ख (व्यवहारानभिज्ञ) पण्डितों के समान आजन्म पढ़ा पशु ही बना रहता है और यदि मातृभाषा की सहायता से अन्य भाषा का व्याकरण* पढ़ाय भी दिया जायगा तो भी जिस भाषा का व्याकरण पहिले पढ़ता है वह भाषा शुद्ध बोलनी और शुद्ध लिखनी उसको कभी नहीं आवेगी उस मनुष्य की ऐसी ही दशा होगी जैसी वर्त्तमान काल में संस्कृतज्ञ पण्डितों की दशा है, अतः हमारी सम्मति में यही शिक्षण-क्रम उत्तम है कि सृष्टिक्रमानुसार बालकों को प्रथम स्थूल पदार्थों का ज्ञान कराकर पुनः सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान करावे, एवं प्रथम धर्मी (गुणी) का ज्ञान कराकर पुनः धर्म्म (गुण) का ज्ञान करावे।

(२) बालकों की जैसे-जैसे मानसिक शक्ति बढ़ती जाय वैसे-वैसे शिक्षण देना चाहिये, क्योंकि बालकों का

*यदि हमारे शिक्षणक्रम को स्वीकार न करें और निम्न-लिखित रीति से पढ़ायें तो भी वर्त्तमान संस्कृत पढ़ाने की रीति से कुछ अच्छा है:—प्रथम शब्दरूपावली, धातुरूपावली समास-चक्र तद्धितकलाप, हितोपदेश, पञ्चतन्त्र और एक दो सर्ग वाल-मीकि रामायण के वा विदुरनीति आदि पढ़ाकर पुनः बड़े होने पर व्याकरण पढ़ावे।

जिस प्रकार हस्त, पादादि अवयवों के सहित मस्तिष्क (दिमाग़) बढ़ता और पक्व होता जाता है ऐसे ही मस्तिष्क में निवास करनेवाली बुद्धि भी बढ़ती और पक्व होती जाती है, जब तक बालक की बुद्धि पक्व न होजाय तब तक उस अपक्व बुद्धि में पक्व विचार न तो उत्पन्न हो सकते हैं और न ठहर ही सकते हैं, जैसे एक वर्ष डेढ़ वर्ष का बालक चलना सिखना प्रारम्भ करता है उस समय में उस बालक को कोई उपदेश करने लगे कि अय लड़के! जिस स्नायु, धमनी, अस्थि, मज्जा और मांसादि के जोड़ के कारण से तू पैरों से चल रहा है उन स्नायु, मांसादि की उत्पत्ति और स्थिति के स्वरूप को तू प्रथम जानकर पुनः चलना सीख, बस जैसे डेढ़ वर्ष के बालक को ऐसा उपदेश करने वाला पागल (प्रमाद) है, ऐसे ही अपक्व बुद्धि में पक्व विचारों को जमाने वाले को भी प्रमादी वा पाठन-क्रमानभिज्ञ समझना चाहिये, इसलिये बालक की मानसिक शक्ति की योग्यता के अनुसार ही बालक को शिक्षा देना श्रेयस्कर है।

(३) जहांतक हो सके ऐसा उपाय करें कि जिस से बालक स्वयमेव तर्कना करके अपने आप पदार्थ को समझ जाय, क्योंकि स्वयं बालक के समझ लेने से बालक की तर्कशक्ति बढ़ती है, तथा जिसको बालक आप समझ लेता है उसको पुनः भूलता नहीं, एवं पढ़ाने वालों को भी श्रम

कम होता है और पढ़ने पढ़ाने वालों में कलह भी नहीं होता।

(४) बालक को जो कुछ पढ़ावे वह उदाहरणों के सहित पढ़ावे जैसे भूगोल (जुग़राफिया) पढ़ावे तो केवल मुख से ही तोतापाठ न करावे कि एशिया में १३ देश हैं किन्तु उन देशों का स्वरूप गोले पर दिखा कर पुनः उसके विशेष विस्तार को सिखावे, जिस से लड़के के अन्तःकरण में एशिया का चित्र (नक़्शा) जम जाय और पुनः कभी न भूले, एवं व्याकरण आदि अन्यान्य विद्याएं भी उदाहरणों के सहित सिखावे।

(५) जब बालक पढ़ने से थक जाय अथवा अन्य किसी निमित्त विशेष से पढ़ने में उदासीनता प्रगट करे तब उसको न पढ़ावे क्योंकि ऐसी अवस्था में पढ़ाने से बालक की रुचि, ज्ञातृत्व शक्ति तथा धारणा-शक्ति न्यून हो जाती है और इनके न्यून हो जाने से बालक की बड़ी भारी हानि होती है।

(६) बालक को ऐसे क्रम से पढ़ावे कि जिस से बालक की पढ़ने में अभिरुचि बढ़ती जाय और ग्लानि कभी न होवे, जैसे खेलने में बालकों को आनन्द आता है और अभिरुचि बढ़ती जाती है ऐसे ही पढ़ने में अवश्यमेव आनन्द आवेगा और अभिरुचि भी बढ़ेगी जिस से पढ़ने में बालक को कभी भी दुःख न होगा और बालक अधिक

पढेंगे, सृष्टिक्रमानुसार ही बालकों को शिक्षण देना माता, पिता, राजा और आचार्य्य (मास्टर) आदि का परम कर्तव्य है।

(७) बालकों को कठिन विषय प्रातःकाल में और सुगम विषय अन्यान्य समय में याद कराना चाहिये, यदि प्रा:तकाल में कठिन विषय याद किया जाय तो अति सुगमता से वह विषय आ सकता है।

(८) जिस में बालकों का वर्तमान तथा मुख्य करके भावी कल्याण हो उन विद्याओं को प्रथम पढ़ावे, यहां पर यह लिखना अनुचित न होगा कि वर्तमान समय में अनेक बालकों के माता, पिता बालकों को केवल धन उपार्जन के अर्थ पढ़ाते हैं और कितनेक लोग तो जगत् में अपनी व बालकों की मान प्रतिष्ठा आदि के लिये पढ़ाते हैं, परन्तु जिस प्रयोजन के अर्थ विद्या पढ़ाई जाती है उसको वे नहीं जानते, जैसे इस देश के मूर्ख लोग यथायोग्य भोजन न करके पेट काट कर कुछ धन बचा कर लोगों को शोभा दिखाने के लिये छैल छबीले बने फिरते हैं परन्तु उन गँवार लोगों का शरीररक्षण सन्तानशिक्षण और परमार्थ की ओर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं है किन्तु इन मूर्खों का केवल लोगों को शोभा दिखाने की ओर ध्यान है इन मूर्खों को छोड़ कर कतिपय विद्वानों की भी यही दशा देखने में आती है, जैसे बहुधा मनुष्य घर में रहते हैं तब

कांच (दर्पण) नहीं देखते परन्तु जब बाहर जाते हैं तब लोगों को अपनी शोभा दिखाने के लिये खूब घटाटोप (१) बन बना कर जाते हैं, इसी प्रकार स्त्रियों में नखरे करने की चाल तो जगत् विदित है, अतः लिखने की आवश्यकता नहीं, जैसे बनवटी नख़रे (२) करके स्त्री, पुरुष प्रसन्न रहते हैं ऐसे ही विद्या पढ़ने की भी दशा है परन्तु वास्तव में विद्या केवल धनोपार्जन के लिये अथवा केवल मनुष्यों में बड़ाई कराने के लिये अथवा केवल लोगों को शोभा दिखाने के ही लिये नहीं है किन्तु विद्या से बालक पृथ्वी से लेकर परमात्मा पर्य्यन्त सर्व पदार्थों को हस्तामलकवत् जान निस्सन्देह होकर संसार का सम्यक् उपकार करता हुआ अभ्युदय निःश्रेयस (३) की सिद्धि को प्राप्त होता है इस लिये बालकों को पूर्वोक्त क्रम से विद्याध्यनयं कराना चाहिये यद्यपि इस जगत् में अनेक विद्यायें हैं और अपने अपने विषय में वे सब विद्यायें अत्युत्तम सुखदायी हैं परन्तु सब

---

१ गुणेषु क्रियतां यत्नः किमाटोपैः प्रयोजनम् ।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः ॥ १४ सुभा० प्र० २ ।

२ नख़रा जो खरा न हो यह नागरी का अर्थ है, फारसी में इसका और अर्थ है वर्त्तमान समय में बहुधा यही देखने में आता है कि जो कुछ मनुष्य करते हैं वह केवल लोगों को दिखाने के लिए ही करते हैं, यह ऐसा करना प्राचीन आर्य्यों के विरुद्ध है।

३ विद्योभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणाञ्च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरम्परम् । ८३ मनु० १२

विद्याओं को मनुष्य नहीं पढ़ सक्ते इस लिये जो सामान्य विद्यायें हैं जिनकी आवश्यकता मनुष्यमात्र को है उन विद्याओं का पठन तो प्रत्येक बालक को अवश्य करा देवे जैसे बांचना, लिखना, भूगोल (जुग़राफ़िया) व्याकरण साहित्य, गणित, इतिहास, पदार्थविद्या आदि।

(अ) बांचना सिखाने से बालक को यह लाभ होता है कि अनेकानेक विद्याओं की पुस्तकों से बालक अपना ज्ञान बढ़ा सक्ता है।

(आ) लिखना सीखने से यह लाभ है कि सब बातें किसी को याद (उपस्थित) नहीं रह सक्तीं परन्तु लिखना जानता होता लिख के जब चाहे तब उसको देख कर पुनः उपस्थित कर सक्ता है, एवं वर्त्तमान समय में प्रायः सब व्यवहार लिखने और बांचने पर ही निर्भर हो रहे हैं इतनाही नहीं किन्तु लेख से हज़ारों वर्षों के पहिले के व्यवहार का ज्ञान होसक्ता है, तथा हज़ारों वर्षों के पश्चात् उत्पन्न होने वालों को भी लाभ पहुँच सक्ता है, इस लिये लेखनविद्या बालकों को अवश्यमेव सिखानी चाहिये परन्तु इस बात का स्मरण रहे कि :—

वाचयति नान्यलिखितं तस्यापि लिखितन्न कोऽपि वाचयति। अयमपि तस्य विशेषः स्वयमपि लिखितं स्वयन्न वाचयति ॥ ४१ ॥

रसकल्पद्रुम परि० ५ ॥

मुड़िया वा उर्दू के सदृश अधम लिपि न हो कि जिस को कोई भी न पढ़ सके, इतना ही नहीं किन्तु अपना लिखा हुआ आपही न पढ़ सके, एवं आज कल के संस्कृत के पण्डितों के सदृश न हो क्योंकि वे लिख नहीं सकते और यदि लिखें तो भी बहुत ही धीरे धीरे और अशुद्ध लिख देते हैं अतः बालकों को पूर्वोक्त दोष रहित उत्तम लिखना सिखना चाहिये।

(इ) भूगोल(१) विद्या से पृथ्वी के गोल होने आदि का और

(ई) भूतलविद्या (जुग़राफ़िया) से देश-देशान्तरों का ज्ञान इससे मनुष्यों से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं।

(उ) व्याकरण विद्या(२) के पढ़ने से शुद्धाशुद्ध और पद पदार्थ का ज्ञान होजाता है, व्याकरण पढ़ने के अनेक प्रयोजन महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने व्याकरणमहाभाष्य के

---

१. मध्यांद्यद्युसदां यदत्र गणित तस्योपपत्तिं बिना, प्रौढि प्रौढसभासु नैति गणको निःसंशयो न स्वयं, गोले सा विमला करामलकवत् प्रत्यक्षतो दृश्यते तस्मादस्म्युपपत्तिबोधविधये गोलप्रबन्धोद्यतः।२। भोज्यं यथा सर्वरसं बिनाज्यं राज्यं यथा राजविवर्जितंच सभा न भातीव सुवक्तृतहीना गोलानभिज्ञो गणकस्तथात्र।३। सिद्धान्तशिरोमणेः गो०

२. यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पट पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत्सकलं शकलं सकृच्छकृत्।३। सुभाषि० प्रठ २॥

अध्याय १ पा० १ आ० १ में प्रतिपादन किये हैं, साहित्य(३) से मनुष्य की वाणी ललित और मीठी होती है तथा लेख-प्रणाली (इबारत) अर्थात् वाक्यरचना भी सुन्दर होजाती है।

(ऊ) अंकगणित(४) विद्या की भी प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकता है संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसका गणितविद्या विना कार्य्य हो सके परन्तु गणक और वणिक को तो हिसाब किताब के लिये गणित की परमावश्यकता है, इसी प्रकार अन्य सब मनुष्यों को प्रत्येक कार्य्य में अंकगणित* की अधिक अपेक्षा होती है इतना ही नहीं किन्तु अनेक विद्वानों की यह सम्मति है कि सभ्यता का प्रथम सोपान (सीढ़ी) गणितविद्या ही ।

(ऋ) इतिहासविद्या जिससे मनुष्य को पूर्वकाल (पहले ज़माने) का ज्ञान होने से अनेक लाभ होते हैं जैसे अमुक

---

३. सुभाषितमयं द्रव्यं संग्रहन्न करोति यः,
स तु प्रस्ताव यज्ञेषु कां दास्यति दक्षिणाम् ।१७६। पं० तंत्र २

४. ज्योतिः शास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते नूनं लग्नबलाश्रितः पुनरयं तत्स्पष्टखेटाश्रयम् ते गोलाश्रयिणोऽन्तरेण गणितं गोलोपि न ज्ञायते तस्माद्यो गणितं न वेत्ति स कथं गोलादिकं ज्ञास्यति ।६। सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याये ।

* डाक्टर विलियम एन्ड फील्ड एल० एल० डी० साहब लिखते हैं कि गणित विद्या सब विद्याओं से उत्तम है और शिक्षा का प्रथम कारण है। देखो हिस्ट्री आफ़ फ़िलासफ़ी चेपटर १२ पृ० ३८३ ।

राजा ने अमुक काम किया था उससे उसको ऐसा और इतना लाभ होकर उसका परिणाम ऐसा हुआ था, बस ऐसे ऐसे उनके परिणामों को सोचकर ध्यान में रखने से मनुष्य अपने भावी हानि, लाभ के अनुमान द्वारा अनेक आपत्तियों से बच सकता है, एवं अपने अपने धार्मिक परोपकारी शूर-वीर पूर्वजों के सच्चरित्रों से मनुष्य धार्मिक परोपकारी और शूरवीर भी हो सकता है जैसे इन विद्याओं की मनुष्यमात्र को आवश्यकता है ऐसे ही साइन्स आदि अन्य विद्याओं की भी आवश्यकता है, अस्तु ये सार्वजनिक विद्यायें तो प्रत्येक बालक को यथायोग्य पढ़ानी ही चाहियें और विशेष विद्यायें उनकी पूर्वजों की जीविका और बालकों की अभिरुचि के अनुसार पढ़ानी चाहियें क्योंकि जिसके कुल में कुलपरम्परा से जस विद्या के द्वारा आजीवन होत: आया हो उसके गृह में जीविकावशात् उस विद्या के सब साधन विद्यमान रहते हैं तथा पिता आदि सम्बन्धी जिस कार्य्य को करते हैं उसी कार्य्य को बालक भी सीख लेता है और उस कार्य्य के सीखने में बालक को सुगमता भी होती है* अत: बालक को पूर्वोक्त क्रमानुसार विद्यायें पढ़ावें।

विद्याओं के सम्बन्ध में विचार करने से ज्ञात होता है

* हमारा यह सिद्धान्त कदापि नहीं है कि जिसके पिता आदि विद्याओं में योग्य न होने से अपनी उन्नति न कर सके इसलिये पुत्र भी उसी गर्त्त (गढ़े) में पड़ा रहे।

कि स्वस्व विषय में सभी विद्यायें उत्तम हैं और इनके अनेकानेक लाभ भी हैं परन्तु विद्याओं के वास्तविक लाभों को छोड़कर आजकल की लोकप्रवृत्ति के अनुसार विद्याओं का फल केवल आजीविका मानकर आजीवनार्थ ही विद्यायें पढ़ाई जायँ तो आजीवन भी विद्याओं से बहुत उत्तम प्रकार से होता है, देखिये थोड़े से मनुष्यों को छोड़कर शेष सब मनुष्य अन्न, कपास, रेशम आदि पदार्थों को उत्पन्न करने, देश देशान्तरों में पहुँचाने और इन वस्तुओं को बेचने आदि कार्यों में लगे हुए हैं, अब इन कार्यों को उत्तमता के साथ सिद्ध करने के लिये उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप (असलियत) जानकर तदनुसार उनकी व्यवस्था करने से लाभ और तद्विरुद्ध करने से हानि होती है, अतएव उन पदार्थों के गुणादि जानने के अर्थ विद्याओं की पराकाष्ठा की आवश्यकता है, जैसे कृषिकार और वणिक को कृषि और व्यापार करने में भावी लाभ का विचार करने के लिये।

(ऋ) तर्कविद्या* अत्युपयोगी है देखो—

मोहं रुणद्धि विमलीकुरुते च बुद्धि-
सूते च संस्कृतपदव्यवहारशक्तिम् ।
शास्त्रान्तराभ्यसनयोग्यतया युनक्ति

---

* अपरीचितप्रमाणैरपरामृष्टपदार्थसार्थतत्त्वैः अवशीकृतशब्दैरत्र युक्तिजालैरखनेतैरनधीततर्कविद्यैः ॥२॥ सुभा० प्र० २ ।

॥ तर्कश्रमो न तनुते किमिहोपकारम् ॥ ३ ॥

सुभा० प्र० २ ।

तर्क विद्या मनुष्यों के मोह का नाश, बुद्धि की वृद्धि, संस्कृत में निपुणता और व्यवहार शक्ति को उत्पन्न करने वाली तथा अन्य शास्त्रों के पढ़ने में साहाय्य की देनेवाली है, एवं कृषिकार और व्यापारी को गणित विद्या की भी आवश्यकता है जिसके विषय में हम पूर्व लिख आये हैं, इसी प्रकार कारीगरों के धन्धों में अंकगणित के सहित।

(ऌ) भूमिति (पैमाइश) की भी अपेक्षा है यदि कोई कहे कि अनपढ़ तक्षक (बढ़ई) आदि कारीगर भूमितिविद्या को नहीं पढ़े हैं परन्तु अटकलपच्चू अपना काम कर लेते हैं पुनः उक्त विद्या की क्या आवश्यकता है, तो इसका उत्तर यह है कि अनपढ़ कारीगरों के काम और शिल्प विद्याओं के पढ़े हुए शिल्पियों के काम में रात दिन का अन्तर है, देखो महाराज रामचन्द्रजी की लंका पर चढ़ाई (आक्रमण) के लिये विश्वकर्मा के पुत्र नल ने ५ दिन में **"दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम्"** ॥७२॥ वा० रा० यु० कां० स० ३२। दश योजन चौड़ा और १०० योजन लम्बा सेतु शिल्पविद्या से ही निर्माण किया था जैसे—

हस्तिमात्रान्महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः ।
पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च ॥ ५६ ॥

सूत्राण्यन्ये प्रगृह्णन्ति ह्यायतं शतयोजनम् ॥ ५८ ॥
नलश्चक्रे महासेतुं मध्ये नदनदीपतेः ॥
स तदा क्रियते सेतुर्वानरैर्घोरकर्मभिः ॥ ५९ ॥
दण्डानन्ये प्रगृह्णन्ति विचिन्वन्ति तथाऽपरे ।
वानरैः * शतशस्तत्र रामस्याज्ञापुरः सरैः ॥ ६० ॥

वा० रा० यु० कां० स० २२ ।

महाराजा रामचन्द्रजी की आज्ञा से अनेक वानर हस्ति के सदृश बड़े बड़े पत्थरों को यन्त्रों के द्वारा उखाड़ व उठाकर सेतु बांधने के लिये लाते हैं और अन्य वानर ज़मीन मापने की डोरी से इस किनारे से उस किनारे तक समुद्र को मापते है, कितनेक इस किनारे से उस किनारे तक डोरी मापने के डंडों को पकड़े खड़े हैं, एवं कितनेक पुल (सेतु) बांधने की सामग्री (सामान) को इक्ट्ठा कर रहे हैं और नल सेतु को बांध रहा है, इन प्रमाणों से सिद्ध है कि यदि शिल्पविद्या यन्त्रविद्या न होती और नल शिल्पविद्या न जानता होता तो ऐसा बिशाल सेतु बनना कब सम्भव था और जो अनपढ़ क़ारीगरहैं वे भी पिता पितामहादि

* वा विकल्पेन नरो वानरः, इस सेतु के काम करने वाले बन्दर नही थे क्योंकि बन्दरों से पुल बांधना लड़ाई करना आदि असम्भव है वास्तव में वे जंगली आदमी होंगे जैसे मेवाड़ के भील हैं अस्तु,

के द्वारा वा स्वबुद्धि से कुछ सीख कर काम करते हैं, जैसे अटक आदि नदियों के पुल बनाने वाले इञ्जिनियर पुल बनाने के लोह काष्ठादि सामान की लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई और मज़बूती को भूमिति शास्त्रानुसार अपने ध्यान में रखके पुनः पुल बनाते हैं, इसी प्रकार गांवठी सुतार भी गाड़ी रहेंट इत्यादि के सामान की लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई और मज़बूती को प्रथम अपने मन में विचार कर पुनः गाड़ी आदि को बनाता है परन्तु विद्वान् और अविद्वान् में भेद केवल इतना ही है कि विद्वान् पुरुष थोड़े व्यय (ख़र्च) और थोड़े समय में अच्छा दृढ़ (मज़बूत) सुथरा मनोहर और बहुत अधिक काम कर सकता है और अविद्वान् ऐसा नहीं कर सक्ता, अस्तु, जैसे खाती को भूमितिविद्या की आवश्यकता है ऐसे ही इञ्जिनियर, ओवरसियर, अमीन, लुहार, सुनार, सिलावट, कुम्हार, मनिहार आदि सब कारीगरों को भूमितिविद्या की आवश्यकता है, एवं नकशे, शहर की सड़क और रेलगाड़ी की सड़क बनाने में, रेल की पट्टियें बिछाने, पुल बांधने, आगबोट बनाने, समुद्र के किनारे पर पोतघाट (बन्दरगाह) आदि बनाने, पुतलीघर पेंच कारख़ाने बनाने आदि प्रत्येक कार्य्य में भूमितिविद्या की आवश्यकता है।

(ए) यन्त्रनिर्माणविद्या की आवश्यकता इसलिए है कि जो इस समय में कला कौशल्य उन्नत दशा को प्राप्त

हुआ है यह सब यन्त्रशास्त्र का ही प्रभाव है प्रत्येक कारखानों के सब के सब काम यन्त्र के ऊपर ही निर्भर हैं, खानों के सब पदार्थ यन्त्रों के द्वारा ही निकलते हैं, होका यन्त्र (कम्पास) के प्रभाव से समुद्रयात्रा बहुत सुगम होगई है इंगलैण्ड आदि सुधरे हुए देशों में खेत का बनाना, अनाज का बोना, काटना, झूड़ना, मलना, फटकना, झटकना, साफ करना, अनाज * का पीसना, आटे का छानना, गूंदना, रोटी बनाना, पकाना आदि सब काम यन्त्रद्वारा ही होते हैं, एवम् जिस गृह में आप बैठे हैं इसकी ईटें, लाट, कपाट खिड़कियें खूँटियें आदि पदार्थ सब यन्त्र द्वारा ही बने हैं, जिस कुरसी पर आप बैठे हैं वह कुरसी, आपके सामने की मेज़, उस पर का कपड़ा, छाता, क़लम, काग़ज़, स्याही, चाकू, कैंची तथा जिन कपड़ों को आप धारण किये (पहिने-बैठे हो) वे भी सब यन्त्रों से ही बनाये और सिये गये हैं, एवं तार, इञ्जिन, बन्दूक, तोप, उष्णतामापकयन्त्र आदि सब पदार्थ यन्त्रविद्या से ही निर्माण होते हैं, किम्बहुना जिस देश में यन्त्रविद्या की उन्नति होती है वही देश उन्नतिशील होकर अन्य देशों पर स्वाधिकार जमाता है इससे

---

* यदि इस लेख में सन्देह होय तो गासंपोट [हैम्पशायर इंगलैण्ड] शहर में अनाज भेज दो यन्त्र द्वारा बनी हुई रोटी आप के पास आजावेंगी ।

आप जान सकते हैं कि इस यन्त्र विद्या की मनुष्यों को कितनी आवश्यकता है।

(ऐ) पदार्थविद्या के प्रभाव से रेल, तार आदि अनेकानेक लाभदायक वस्तुओं की प्राप्ति हुई है तथा इसी पदार्थ विद्या के प्रभाव से रक्षणदीप का ज्ञान हुआ है जिससे पृथ्वी के अन्दर के ज्वालाग्राही पदार्थों का ज्ञान होकर अनेक मनुष्य मृत्यु भय से बचकर घासलेट आदि खनिज पदार्थों के परिज्ञान द्वारा अनेक प्रकार के सुख पा रहे हैं, एवं लोह चुम्बक के ज्ञान से भी अनेक प्राणियों के प्राण बचते हैं, पदार्थ विद्या से विश्व को इतने लाभ हुए हैं कि जिनको हम गिना नहीं सकते, इस विषय में इतना ही लिखना अलं-[काफी] समझते हैं कि पदार्थविद्या सब विद्याओं की माता है, किम्बहुना जो कुछ जगत् में उन्नति हुई है वह सब इसका ही प्रताप है, बस इससे आप जान सकते हैं कि पदार्थ विद्या की मनुष्यों को कितनी आवश्यकता और कितना लाभ है इसका विचार आप ही करें।

[ओं] दर्शनानुशासनशास्त्र जिससे चश्मे (ऐनक) बनाने आदि का ज्ञान होता है जिससे "वृद्धोऽपि तरुणायते" वृद्ध पुरुष भी तरुण के सदृश और मन्ददृष्टि [कमनज़र] वाला भी अच्छे प्रकार से देख सक्ता है, अणवीक्षण और दूरबीन से सूक्ष्म और दूर के पदार्थों का सुख से यथार्थ ज्ञान होना आदि अनेक लाभ इस विद्या से होरहे हैं।

[औ] रसायन विद्या से जगत् में अनेक उपकार होते हैं जैसे धोबी, रंगरेज़, लीलगर, चितरे [चित्रकार] आदि अनेक मनुष्यों का धन्धा केवल रसायन विद्या पर ही निर्भर है क्योंकि अमुक अमुक रँगों के मिलाने से अमुक प्रकार का रँग होता है और अमुक रँग में अमुक प्रकार की खटाई डालने से अमुक प्रकार का रँग बन जाता है इत्यादि रँगों का ज्ञान रसायन विद्या से ही होता है, तथा सोना चांदी तांबा पीतल लोहा पोलाद आदि धातुओं का रस रसायनशास्त्र के द्वारा ही बनाया जाता है और ऐसे ही बनाना भी चाहिये, एवं गुड़, सक्कर, साबुन, बारूद, इत्र अरक़, कांच, चीनी आदि के बरतन बनाने के कारख़ानों में तथा औषधालयादि [हास्पिटल] में और खेतों के अर्थ खात बनाने व पीने के जल की परीक्षा के लिए एवं अन्यान्य सब धन्धों में रसायन विद्या की आवश्यकता देखने में आती है:—आज कल के मूर्खलोग भ्रम कर चांदी का सोना बना देने आदि को रसायन समझने लग गये हैं। यह सृष्टि क्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या है, इसको रसायन विद्या नहीं कहते, अतएव पूर्वोक्त विद्या ही रसायन विद्या है।

(अं) भूगर्भविद्या से भूमि की बनावट, भूमि के बनाने का समय, भूमि के अन्दर की पिगली हुई ताँबा, चाँदी, सोना, लोहा आदि धातुओं का ज्ञान और भूकम्प क्यों और किस प्रकार से होता है, एवं पर्वत कब कैसे क्यों और

किन पदार्थों के बने हैं तथा ताँबा, सोना, चाँदी, लोहा, हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम, कोयला आदि सब खानिज पदार्थों की खानों का ज्ञान, एवं इनकी उत्तमता अधमता आदि का परिज्ञान भी होता है, अब आप जान सकते हैं कि मनुष्यों को इन खनिज (आकरज) पदार्थों की कितनी अपेक्षा और इनसे संसार का कितना उपकार होरहा है यह सब बुद्धिमानों को विदित ही है।

(अ:) कृषिविद्या से प्रत्येक किसान जान सकता है कि अमुक खण्ड की पृथ्वी इस प्रकार की है और अमुक क्षेत्र में अमुक प्रकार का खाद डाला जाय व अमुक अन्न बोया जाय तो अन्न की उपज अच्छी हो सकती है जैसे कृषिविद्या को न जानकर कृषि करने में बीज नाश होने, अन्न को कीड़े आदि रोग लगने, और अन्न की कम उपज होने आदि अनेक हानियें होती हैं, परन्तु यदि इस विद्या को जानकर खेती करें तो ऐसी हानियें कभी नहीं हो सक्तीं, एवं इस विद्या को न जानकर खेती करने से यदि एक बीघे में पाँच मन अन्न पैदा हो और उसी बीघे में कृषिविद्या के अनुसार अनाज बोया जाय तो उससे कई गुना अधिक अन्न उत्पन्न हो सकता है, अब आप विचार करें कि इस विद्या के जानने से कितना लाभ है जिस खेती के ऊपर मनुष्यमात्र का जीवन निर्भर है, और विशेषतः इस देश-वासियों का, उस कृषिविद्या की इस देशवासियों को कितनी

आवश्यकता है इस बात को सिद्ध करने के लिये किसी वेद-मन्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

(क) भूपृष्ठवस्तुविद्या जिससे नदी, नाले, बरफ़, ओला बनने, जल बरसने, समुद्र का ज्वार भाटा आने और पर्वतादि के स्वरूपान्तर होने का ज्ञान तथा पृथ्वी की पीठ पर क्या क्या पदार्थ होते हैं इत्यादि अनेक प्रकार का ज्ञान होता है।

(ख) भाषापरिज्ञान की आवश्यकता इसलिये है कि इससे पदार्थ का बोध अति शीघ्र होता है तथा देश देशान्तरों में जाकर मनुष्य व्यापारादि से अनेक लाभों को उठा सकता है, अतः मनुष्यों को न्यून से न्यून दो भाषा तो अवश्य पढ़नी चाहियें एक तो धर्मभाषा दूसरी राजभाषा। धर्मभाषा के पढ़ने से मनुष्य धर्म से अपरिचित (ग़ाफ़िल) नहीं रहता और राजभाषा से मनुष्य को राज्यसम्मान जगत में प्रतिष्ठा और राज्यव्यवहार में प्रवीणता होती है।

(ग) काव्यविद्या से किसी विषय को पद्यबन्ध कर दिया जाय तो वह विषय कण्ठस्थ हो सकता है प्रथम के बने हुए पद्यादि ग्रन्थों के अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है एवं कवि होके कविता उत्तम बनावे तो संसार का उपकार और अपना नाम जगत् में होता है*।

---

* याता यान्ति च यातारो लोकाः शोकाधिका भुवि।
काव्य सम्बन्धिनि कीर्त्तिः स्थायिनी निरपायिनी ॥ ३ ॥
सुभा० प्र० २।

(घ) अलंकार से काव्य की शोभा होती है और एक विषय को अनेक प्रकार से वर्णन् करने व समझाने की शक्ति प्राप्त होती है।

(ङ) छन्दशास्त्र से काव्यरचना का ज्ञान होता है।

(च) चित्रविद्या से सब पदार्थों का चित्र (नक़्शः) उतार सकते हैं जिससे अनेक कार्य होते हैं।

(छ) वक्तृत्वविद्या से मनुष्य अपने अभिप्राय को यथार्थरूप से वर्णन् कर सकता है, इसकी आवश्यकता मनुष्यमात्र को है, परन्तु वकील, मास्टर और वक्ता (लेक्चरार) का तो इस पर जीवन ही निर्भर है, इसलिये वेद में प्रतिपादन किया है कि—

वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यः ॥ १ ॥

अ० कां० २० अ० ७ व० ८९

विद्वान् तथा व्यापारी वाणी से तरते हैं।

(ज) गान (झ) वाद्य (ञ) नृत्य।

(ट) नाटकादि से चित्त की प्रसन्नता कुछ? चतुराई [होशियारी] और मनुष्य में रसिकता भी आती है।

(ठ) अर्थशास्त्र जिससे मनुष्य को धनोपार्जन करने की युक्ति आती है।

(ड) धनुर्विद्या अर्थात् युद्ध जिसके प्रभाव से राज्य प्राप्ति स्थिति और प्रजा का पालनादि होता है इसका विस्तार तथाः—

(ढ) राजपद्धतिविद्या अर्थात् क़वायदक़ानून, एवम्—

(ण) राजनीति आदि विद्याओं को हम राज्यप्रकरण में लिखेंगे।

(त) खगोलविद्या से स्वस्थ पदार्थों की गति, गति का नियम, उदय, अस्त, व ग्रहों की लम्बाई, चौड़ाई, ग्रहण और इनकी परम्परा की दूरी आदि का ज्ञान होता है।

(थ) वैद्यकविद्या (डाक्टरी) जिससे मनुष्य अनेक भयंकर रोगों और अकालमृत्यु से बचते हैं तथा शरीर के बाह्याभ्यन्तरीय अवयव, तथा शरीर की उत्पत्ति व आयुकी वृद्धि, क्षय, परिमाणादि का ज्ञान होता है जिसकी आवश्यकता मनुष्यों को ही नहीं किन्तु प्राणीमात्र को है जिसके अध्ययन से अनेकानेक फल हैं जोकि बहुधा सब मनुष्यों को प्रत्यक्ष ही हैं इसलिये इसका वर्णन् करने में हम अधिक प्रयास नहीं करते।

(द) विमानविद्या जिससे मनुष्य सुखपूर्वक आकाश देश ही में वन उपवन वाटिका गिरि समुद्रादि को उलंघन करता हुआ जा सकता है, इस विद्या का प्रचार पूर्वकाल में आर्य्य लोगों में था, देखो ऋग्वेद अ० २ अ० ३ २३ व० व० २४ए, वम् वालमीकीय रामायण युद्धकाण्ड सर्ग १२४।

(ध) आकृतिविद्या जोकि चरक विमानस्थान अध्याय ८ में और सुश्रुत शारीरास्थान अ० ४ में है, इस विद्या से मनष्यादि प्राणियों की आकृति को देखते ही परिज्ञान हो

जाता है कि यह प्राणी दुष्ट, छली, कपटी और क्रूर है वा दयालु, धार्मिक, परोपकारी, अहिंसक है, प्राणियों के स्वभाव का ज्ञान होजाना, मनुष्यों को कितना सुखदायक है, इसका विचार आप ही करें।

(न) सृष्टिक्रमविद्या से मनुष्यों को सृष्टि के पदार्थों का अनुभव तथा सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई इसका बोध होता है, एवम् इस विद्या से मनुष्य निर्भ्रम हो जाने के कारण से वह मिथ्या धर्मादि के जाल में नहीं फँस सकता, इतना ही नहीं किन्तु इस विद्या के पढ़नेवाले के हृदयाकाश में असम्भव बातों के लिये स्थान नहीं रहता तथा वह प्रत्येक पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है और जान भी लेता है जिससे उसके हृदय में सन्तोष होता है।

(प) लोकव्यवहारविद्या इस विद्या के पढ़ने के लिये किसी पुस्तक की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संसार में क्या क्या कार्य्य हो रहे हैं, बाजार में गेहूं घृतादि का भाव क्या है, कौन कौन से मनुष्य क्या क्या काम कर रहे हैं, देश-देशान्तरों में क्या क्या वस्तु इस साल उपजी हैं और राज्य का चक्र कैसा चल रहा है, बाजार की रुख क्या है, एवम् अन्यान्य सब सांसारिक व्यवहारों को जानना ही लौकिक व्यवहार विद्या है।

(फ) सम्पत्तिशास्त्र (पोलिटिकल एकोनमी) इस विद्या

के अनुसार यदि व्यापार किया जाय तो हानि कम और लाभ अधिक होना सम्भव है।

(ब) रेखागणित, (भ) बीजगणित।

(म) शून्यलब्धिगणित। (य) सरलरेखा त्रिकोणमिति।

(र) वक्ररेखा त्रिकोणमिति। (ल) स्थैर्य्यविज्ञान विद्या।

(व) गतिविज्ञान विद्या। (श) शिल्प विद्या।

(ष) जलविज्ञान विद्या। (स) जलस्थैर्य्यविद्या।

(ह) एवं जलगतिविद्या, वायुविद्या, शरीरविद्या अर्थात् कितने प्रकार के प्राणियों के शरीर हैं, गौ अश्वादि प्राणी उत्तम, मध्यम परीक्षणविद्या, कृमिविद्या, जलप्राणिविद्या, वनस्पतिविद्या, * विद्युत्विद्या, आत्मविद्या, इसी प्रकार और भी विद्याएं हैं जो कि वेदादि सत्शास्त्रों के द्वारा जानी जा सक्ती हैं, ग्रंथविस्तारभय से सब नहीं लिख सकते, आशा है कि सुधी पाठक इतने से ही अधिक कहा कर लेंगे, इन विद्याओं के पढ़ने के लिये विद्यार्थी समय-विभाग करके विद्याध्ययन करें, विद्यार्थियों के समय-विभाग के विषय में विद्वानों (फ़िलासफ़रों) के भिन्न-भिन्न मत हैं उन में से उदाहरण (नमूने) के लिये यहां पर एक दो मत प्रकाशित करते हैं जैसे रात दिन के २४ घन्टे होते हैं इन में से ९ घंटे बालक के सोने और

* पृथ्वी पर कितने प्रकार के वृक्ष हैं और कौन सी पृथ्वी में किस प्रकार के वृक्ष हो सक्ते हैं इत्यादि ज्ञान जिस से होवे।

बहुत छोटे बालक के १० घंटे सोने के लिए, ९ घंटे पाठशाला में पढ़ने व और धंधे के लिए, बड़े लड़के को अपने निवासस्थान में यथेच्छा पढ़ने व लिखने के लिये ३।। और छोटे लड़के को स्वालय में पढ़ने लिखने के लिये २।। घंटे, भोजनादि व्यवहार के लिये १।। घंटा, हवा खाने व्यायामादि के लिये १ घंटा, इस प्रकार २४ घंटे होते हैं, एवं अन्य विद्वानों का इस विषय में ऐसा सिद्धान्त है कि ६ बजे प्रातःकाल बालक उठे ६ से ७ बजे तक आवश्यक कृत्य, ७ से ८ बजे तक कुछ विद्याभ्यास, ८ से ९ बजे तक ईश्वरोपासना भोजनादि ९ से १२ पर्य्यन्त विद्याभ्यास १२ से १। सवा बजे तक छुट्टी, सवा बजे से २ बजे तक कुछ भोजन जलपानादि २ बजे से ५ बजे तक विद्याभ्यास ५ से ६ बजे विहरणादि, ६ बजे से ८।। बजे तक स्वयं विद्याभ्यास साढ़े आठ बजे से साढ़े नव बजे तक भोजनादि व्यवहारों से निवृत्त होकर सोजाना पुनः इसी क्रम से ६ बजे उठकर पूर्ववत् सब कामों को करे, इसी प्रकार विद्यार्थियों के समय विभाग में अन्यान्य विद्वानों का भी सिद्धान्त है; परन्तु इस विषय में हमारी सम्मति तो यह है कि शीतोष्णादि देश काल और बालक की शारीरिक शक्ति को देखकर समयविभाग करना समुचित है, एवं माता पिता; आचार्य्य और मुख्य करके पढ़ने वाले बालक को उचित है कि बाल्यावस्था का समय व्यर्थ व्यय न होनें देवे क्योंकि

बाल्यावस्था में जैसी विद्या आती है बड़े होने पर नहीं आ सक्ती इस लिए विद्याभ्यासार्थ इस सर्वोत्तम समय को हाथ से न जाने देकर जिस विद्या को पढ़े उसको सार्थ सङ्गोपाङ्ग अच्छे प्रकार से पढ़े, जिससे कि परीक्षा (इम्तिहान) में परीक्षोत्तीर्ण (पास) होजाये, जो बालक चित्त लगाकर नहीं पढ़ते वे परीक्षोत्तीर्ण नहीं होते जैसा कि व्याकरणमहाभाष्यकार ने प्रतिपादन किया है किः—

समानमीहमानानाश्चाधीयानानाश्च केचिदर्थैर्युज्यन्ते अपरे न तत्र किमस्माभिः कर्त्तुं शक्यम् स्वाभाविकमेतत् ॥ महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० ६ सू० ३८

समान पढ़ने और परीक्षोत्तीर्ण (पास) होने को चाहने वाले विद्यार्थियों में से अनेक पास होजाते हैं और और अनेक परीक्षोत्तीर्ण (प) नहीं होते जो परीक्षोत्तीर्ण [पास] नहीं होते हैं उन में भाष्यकार कहते हैं कि हम कुछ भी नहीं कर सकते क्योंकि पास होना न होना विद्यार्थियों के स्वभाव पर निर्भर है जो विद्यार्थी बुद्धिमान् चित्त लगाकर पढ़ता है वह पास होजाता है और जो मूर्खविद्यार्थी चित्त लगाकर नहीं पढ़ता वह पास नहीं होता, अतः सब विद्यार्थियों को समुचित है कि खूब मन लगाकर पढ़ा करें, तथा दम्भ, कपट, छल, पाखण्ड, कुसङ्गादि को परित्याग करकेः—

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामन्त पोवृध्द्ध्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

मनु० अ० २।

विद्यार्थी गुरुकुल में वास करता हुआ जितेन्द्रियता-पूर्वक विद्याध्ययनरूप तप की वृद्धि के लिये इन नियमों का सेवन करे, वे नियम ये हैं कि:—

शान्तः १८। दान्तः १९। ह्रीमान् २०। दृढ-धृतिः २१। अग्लास्नुः २२। अदिवास्वापी २४॥

आप० धर्म्मसू० प्र० प० १ खं० २।

ब्रह्मचारी सर्वदा शान्तस्वभाव रक्खे, दान्त-दमनशील-विद्याध्ययन के क्लेश को सहन करने वाला, लज्जावान्, दृढ़ धैर्य्यवान्, किसी प्रकार की हानि होने पर न घबराने वाला, विद्याध्ययन में ग्लानि कभी न करने वाला और दिन में कभी न सोने वाला हो तथाः—

मैथुनं १७। मधुमांसे० २३। गो० गृ० सू० प्रपा० ३कं० २।

ब्रह्मचारी को मैथुन, मांस, मद्यादि दुष्ट पदार्थों का सेवन कभी न करना चाहिये। एवम्ः—

स्वाध्यायधृग्धर्मरुचिस्तपस्व्यृजुर्मृदुः सिद्ध्यति ब्रह्म-चारी ॥ २९ ॥ आपस्तं० धर्मसू० प्र० १ प० १ खं० ४।

विद्याध्ययन * करता हुआ स्वधर्मनिष्ठ, तपस्वी, सरल,

---

* द्यूतं पुस्तकवाद्ये च नाटकेषु च सक्तिता। स्त्रियस्तन्द्री च निद्रा च विद्याविघ्नकराणि षट् ॥ २०५ ॥ सुभा० प्र० ३

कोमल स्वभाव आदि लक्षण जिस ब्रह्मचारी में होते हैं वटु कृतकार्य्य होसकता है, इसलिये सरल व नम्र ही ब्रह्मचारी को होना चाहिये तथा:—

शिष्यं ब्रूयात् कामक्रोधलोभमोहमानाहंकारेर्ष्यापारुष्यपैशून्यानृतालस्यायशस्यानि हित्वा नीचनखरोम्णा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रतब्रह्मचर्य्याभिवादनतत्परेणावश्यं भवितव्यं मदनुमतस्थानगमनशयनासनभोजनाध्ययनपरेण भूत्वा मत्प्रियहितेषुवर्तितव्यं सतोऽन्यथा ते वर्त्तमानस्याधर्मो भवत्यफला च विद्या न च प्राकाश्यं प्राप्नोति अहं वा त्वयिसम्यग्वर्तमानेयद्यन्यथादर्शी स्यामेनोभाग् भवेयमफलविद्यश्च ॥ सुश्रु० सू० अ० २

आचार्य्य (गुरु) शिष्य को कह देवे कि नीचे लिखे कामों को तू कभी मत कर और शिष्य को भी चाहिये कि जो नीचे लिखे हैं इन सर्व कामों का परित्याग करे। यथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहंकार, ईर्षा, (पारुष्य) कटुवाक्य, चुगली, झूठ, आलस्य, निन्द्य कर्म आदि तथा छोटे छोटे नख केश और शुद्ध कषाय वस्त्र रक्खे और उत्तम पुरुषों का सत्कार करता हुआ सच्चे ब्रह्मचर्य्यव्रत को धारण कर विद्याध्ययन में तत्पर रहे, तथा विद्यार्थियों के स्थान, शयन, पठन, छात्रालय से बाहर जाने आदि सर्व

व्यवहार अध्यापक की आज्ञानुसार* होने चाहियें एवम् गुरु शिष्यों की परस्पर ऐसी प्रतिज्ञा भी होनी चाहिये कि हे शिष्य ! यदि तू इन नियमों के विरुद्ध चलेगा तो तेरा ब्रह्मचर्य्याश्रम का धर्म नष्ट होजायगा और इन नियमों के विरुद्ध चलने से विद्या की सफलता और विद्या की प्राप्ति भी न होगी, इसी प्रकार गुरु भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी यदि किसी प्रकार तुम से विपरीत वर्ताव करूँगा तो पाप होऊँगा और मेरी विद्या भी सब निष्फल जायगी, इस विषय में मनुस्मृति में भी लिखा है कि—

सत्यधर्मार्य्यवृत्तेषु शौचे चैवाऽऽरमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥१७५॥
मनु० अ० ४ ।

विद्वान् अध्यापक को योग्य है कि सत्यधर्म और आर्य पुरुषों के सदाचार तथा (शौच) मन वचन काया की शुद्धि रखने में सर्वदा प्रीति करे तथा शिष्यों को धर्म से (अर्थात् पढ़ानेवाले आचार्य्य के पढ़ाने की रीति के अनुसार) प्रीति-पूर्वक पढ़ावे, छात्रों को वाणी से कभी कटुवचन, कुशिक्षा और गाली आदि न देवे, एवम् विद्यार्थी पर हस्तादि से प्रहार भी कभी न करे, जैसे कितनेक अध्यापक अपने उद-

---

* आचार्य्याधीनो भवानन्यत्र धर्माचरणात् ॥१२॥ गोभि० गृ० सू० ३ कं० २ । धर्माचरण से अतिरिक्त सब कामों में गुरु के आधीन होना चाहिये ।

रपोषण के लिये विद्यार्थियों से साम, दाम, दण्ड, विभेद से विद्यार्थी को अपना बनाकर उसके पास से धन ठग लेते हैं। कितनेक कुगुरु विद्यार्थी को कुछ थोड़ी सी चीज़ देकर उस को ठग लेते हैं, कितनेक आचार्य्याऽभास विद्यार्थी को जब मारते-पीटते हैं तब वह ग़रीब बहुत मार के भय से उस कुत्सित आचार्य्य को कुछ देकर अपने प्राण बचाता है, कितनेक दुष्ट उपाध्याय विद्यार्थियों को आपस में लड़ाकर अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं, कितनेक क्रूर शासक अन्य विद्यार्थियों की (पठननिवृत्ति) छुट्टी के पश्चात् किसी धनिक विद्यार्थी को छुट्टी न देकर अपना प्रयोजन बना के फिर उसको छुट्टी देते हैं, ऐसे ऐसे अनेक कुबर्त्ताव विद्यर्थियों के साथ मूर्ख, स्वार्थी, कुगुरु किया करते हैं परन्तु ऐसे ऐसे दुष्ट व्यवहार पढ़ानेवाले कभी न करें किन्तु—

पुत्रमिवैनमनुकाङ्क्षन्सर्वधर्मेष्वनपच्छादयमानः सुयुक्तो विद्यां ग्राहयेत २५ न चैनमध्ययन विघ्नेनात्मार्थेषूपरुन्ध्यादनापत्सु २६ आचार्योऽप्य नाचार्य्यो भवति श्रुतात्परिहरमाणः ॥ २८ ॥

आपस्तं० धर्म० सू० प्र० १ प० २ खं० ८।

पुत्रवत् विद्यार्थी को रक्खे कोई बात इससे न छुपावे और अच्छी तरह से विद्यार्थी को विद्या पढ़ावे, कभी भी गुरु अनापत्काल में अपने लाभ (फ़ायदे) के लिये

विद्यार्थी को और काम में न लगावे जैसे आजकल के गुरु विद्यार्थियों से सब अपने घर के काम कराते हैं ऐसा कभी न करना चाहिये, गुरु (आचार्य्य) को जो जो विद्यायें आती हों उन विद्याओं को शिष्य से छुपा रक्खे और शिष्य को न पढ़ावे तो वह आचार्य्य नहीं है किन्तु वह अनाचार्य्य है इसलिये प्रत्येक आचार्य को उचित है कि छल कपट दुराग्रह दुष्टभाव को परित्याग करके पुत्र के समान विद्यार्थियों के साथ वर्ताव करें, एवम् विद्यार्थी भी गुरु के साथ यथावत् वर्ताव करें, जैसा कि निरुक्त में लिखा है कि—

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णाविदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् तं मन्येत पितरं मातरञ्च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥

नि० पू० अ० २ पा० १ खं० ७

[यः] जो [आतृणत्ति] खोलता है कानों को [अवितथेन] सत्य विद्योपदेश से [अदुःखं कुर्वन्] दुःख को न देता हुआ और [अमृतं सम्प्रयच्छन्] विद्यारूप अमृतसुख को देता हुआ [तम्मन्येत पितरम्मातरञ्च] उस आचार्य्य को ही पिता माता के समान मानना चाहिये [तस्मै न द्रुह्येत्] उस आचार्य को कभी दुःख न दे, प्रयोजन यह है कि गुरु के साथ विद्यार्थी कभी छल कपट पाखण्ड दम्भ अहंकार न करे, तथा—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचामनसाकर्म्मणावा

यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

नि० पू० अ० २ पा० १ खं० ७।

जैसे विद्याध्ययनावस्था में प्रीतिपूर्वक गुरु का आदर करे, ऐसे ही विद्या पढ़ने के पश्चात् भी गुरु का मन वचन काया से आदर करना चाहिये, ऐसे ही गुरु भी शिष्य को सदा आदर सम्मान व सुप्रीति से विद्याध्ययन कराया करे और शिष्य भी प्रति दिन यथायोग्य निरन्तर ही विद्याभ्यास किया करे, जैसे मनुजी ने लिखा है कि—

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ॥१७॥

मनु० अ० ४।

ब्रह्मचारी दुर्व्यसन कुलक्षणादि विद्या के विरोधी अर्थों का परित्याग करके—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥१००॥

मनु० अ० २।

इन्द्रियों को वश करके मन को जीतकर युक्ति से सर्व कार्यों को करे, ब्रह्मचारी को उचित है कि शरीर को दुःखित व दुर्बल कदापि न होने दे क्योंकि यदि ब्रह्मचारी का शरीर रोगी, दुःखित व दुर्बल अथवा निर्बल हो जाय तो वह विद्याध्ययनादि अपने काम में कृतकार्य (कामयाब) न हो सकेगा, इसलिये ब्रह्मचारी को अत्यध्ययन अजितेन्द्रियत्व

लघुभोजन तथा उपवासादि से शरीर को निर्बल कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि—

न ब्रह्मचारिणो विद्यार्थस्य परोपवासोस्ति ॥१७॥

आपस्त० ध० सू० प्र० १ प० १ खं० २

ब्रह्मचारी को विद्या के सिवाय और उपवादि करना शास्त्र विरुद्ध है एवं—

चोदितोगुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ॥
कुर्य्यादध्ययने यत्नमाचार्य्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

मनु० अ० २।

विद्यार्थी को गुरु (मास्टर) पढ़ने की आज्ञा दे अथवा न दे तो भी पढ़ने और गुरु के हित करने में किंचित् मात्र भी विलम्ब न करे क्योंकि उक्त कार्य्यों में गुरु की आज्ञा की आवश्यकता नहीं है देखो :—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यिके ॥
नानुरोधोस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥

मनु० अ० २

जो वेद के उपकरण अर्थात् वेदार्थ के साधन व्याकरणादि तथा जिस विद्या को प्रतिदिन विद्यार्थी पढ़ता है इनके पढ़ने के अर्थ अनध्याय (तातील) कभी भी नहीं है ऐसे ही होम व मन्त्रोच्चारण के लिये भी अनध्याय नहीं है, अतः स्वाध्याय नित्यकर्म है, स्वाध्याय की प्रशंसा वेदादि सर्व सत्शास्त्रों में भली भांति लिखी है, तद्यथा :—

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतम् रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥ ३२ ॥
ऋ० अ० ७ अ० २ व० १९

जो पवित्र विद्या का अध्ययन करता है उसको वह विद्या दुग्ध घृतादि सर्व पदार्थों की प्राप्ति कराती है, ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि—

अथातः स्वाध्यायप्रशंसा प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधिनोऽहरहरर्थान् साधयते सुखꣳ स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः प्रज्ञा च वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ॥
श० कां० ११ प्र० ४ ब्रा० ९ कं० १ ।

विद्या के पढ़ने और जो कुछ पढ़े उसका यथार्थ अर्थ जानने से पुरुष का मन बड़ा प्रबल ज्ञानयुक्त हो जाता है और विद्या पढ़ने वाला किसी पुरुष के आधीन नहीं रहता अर्थात् स्वतन्त्र हो जाता है तथा नाना प्रकार के कला कौशलादि धन उपार्जन के हेतुभूत पदार्थों को व अनेक पदार्थविद्याओं को सिद्ध करता है अपनी नींद से सोता और जागता है अर्थात् सर्वदा सुखी रहता है पूर्ण आत्मा का उसको ज्ञान हो जाता है व अपनी इन्द्रियों को जीतता है और परम सुखी होता है उसके सुख का नाश कोई भी

नहीं कर सकता और बुद्धि भी उसकी बढ़ जाती है और पढ़ने से पुरुष पवित्र व लोक में यश का भागी होता है तथा मनुष्य को अर्थ धर्म काम और मोक्ष की प्राप्ति भी पढ़ने से ही होती है, एवम् विद्या के मनन करने से ही मनुष्य ब्राह्मण होता है, एवम्—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ॥
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

मनु० अ० २

जो विद्यार्थी पढ़ने की रीति से एक वर्ष तक विद्याभ्यास करे तो उसको वही विद्या दूध के समान पालन करने वाली दधि के समान शीतलता देने वाली, घी के समान बल देने वा पुष्ट करने वाली, सहत के समान नीरोग निर्मल तथा मृदुस्वभावयुक्त कर देने वाली होती है, किंवा एक वर्ष भर भी जो विद्या पढ़ता है उस ब्रह्मचारी को उस विद्या के प्रभाव से दुग्ध घृतादि सर्व पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है एक वर्ष तक विद्या पढ़ने का यह फल है तो अधिक काल तक विद्याध्ययन का फल तो अनन्त ही है, एवम्—

स्वाध्यायधर्मेण तपस्वी पुण्यो भवति, तपस्वी पुण्यो भवति ॥ तैत्तिरीय आ० प्र० १।

इसी प्रकार स्वाध्यायरूप पुण्य से तपस्वी पुण्यात्मा होता है इसलिए प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि प्रतिदिन स्वाध्याय करता रहे क्योंकि :—

नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥५॥

महा० शां० व० अ० ११०।

नित्य स्वाध्याय करने वाला पुरुष महान् दुःखों से पार हो जाता है और:—

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ॥

तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥२०॥

मनु० अ० ४।

जैसे जैसे पुरुष विद्या को पढ़ता है वैसे वैसे उसका ज्ञान बढ़ता जाता है और वह पुरुष विद्याभ्यास करने से विद्वान् होजाता है, संसार में विद्वान् और अविद्वान् दो ही प्रकार के पुरुष हैं इनमें से विद्वान् पुरुषों को ही वेद धन्य-वादार्ह कहता है यथा:—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो

यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते

भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ २ ॥

ऋ० अ० ८ अ० २ व० २

जैसे चालनी से छान कर आटे को साफ करते हैं वैसे मनरूप चालनी से सार्थक विद्या को पढ़कर जिन्होंने अपनी वाणी रूप आटे को शुद्ध किया है वे बुद्धिमान् पुरुष विद्वानों की सभा में युक्त पवित्र, निश्चित और सत्यवाणी को

परस्पर बोलते हैं जो उनके सदृश विद्वान् हैं वे ही उनकी विद्वत्तायुक्त वाचा को जानते हैं इतर मूर्ख उनकी बात को नहीं समझ स उन विद्वानों की वाणी में ही कल्याणकारक लक्ष्मी भी बसती है, तथा:—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्।८

ऋ० अ० ८ अ० २ व० २३।

जिस पुरुष ने सार्थक सब विद्याओं का यथावत् अध्ययन किया है और उन विद्याओं के अभिप्राय को अच्छी तरह से जानलिया है वही पुरुष विद्वानों की सभा में मान पाता है और उस पुरुष का विद्वान् लोग सभा में शास्त्रार्थ उपदेश व वाग्विलासादि करने से तिरस्कार कभी नहीं करते और जो अविद्वान् है वह निर्थक दन्तकथा बकवाद करता फिरता है जैसे बन्ध्या गौ में दुग्धरूप सार नहीं होता वैसे अविद्वान् की वाणी में कुछ भी (तथ्य) सार नहीं होता और अविद्वान का बोलना भी सर्वथा निष्फल है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को समुचित है कि परिश्रम से विद्याध्ययन करके विद्वान् हो, क्योंकि:—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तस्मै देवा उपसन्नमन्तु।१।

अथर्व० कां० १९ अनु० ५ व० ४१

सुख को जानने वाले व कल्याण को चाहने वाले सूक्ष्मदर्शीजन प्रथम अवस्था में सत्यभाषण जितेन्द्रियादि तप व विद्या प्राप्ति की हेतु दीक्षा को सेवन करते हैं जिस तप तथा दीक्षा से राज्य बल और ओज प्राप्त होता है ऐसे जो योग्य विद्याभ्यास करके विद्वान् हुए हैं उन जनों का ही विद्वानों को सत्कार करना उचित है ऐसे ही :—

यो वै ब्राह्मणानामनुचानतमः स एषां वीर्य्यवत्तमः ॥

शा० कां० ४ प्र० ५ ब्रा० ८ कं० ५

जो ब्राह्मणों में विद्वान् होता है वही इनमें श्रेष्ठ गिना जाता है इसी प्रकार निरुक्त में लिखा है कि—

भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥ नि० पू० अ० १ पा० ५ खं० २

पूर्ण विद्वान् ही प्रशंसनीय होता है। एवं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ॥ ६ ॥

क० उप० बल्ली० ३

जो पुरुष विद्वान् होता है जिसका मन विद्यायुक्त है उसी पुरुष को इन्द्रियाँ वश में होती हैं जैसे सिखाये हुए घोड़े सारथि के वश में रहते [redacted]और जो विद्वान् होता वही विचारवान् होता है और सर्वदा वह काय, मन, वाणी से शुद्ध ही रहता है, इसी प्रकार मनुस्मृति में भी लिखा है कि—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥
मनु० अ० १२

सेनापति, राजा, फ़ौजदारी का काम व दीवानी का काम तथा सर्व लोकों का राज्य इन सब उच्च पदों के योग्य वेदविद्याओं के जाननेवाले हो सकते हैं, एतदर्थ सज्जनों को मुचित है कि पूर्वोक्त स्थान पर विद्वानों को ही नियत करें इसी प्रकार मनुजी ने द्वितीयाध्याय में लिखा है कि—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योनूचानः स नो महान् ॥१५४॥
मनु० अ० २

मनुष्य न तो वर्षों से न सुफ़ेद केश होने से न धन से और न भ्राताओं से बड़ा हो सकता है किन्तु ऋषियों ने यह नियम स्थिर किया है कि जो विद्वान् है वही पुरुष हम सब से बड़ा है, ऐसे ही—

विद्वत्त्वं च नृपत्वंच नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशेपूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥ ५९ ॥
पंच० तंत्र० २

विद्वान् और राजा ये दोनों समान ही हैं क्योंकि राजा का सम्मान केवल स्वराज्य में ही होता है परन्तु विद्वान् का सम्मान तो सर्व देशों में होता है, एवं पुरुषपरीक्षा में भी लिखा है कि—

सविद्यः पुरुषः श्रेष्ठो यत्र कुत्रापि तिष्ठति ।
तत्रैव भवति श्रीमान् पूजापात्रं च भूभुजाम् ॥ ५ ॥

विद्वान् पुरुष ही श्रेष्ठ होता है वह कहीं रहे सर्वत्र ही राजाओं का पूजनीय व धनादि पदार्थयुक्त होता है जो जो संसार में उत्तम कार्य किये हैं वे विद्वानों ने ही किये हैं और करेंगे भी, इस विषय को हम पूर्व कुछ दर्शाय आये हैं यहाँ केवल इतना ही कथनीय है कि जो ब्रह्मचर्य धारण करके विद्याभ्यास करता है वही पुरुष विद्वान् होता है जो विद्या नहीं पढ़ता वह पुरुष महामूर्ख, जड़ निरक्षर, भट्टाचार्य्य, लण्ठ, भारती और अज्ञानी रहता है और वह पुरुष अधम है वह संसार में कुछ भी नहीं कर सकता है, यथा—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत
त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव
पत्य उशती सुवासाः ॥ ४ ॥

ऋ० अ० ८ अ० २ व० २३

जो अविद्वान् हैं वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते; अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्यावाणी के रहस्य को नहीं जान सकते किन्तु जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध का जानने वाला है उस विद्वान् के लिये विद्या भी अपने स्वरूप का वैसे ही प्रकाश करती है, जैसे सुन्दर वस्त्र

आभूषण धारण करके अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपने शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है, अविद्वानों के लिये ऐसा नहीं, एवं मूर्खों का व्यवहार विद्वानों से विरुद्ध होता है, यथा—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाऽश्वा इव सारथेः ॥५०॥

क० उ० वल्ली० ३

जो अविद्वान् है उसका मन कभी स्थिर नहीं होता, ऐसा जो अविद्वान् (मूर्ख) उसका बुद्धिरूप सारथि (कोचवान) अच्छा न होने के कारण इन्द्रियरूप घोड़े उसके वश में कभी नहीं रहते, इन्द्रियें वश में नहीं रहने का फल यह होता है कि—

यस्त्वविज्ञानवान भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

क० उ० अ० वल्ली० ३

अविद्वान् सर्वदा ही विचारशून्य और मन वचन काय से अशुद्ध रहता है और न वह उत्तम परम मुख्य पद को पा सकता है किन्तु सर्वदा ही अविद्वान् पुरुष संसार के दुःखों को भोगता रहता है, एवम्—

लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

छां० उ० प्र० ८ खं० ६

विद्वानों की सूर्य्यादि सर्व लोकों में गति होती है परंतु अविद्वानों की कभी नहीं, एवम्—

वरं गर्भस्रावो वरमृतुषु नैवाभिगमनम्,
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता ॥
वरं वन्ध्या भार्य्या वरमपि च गर्भेषु वसति,
र्नचाविद्वान् रूपद्रविणगणयुक्तोपि तनयः ॥ ५ ॥

पंच० प्र०।

मूर्ख पुत्र के उत्पन्न होने से गर्भ का गिरना, स्त्री से ऋतुकाल पर समागम न करना, मूर्ख पुत्र का उत्पन्न होकर मरजाना, लड़की का ही पैदा होना, स्त्री का बन्ध्या (बांझ) रह जाना, अथवा मूर्ख पुत्र का गर्भ से बाहिर न आना ही अच्छा है परन्तु रूप, धन आदि अनेक वैभवयुक्त भी अविद्वान् (मूर्ख) पुत्र उत्पन्न न हो यही उत्तम है क्योंकि:—

पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः ।
वानरेण हतो राजा विप्राश्चौरेण रक्षिताः ॥४५१॥

पंचतन्त्र १।

पण्डित शत्रु [दुश्मन] भी अच्छा है परन्तु मूर्ख मित्र (दोस्त) भी बुरा होता है क्योंकि एक राजा के मूर्ख वानर मित्र ने राजा को मार डाला था और एक (विप्र) विद्वान् चोर ने बहुत से ब्राह्मणों को बचा दिये हमारे इस कथन का यही तात्पर्य है कि प्रत्येक मनुष्य को विद्वान्

होना चाहिये किसी को मूख कभी न रहना चाहिये क्योंकि नीति में लिखा है कि:—

किं गर्जितेन वृषभेण पराजितेन,
किं कोकिलस्वरकृतेन विना वसन्तम् ।
किं कातरेण बहुशस्त्रपरिग्रहेण,
किं जीवितेन पुरुषेण निरक्षरेण। ९। नी० शा०

जो वृषभ (सांड) लड़ने पर हार जाय पुनः गर्जना करे तो उसके गर्जने से कुछ भी लाभ नहीं है, तथा वसन्त ऋतु के बिना कोकिला के शब्द से भी कुछ लाभ नहीं, एवं कातर (कायर) पुरुष चाहे कितने हो शस्त्र बांध ले तो उससे कभी कुछ लाभ नहीं ऐसे ही निरक्षर (अविद्वान्) पुरुष के जोने से भो कुछ भी लाभ नहीं है तथा महाभारत में भी लिखा है कि:—

न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया ।
अपि चेह मृजाहीनः कृतविद्यः प्रकाशते। ४१ ।
महा० वनप० अ० २०७।

(मूर्ख) विद्याहीन पुरुष का संसार में कभी भी प्रभाव नहीं हो सकता चाहे वह मूर्ख अपनी कितनी हो (श्लाघा) तारीफ करे परन्तु मूर्ख की प्रशंसा (तारीफ) संसार में कभी नहीं हो सकती और विद्वान् चाहे मैला कुचैला भी होगा तो भी वह सूर्य्य के समान सब में प्रकाशस्वरूप ही प्रतीत

होगा, हमारे आर्य्यवर्त्त के सभ्यजनों की सर्वदा से यह रीति चली आई है कि वे अपनी सन्तान को मूर्ख रखना बहुत ही बुरा समझते थे यथाः—

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम् ।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत् ॥
४ पंचतन्त्र १ ।

एक लड़का उत्पन्न न हो, और एक उत्पन्न होकर मर जाए और एक मूर्ख रहे इन तीनों लड़कों में से जो उत्पन्न होकर मर जाय वह अच्छा है और उत्पन्न न हो वह भी अच्छा परन्तु जो उत्पन्न होकर जीता रह कर विद्या न पढ़े वह लड़का बहुत ही बुरा है क्योंकि यदि पुत्र उत्पन्न न हो वा होकर मर जाय तो जन्म भर माता पिता को दुःख होता है इसलिये ईश्वर से प्रार्थना है कि हे परमात्मन्! आपकी कृपा से हमारे अविद्वान् पुत्र न होवे इस मूर्खता से पृथक् रहने और विद्या की प्राप्ति के लिये मनुष्यों को निम्नलिखित क्रमानुसार ब्रह्मचर्य्य सेवन करना चाहियेः—

अष्टाचत्वारिंशद्वर्ष सर्ववेदब्रह्मचर्य्यम् ॥
गो० पू० प्र०२ ब्रा० ६

अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य धारण करके विद्याभ्यास करे, अथवा उत्तमोत्तमादि भेद से आपस्तम्बीय धर्मसूत्रों में ४ प्रकार के ब्रह्मचर्य्य लिखे हैं इनमें से किसी का ही यथाशक्ति सेवन करे, जैसेः—

अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि ॥ १२ ॥ पादूनम् ॥ १३ ॥ अर्धेन ॥ १४ ॥ आप० धर्मसू० प्र० १ प० १ खं० २।

अड़तालीस वर्ष का उत्तमोत्तम ब्रह्मचर्य्य है, ३६ वर्ष उत्तम, और २४ वर्ष का मध्यम और इस से जो जो न्यून-काल का ब्रह्मचर्य्य है वह दो कनिष्ठ है, ऐसे ही छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड में भी लिखा है, एवं अन्यान्य गृहसूत्रों में भी है, प्रत्येक मनुष्य को समुचित है कि उत्तमोत्तम या उत्तम अथवा मध्यम ब्रह्मचर्य्य को तो अवश्य ही सेवन करे, यदि उत्तम ३६ वर्ष तक के ब्रह्मचर्य्य को न रख सके तो:—

आयुषस्तु चातुर्भागं ब्रह्मचार्य्यनसूयकः ।
गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद्धर्मार्थकोविदः ॥ १६

महां० शां० प० मो० ध० अ० २४१

आयु का चौथा भाग अध्यापक के पास निवास करके विद्याध्ययन अवश्यमेव करे **शतं जीवेम शरद इत्यादि** वाक्यों से वेद सौ वर्ष की मनुष्य की आयुष्य बताता है और सौ वर्ष का चतुर्थ भाग २५ वर्ष हुआ, इससे प्रत्येक मनुष्य को कम से कम २५ वर्ष तक तो अवश्य ही ब्रह्मचर्य्य रखना समुचित है क्योंकि थोड़े वर्ष के ब्रह्मचर्य्य से मनुष्यों को यथोचित ज्ञान नहीं हो सकता जैसे सांख्यदर्शन में कपिलाचार्य्य ने लिखा है कि:—

प्रणतिब्रह्मचर्य्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ॥९॥ सां शा० अ० ४

अध्यापक (मास्टर) के समीप ब्रह्मचर्य्य सेवन करके विद्याभ्यास करने से ही विद्यादि की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं इस पूर्वोक्त प्रकार से ही सम्यक् उत्तमोत्तम किम्वा उत्तम अथवा मध्यम अथवा कनिष्ठ ब्रह्मचर्य्य पालन करे—

ब्रह्मचर्य्य त्वा विद्याग्रहणात् ॥५॥ वात्स्यायन सू० अ० २

अथवा जबतक सब विद्याएँ न पढ़ले तब तक ब्रह्मचर्य्य अवश्यमेव रखना चाहिये यह बहुत महर्षियों का मत है; अतः ब्रह्मचर्य्य द्वारा सब विद्याओं का अध्ययन अवश्यमेव करे; आजकल के नाममात्र के बनावटी ब्रह्मचर्य्याभासों के सदृश ब्रह्मचर्य्याश्रम को कलङ्क न लगावे, जैसे वर्त्तमान् काल में धूर्त्त लोग अपना ब्रह्मचारी नाम*रखकर जटा बढ़ा लेते हैं और एक अक्षर भी नहीं पढ़ते किन्तु वे केवल नाच तमाशा, गाना, बजाना, गांजा, भंग, चरस, अफ़ीम, तमाखू, मदक, मद्य, मांस, मालादि पदार्थों का सेवन करते हैं परन्तु

---

* वर्तमान समय में अनेक मनुष्य ब्रह्मचारी अपना नाम रख कर कल्पित स्थलादि तीर्थों में मारे-मारे फिरते हैं परन्तु संस्कारमयूख में इसका निषेध है देखोः-नास्नायात् सर्वतीर्थेषु ना भुञ्जीयादितस्ततः ॥ तीर्थयात्रा न कुर्य्यादित्यर्थः १ संस्कार-मयूख खं० १ ॥

इन सब का मनुस्मृति के २ दूसरे अध्याय के १७७ वा १७८ के श्लोक में स्पष्ट निषेध किया है, इस समय में भेषधारी ब्रह्मचारी बहुधा वाममार्गी शाक्त होते हैं उनका यह सिद्धान्त है कि जब तक मद्य मांस का सेवन न करे तबतक वह ब्रह्मचारी नहीं हो सकता, यह इन दुष्ट धूर्त्त मूर्ख ठगों का कथन धर्मशास्त्र से विरुद्ध है और ब्रह्मचर्य्याश्रम को डुबाने वाला है ऐसे ऐसे अधर्मी* पुरुषों ने ही इस सर्वोत्तम सर्व आश्रमों का मूल ब्रह्मचर्य्याश्रम को डुबा दिया ब्रह्मचर्य्याश्रम सब आश्रमों की नीम अर्थात् पाया है जिस मकान का पाया अर्थात् नीम (पुष्ट) मज़बूत नहीं होती वह मकान कभी नहीं बन सकता यदि किसी प्रकार बन भी गया तो ठहर कभी नहीं सकता, इसलिए प्रथम मनुष्यमात्र को ब्रह्मचर्य्याश्रम ही सुधारना चाहिए, कितनेक (उदरम्भर) पेटार्थी लोग घर में स्त्री आदि से खटपट होने से झूठ पञ्चकेशी रखाकर ब्रह्मचारी बन जाते हैं, परन्तु इन पेटपूजकों का यह कर्त्तव्य भी सर्वथा धर्मशास्त्र के विरुद्ध है यथा—

यो गृहाश्रममास्थाय ब्रह्मचारी भवेत्पुनः ।
न यतिर्न वनस्थश्च सर्वाश्रमविवर्जितः ॥ १ ॥

लिखितस्मृति अ० १

---

* जैसे वर्तमान काल के बनावटी ब्रह्मचारी हैं ऐसे ही अन्यान्य भेषधारी भी हैं ॥

जो गृहस्थाश्रम को छोड़कर फिर ब्रह्मचारी होता है वह किसी आश्रम में नहीं रहता अर्थात् वह मनुष्य आश्रम भ्रष्ट कहाता है इस लिए जो जो ब्रह्मचर्य्याश्रम के नियम हैं उनका परित्याग कभी न करे, क्योंकि—

कृतनियमलंघनादानर्थक्यं लोकवत् ॥ १० ॥

सां० अ० ४

जिसका जो नियम हो उस नियम को छोड़कर जो वर्त्ताव करता है उसको कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता जैसे संसार में जिस रोग की जो औषधि है और उसका जो परहेज़ (पथ्य) है उस दवाई व पथ्य को यथावत् सेवन करने से ही रोग दूर होता है अन्यथा नहीं, ऐसे ही ब्रह्मचर्य्याश्रम के नियम से विरुद्ध आचरण करनेवाले का भी परिश्रम निष्फल जाता है, इसलिये—

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद्ब्राह्माधिगमिकं तपः ।१६४।

मनु० अ० २

जैसी वेदादिशास्त्रों में ब्रह्मचर्य्य सेवन करने की विधि* लिखी है उसी प्रकार शुद्धात्मा ब्रह्मचारी गुरुकुल में वास करता हुआ जितेन्द्रियतापूर्वक वेदादि विद्याओं का अध्ययन करे।

---

* विधिः यह शब्द पुल्लिंग है परन्तु भाषा में लोग इसका स्त्रीलिङ्गवत् व्यवहार करते हैं।

ब्रह्मचारी ब्रह्म * भ्राजद्बिभर्त्ति तस्मिन्देवा अधि-
विश्वे समोताः ॥ प्राणापानौ जनयन्नाद्व्यानं वाचं
मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥

अथर्व० कां० ११ अनु० २ व० १६

जो ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य रखकर विद्वान् होता है उसकी वाणी मन हृदय और बुद्धि उत्तम होती है, तथा वही विद्वानों में सम्मान के योग्य होता है और वही तेजस्वी प्रतापी तथा प्राणादि की रक्षा कर सकता है।

वरं विद्यादीनामविरतगुणानां समुदितिं,
प्रयच्छत्यारोग्यं वपुषि पुरुषार्थं बलमथो।
यदैश्वर्य्यं राज्यादिकमपि च तेजो बहुविधं,
नरोन्नत्याश्चैतत्प्रथमभिदमारोहणमपि ॥ १ ॥
सुखानां संभोक्ता परिचरणतोस्यैवमनुजो,
वयस्यादेरादौ यत इह हि विद्याग्रहणता।

---

* यो ब्रह्मचारी विधिना समाहितं, चरेत् पृथिव्यां गुरुसेवने रतः। संप्राप्य विद्यामतिदुर्लभां शिवां, फलं च तस्याः सुलभन्तु विदन्ति ॥१॥ लघुहारीतस्मृ० अ० ३। जो ब्रह्मचारी विधिवत् ब्रह्मचर्य्य धारण करके गुरु समीप विद्या ग्रहण करता है उसी को ही अतिदुर्लभ कल्याण की करने वाली जो विद्या उसकी प्राप्ति होती है और उस विद्या के फल को वह ब्रह्मचारी सुलभतापूर्वक प्राप्त होता है।

नराणां भद्राणां समुचितमतस्तैः स्वयमथो,
सुसंसेव्यः पुत्रैरपि जितसुखै रुक्तविधिना ॥२॥
यद् ब्रह्मचर्य्यं सुखभाजनं परम्,
तत्सेवनीयं पुरुषेण यत्नतः ।
न तद्विना स्वोन्नतिमिच्छतापरम्,
नरेण किञ्चित्किल कर्त्तुमीह्यते ॥ ३ ॥
सम्यक् प्रसाधितं ह्येतत् शतं भद्राणि यच्छति ।
परलोकसुखस्येदं साधनं चोत्तमं मतम् ॥४॥
न सेवते नरो ह्येतद्दारिद्र्यं सोऽश्नुते भृशम्
संपदं ये तु वञ्छन्ति तैः संसेव्यं प्रयत्नतः ॥ ५
अनुभवति नितान्तं ब्रह्मचर्य्येण तेन,
प्रयतमतिसुखं यत् पूर्णलोकद्वयेष्टम् ।
मनुजजनिमवाप्तेनैनदाशु प्रयत्नात्,
प्रथमवयसि सेव्यं नान्यथा सौख्यमेति ॥ ६ ॥

इत्याशास्महे ।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

इति श्रीमद्विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द विरचिते
पुरुषार्थप्रकाशे ब्रह्मचर्य्यप्रकरणं ।
समाप्तिमगमत्

अथ गृहस्थाश्रम प्रकरणम् ॥

—:**:—

पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मचर्य्य सेवन करके गुरुकुल से ब्रह्मचारी प्रत्युत अपने घर को आता है उसका नाम समावर्तन है, इस समावर्तन का समय भी:—

तथा व्रतेनाष्टचत्वारिंशत् परिमाणेन ॥ २ ॥

आपस्तं० धर्म्मसू० प्र० १ प० ११ खं० ३० ।

इस सूत्र में ४८ वर्ष के पीछे ही समावर्तन का समय लिखा है, अर्थात्:—

विद्यां समाप्त दारान् कृत्वाग्नीनाधाय कर्माण्यारभते सोमावराध्र्यानि यानि श्रूयन्ते ॥ ७ ॥

आपस्तं० धर्म्मसू० प्र० २ प० ९ खं० २२ ।

सम्पूर्ण विद्या को पढ़कर विवाह को करके गृहकर्मार्थ अग्न्याधान करके सब उत्तमोत्तम गृहकर्मों को करे, इस सूत्र में प्रथम सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययन करके विवाह करने का विधान किया है, जैसे कुमार के लिये विद्याध्ययन करके विवाह का विधान सत शास्त्रों में किया है, ऐसे ही

कुमारी के लिये भी वेद में विद्याध्ययनान्तर ही विवाह की आज्ञा है, यथाः—

ब्रह्मचर्य्येण कन्या ३ युवानं विन्दते पतिम् ॥१८॥

अथर्व० कां० ११ अनु० ३ व० १५।

ब्रह्मचर्य्य [जितेन्द्रियतापूर्वक विद्याभ्यास] से कन्या युवा पति को प्राप्त हो, इस मन्त्र में अपने आप कन्या को विवाह की आज्ञा दी है, इसलिये वेद के मानने वाले दम्पती को समुचित है कि कन्याओं का अपनी ओर से कदापि विवाह न किया करें किन्तु कन्या ही अपने आप विवाह (स्वयम्वर) करें, अब विचारना चाहिये कि कितने वर्ष की अवस्था में कुमार कुमारियों का विवाह होना चाहिये, इस विषय में कितनेक अदूरदर्शी मनुष्यों का कथन है कि:-

अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा च रोहिणी ॥
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ॥
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥२॥

आठ वर्ष की गौरी, नव वर्ष की रोहिणी, दश वर्ष की कन्या इसके उपरान्त रजस्वला, इस रजस्वला, कन्या को देखकर माता पिता और बड़ा भाई ये नरक को जाते हैं, अब देखिये आठ वर्ष की लड़की गौरी (पार्वती) होने से सर्व हिन्दुओं को माता के तुल्य है, इसलिये विवाह के

योग्य नहीं, एवं नव वर्ष की रोहिणी बलदेवजी की माता भी सब हिन्दुओं की माता के बराबर है, इसलिये इससे भी विवाह करना उचित नहीं, और वास्तव में पौराणिक मत के अनुसार कन्यादानादि से भी यही बात पाई जाती है कि हमने अपनी कन्या का विवाह कर दिया, अब गौरी रोहिणी का विवाह तो किसी प्रकार हो ही नहीं सक्ता किन्तु कन्या का विवाह होना चाहिये और जब तक विवाह नहीं होता है तब तक वह लड़का कन्या ही रहती है देखो:–

कौमारं ब्रह्मचर्य्यं मे कन्यैवास्मि न संशयः ॥

महा० अनु० प० अ० २० ।

एवं शल्य प० अ० ५३ में भी है, ये दोनों कन्यायें (अतिवयस्का) जियादा उमरवाली थीं, परन्तु इनको कन्या ही महाभारत में लिखा है और वास्तव में देखा जाय तो :—

ऋतुस्नाता तु या शुद्धा सा कन्येत्यभिधीयते ॥

पाराशरमाधवसिद्धान्त ।

ऋतुस्नाता का ही नाम कन्या है, देखो माधवाचार्य्यकृत पाराशरस्मृति की टीका में यह महाभारत का प्रमाण टीकाकार ने दिया है, बस इससे सिद्ध हो चुका कि १० वर्ष की लड़की का नाम ही कन्या नहीं है, किन्तु अविवाहिता लड़की का नाम ही कन्या है और जो इस श्लोक में १० वर्ष के उपरान्त की सब लड़कियों को ऋतुधर्म माना है यह

सर्वथा झूठ है क्योंकि धन्वन्तरि जी का सिद्धान्त है कि:—

रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते ॥

तद्वर्षाद्द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशत् क्षयम् ॥

सुश्रु० सूत्र० अ० १४

बारह वर्ष के उपरान्त ही स्त्री रजस्वला होती है और वास्तव में देखिये तो स्त्रीधर्म होना कन्याओं की शारीरिक प्रकृतियों पर निर्भर है, कोई कन्या १२ वर्ष में, कोई १४, कोई १५, कोई १६ आदि में ऋतुमती होती है, जो कन्यायें १६ वर्ष की आयु तक स्त्रीधर्मयुक्त नहीं हुई हैं और उन सब कन्याओं को १० वर्ष १२ वर्ष की अवधि तक ही ऋतुधर्म्मवती कहना कितना प्रमाद है, हाँ इतना ही नहीं किन्तु जो कन्या १४ व १६ वर्ष तक ऋतुमती नहीं हुई है उसपर भी ऋतुधर्मवती होने का अपराध लगाकर उसके निरपराधी माता पितादि को बलात्कार से नरक में चलान करा देना मानो इनके घर की ही अदालत है, अस्तु, यदि तुम्हारी यह कपोलकल्पना मनुजी को इष्ट होती तो मनुजीः—

त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ॥९४॥

मनु० अ० ९

बारह वर्ष की अवस्था में कन्या का विवाह करने की आज्ञा क्यों देते, यदि कहा जाय कि यह श्लोक सतयुग विषयक है यह बात भी ठीक नहीं, क्योंकि जो कुछ मनु

ने कहा है वह सब वेद की आज्ञा है, देखो मनु० अ० २ श्लोक ७ जब मनुस्मृति में सब वेदाज्ञा है तो वह सब युगों के लिए एक सी ही है और "कृतयुगे मानवा धर्मा" इस प्रमाण से मनु को सतयुग के लिए ही प्रमाणभूत ठहराओगे तो सत्युग में तुम लाखों वर्ष की आयु सौ वर्ष के षोडशांश वर्ष की लड़की ६। सवा छ वर्ष की बालिका होती है पाँच वर्ष की लड़की से नीची अवस्था में तो कोई भी वर्तमान समय में विवाह नहीं करता है, जब सत्युग में लाखों ही वर्ष की आयु तुम मानते हो तो फिर पूर्वोक्त हिसाब से हज़ार वर्ष से न्यून अवस्था में उनका विवाह सत्युग में कभी नहीं हो सकता, एवं यदि १० वर्ष के उपरान्त ग्यारहवें वर्ष में ही कन्या को रजस्वला मानते हो तो मनुस्मृति अ० ९ वा कलियुगी* पाराशर स्मृ० अ०७ में द्वादश वर्ष तक विवाह कर देने की आवश्यकता जतलाई है फिर इन वाक्यों की क्या व्यवस्था होगी, वास्तव में यदि देखा जाय तो ये सब वचन मानने के योग्य नहीं क्योंकि हिन्दुओं के ही माननीय ग्रन्थों में ऋतुमती होने के पीछे ही कन्या का विवाह करने की आज्ञा है, रजस्वला होने से पूर्व नहीं, देखो:—

पिता ऋतून् स्वपुत्र्याश्च गणयेदादितः सुधीः॥

---

*कृतेतु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृति। द्वापरे शंखलिखितः कलौ पाराशरः स्मृतिः। १ पाराशरःस्मृति अ० १

दिनावधि गृहे यत्नात्पालयेच्च रजोवतीम्* ॥ १ ॥
संस्कारकौस्तुभे पृष्ठ २१ जगदीश्वर छापाखाना मुम्बई शाके १८०४ में छपाः--

संस्कारकौस्तुभ में लिखा है कि पिता अपनी कन्या के ऋतिको आदि से ही गिने, जितने ऋतु पर्य्यन्त कन्याको घर में पालन करने का विधान है। उतनी बार जब कन्या ऋतुमती हो जाय फिर कन्या का विवाह करे, संस्कारकौस्तुभकार ने यह आश्वलायन ऋषि का प्रमाण दिया है, एवं:—

काममामरणात्तिष्ठेत् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि ।
नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥८९॥
मनु० अ० ९।

ऋतुवती हो जाने के पीछे भी कन्या जन्मभर विवाह किये विना पिता के घर में बनी रहे परन्तु गुणहीन वर को कन्या न देवे, एवम्-हिरण्यकेशी के चातुर्थिकर्मनामक ग्रन्थ से भी ऋतुमती कन्या का ही विवाह होना सिद्ध है, जब हमारे ऋषि महर्षियों की ऐसी आज्ञा है तो फिर इन लकीर के फ़क़ीर मूर्ख † पण्डित पढ़े पशुओं की ऐसी

*रजोवती यह मूल का पाठ है इसलिए हमने वैसा ही लिख दिया है परन्तु शुद्ध पाठ रजस्वला है ।

† मूर्ख पण्डितों का वृतांत पंचतन्त्र के तन्त्र ५ में लिखा है यह वृत्तांत बिलकुल आज कल के मेली ढीली धोती वाले पोप पण्डितों में घटता है, पृ० ६

ऐसी कल्पित बातों में फँस कर उभयतोभ्रष्ट करने वाले बालविवाह को भी मत करो, प्रत्येक मनुष्य अपनी सन्तानों का विवाह वेदोपदेश वेदाङ्गादि सत्शास्त्र व प्रत्यक्षादि प्रमाण और युक्ति के अनुकूल ही किया करें, वेदों में वर कन्या को स्वयम्वर की आज्ञा दी है, तद्यथा:—

कियती योषा मर्य्यतो वधूयोः
परिप्रीता पन्यसा वार्य्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः
स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥१२॥

ऋ० अ० ७ अ० ७ व० १७।

(पन्यसा) प्रशंसनीय (वार्य्येण) श्रेष्ठ गुणों से युक्त (वधूयोः) वधू को चाहने वाले (मर्य्यतः) मनुष्य को (कियती) कैसी (योषा) स्त्री (परिप्रीता) अच्छी प्रीतिवाली (भवति) होती है, इसका उत्तर यह है कि (यत्) जो (भद्रा) कल्याणी अर्थात् सुख के देने वाली (सुपेशाः) सुन्दर रूपवती (जने चित्) मनुष्यों में (स्वयं) अपने आप (मित्रं) प्रियपति को (वनुते) याचती है (सा) वही (वधू) स्त्री पति को प्यारी होती है, अब देखिये इस मन्त्र में कन्या को स्वयम्वर करने की आज्ञा है एवं:—

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति ॥३॥ ऋ० अ० ४ अ० २ व० ८।

इस मंत्र में भी कन्या को स्वतः विवाह करने की आज्ञा है, माता पिता को अपनी तरफ़ से छोटे २ बालक बालिकाओं के विवाह करने की आज्ञा वेद में कहीं नहीं है, किन्तुः—

युवं ब्रह्मणे अनुमन्यमानौ॥४२॥ अथ० कां० १४ अ० २ व ११

अथर्ववेद में भी इस मंत्र से तरुण वर कन्या को स्वयम्वर का विधान किया है:—

त्रीणि* वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्य्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वंतु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशम्पतिम् ॥९०॥
मनु० अ० ९

कि—तीन वर्ष तक ऋतुवती होने के पश्चात् कन्या वर की इच्छा करे, फिर ३ वर्ष के उपरांत अपने सदृश पति को प्राप्त होवे, इसी प्रकार महाभारत में भी लिखा है कि:—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्त्तारमर्जयेत् ॥१७॥
प्रजा न हीयते तस्या रतिश्च भरतर्षभ।
अतोऽन्यथा वर्त्तमाना भवेद्वाच्या प्रजापतेः ॥१७॥
भा० अनु० प० अ० ४४

---

*कुमार्य्यृतुमती त्रिवर्षाण्युपासीतोर्द्ध्वं त्रिभ्यः वर्षेभ्यः पतिं विन्देत्तुल्यम् ॥ वशिष्ठस्मृ० अ० ७

तीन वर्ष पर्यंत ऋतुमती कन्या वर की इच्छा करे और तीसरे वर्ष के उपरांत चौथा वर्ष प्राप्त होने पर कन्या अपने आप विवाह करे, उस कन्या से जो संतान उत्पन्न हो वह संतान अकालमृत्यु से नहीं मरता और न उसका ऋतु निष्फल जाता अर्थात् वन्ध्यात्व आदि दोषों से वह कन्या सदा रहित रहती है, इससे अन्यथा वर्ताव करने से कन्या परमेश्वर की दोषभाक् अर्थात् परमेश्वर की गुनहगार होती है, इसी प्रकार कृष्णचन्द्र महाराज ने अन्य सब विवाहों का निषेध करके स्वयम्वर को मुख्य ठहरा के स्वयम्वर करने की ही अनुमति दी है, देखोः—

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत्को नु मन्यते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि ॥४॥

भारत० आदिप० अ० २२१

कृष्णचन्द्र * बलभद्र जी से कहते हैं कि जो पुरुष कन्या का विवाह अपनी ओर से कन्यादान करता है वह कन्यादान नहीं है किन्तु कन्या को पशु की नाईं बेच देना है, जैसे पशु को मनुष्य चाहे उसको दे देता है ऐसे कन्या

---

* जिस श्रीकृष्णचन्द्र को हिंदू भाई (अन्ये अंशकलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्) इस वचन के अनुसार सोलह कलायुक्त साक्षात् परमेश्वर मानते हो, जब ऐसा मानते हो तो उनके इस वचन का भी आप लोगों को अवश्य ही प्रमाण मानना चाहिए ।

को भी मनुष्य चाहे पशुवत् दे देता है, यह वेद सदाचार और न्याय से विरुद्ध है तथा सृष्टिक्रम (कानून कुदरत) से भी निरर्थक है, इसलिए श्रीकृष्णचन्द्र महाराज कहते हैं कि माता पिता अपनी ओर से सन्तानों का विवाह न किया करें किन्तु वर कन्या अपने आप अपना स्वयं विवाह किया करें, छोटे छोटे बालक बालिकाओं के माता पिता अपनी ओर से विवाह उनकी अनुमति के बिना कर देते हैं यह पुर्वोक्त वेद सदाचार आदि से सर्वथा प्रतिकूल है वेदविरुद्ध तो हम पूर्व दर्शा आये हैं और सदाचार से विरुद्ध इस रीति से कि पूर्वकाल में ब्रह्मर्षि राजर्षि * महात्मा जन अपनी कन्याओं का स्वयंवर करते थे, देखो बाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग ६६ राजा जनक ने सीताजी का स्वयम्वर किया था, वह स्वयम्वर भी जब सीता पति के साथ संयोग करने के योग्य हुई थी तब किया था देखो:—

पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता ॥ ३४ ॥

बा० रा० अयो० कां० स० ११८।

सीता ने अत्रि ऋषि की स्त्री अनसूया से कहा है कि पति के सहवासयोग्य मेरी अवस्था हुई तब मेरे पिता को मेरे विवाह की चिन्ता हुई। एवम्:—

---

* रघुवंश सर्ग ५ में इन्दुमती का राजा अज के साथ स्वयम्वर हुआ ॥

तान्तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनीम् ।
व्यावृएवन् पार्थिवा केचिदतीव स्त्रीगुणैर्युताम् ॥ २ ॥

महा० आदिप० अ० १२ ।

कुन्ती के स्वयम्वर का यह वर्णन है कि उस तेजस्विनी कन्या को अतीव स्वरूपवती पूर्ण युवावस्था को प्राप्त सब स्त्रियों के गुण से युक्त कुन्ती को अनेक राजाओं ने विवाह की कामना से आच्छादित किया, परन्तु पाण्डु को ही उत्तम समझ के कुन्ती ने स्वयं अपना वर किया। एवम्:—

स समीक्ष्य महीपालः स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम् ।
अपश्यदात्मनः कार्यं दमयन्त्याः स्वयम्वरम् ॥ ८ ॥

महा० वनप० अ० ५३ ।

राजा भीमने स्वपुत्री दमयन्ती को जवान देखकर विचार किया कि अब इसका स्वयम्वर करें, इसी प्रकार:—

वैदर्भीन्तु तथायुक्तां युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता ।
मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम् ॥ ३० ॥

भा२० व० प० अ० ९६ ।

जब लोपामुद्रा अति तरुणावस्था को प्राप्त होगई तब उसके पिता ने मन में चिन्तवन किया कि यह लड़की किसको दें, फिर अगस्त्य ऋषि से इसका विवाह किया, इसी प्रकार:—

संप्राप्तयौवनां पश्यन्देयां दुहितरं तु ताम् ॥ ११ ॥

भा० आदिप० अ० १७१ ।

तपती कन्या भी अति तरुण होगई तब विवाह हुवा, एवम्:—

स शीलयन्देवयानीं कन्यां संप्राप्तयौवनाम् ॥ २५ ॥

भार० आदि० अ० ७६।

शुक्राचार्य्य की पुत्री देवयानी ने भी पूर्ण युवावस्था को प्राप्त होकर फिर अपनी इच्छापूर्वक ययाति से विवाह किया, जैसे देवयानी ब्रह्मर्षि की पुत्री और कुन्ती आदि राजर्षियों की पुत्रियों के स्वयम्वर के उदाहरणमात्र से जान लीजिये कि पूर्वकाल में उक्त ऋषियों की कन्याओं का स्वयम्वर विवाह ही होता था, इतना ही नहीं किन्तु ब्रह्मर्षि राजर्षियों के अनेक बालक बालिकायें जन्मभर कुमार ही रहते थे वे अपनी इच्छा से विवाह ही नहीं करते थे, जैसेः-

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी ॥
योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी ॥ ६ ॥
बभूव श्रीमती राजन् शाण्डिलस्य महात्मनः ।
सुता धृतव्रता साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी ॥ ७ ॥
सा तु तप्त्वा तपो घोरं दुश्चरं स्त्रीजनेन ह ।
गता स्वर्गं महाभागा देवब्राह्मण पूजिता ॥ ८ ॥

भा० शल्यप० अ० ५४।

लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर से कहा कि इसी स्थान पर शाण्डिल्य ऋषि की कन्या धृतव्रतानाम्नी आजन्म ब्रह्मचर्य्य

व्रत धारण कर इन्द्रियों का निग्रह करके विद्या सत्यभाषणादि तपयुक्त हुई और जिसका विद्वान् भी पूजन अर्थात् सत्कार करते थे वह कन्या योगद्वारा उत्तम लोक को प्राप्त हुई, इसी प्रकार:—

भरद्वाजस्य दुहिता * रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥
श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी ॥ २ ॥

महा० शल्यप० अ० ४९ ।

भरद्वाज ऋषि की श्रुतावती कन्या ने भी आजन्म विवाह नहीं किया, ऐसे ही :—

साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे ।
विनीता मोक्ष धर्मेषु चराम्यैका मुनिव्रतम् ॥ ८३ ॥

भा० शां० प० अ० ३२१ ।

सुलभा ने जनक से कहा कि मैं क्षत्रियकुल में राजा के यहाँ पैदा हुई गुरुओं से विद्या पढ़ी मेरे सदृश विद्यादि गुणयुक्त वर न मिलने से मैंने सन्यास धारण कर लिया, एवं गार्गी वडवा आदि ने भी आजन्म विवाह नहीं किया था, एवं सनक सनन्दन नारद परशुराम हनुमान् भीष्म शुकादि सभी आजन्म कुमार ब्रह्मचारी रहे देखिये ! जिन कुन्ती आदि स्त्रियों ने स्वयम्वर से युवावस्था में विवाह

---

* भा० आ० प० १६६ में ऋषिकन्या ने आजन्म विवाह नहीं किया ॥

किया था उनकी सन्तान युधिष्ठिर भीमार्जुनादि कैसे धर्मात्मा बली शूरवीर और सम्पूर्ण भूमण्डल को अपने आधीन करने वाले हुए, और जिन गार्गी आदि ने आजन्म विवाह नहीं किया उनके प्रभाव से यथा पूर्वोक्त शुक सनक परशुराम हनुमान् भीष्मादिक के प्रभाव से कौन अज्ञात है, यद्यपि सनकादिक को आप इतिहास द्वारा जान सकते हैं परन्तु वर्त्तमान समय के पूर्ण ब्रह्मचर्य्य पालन करने वाले श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वातीजी के प्रताप को ही देखिये कि जिन्होंने ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से ही आर्य्यावर्त्त की उन्नति की है, अब इन पूर्वोक्त महात्माओं का पराक्रम और आज कल के लड़के लड़कियों का मिलान करो उनके प्रभाव कैसे थे और जिस लड़के का छोटी अवस्था में विवाह हुआ है उससे जो लड़का उत्पन्न हुआ वह लड़के का लड़का कहाता है इनका प्रभाव कैसा है इसका न्याय आप अपनी शुद्ध बुद्धि से ही करें, बाल विवाह न्याय-विरुद्ध इसलिये है कि जिन बालकों को कुछ भी ज्ञान नहीं है उनके गले में जन्म-भर के लिए स्त्री या पुरुष बाँध देना कितना अन्याय है आपही सोचें कि बिना उन बालकों की इच्छा के अपने आनन्द देखने के लिये कि मैं मर जाऊँगा अपने लड़के या लड़की का विवाह देखे बिना, इसलिए लड़का लड़की छोटे भी हैं तोभी विवाह करदो, यह कितना अन्याय है, ऐसे स्वाधीन कामों में माता पिता का कोई

अधिकार नहीं है कि वे अपनी ओर से बालकों का विवाह करदें, माता पिता के हठ द्वारा बाल विवाह होने से बालक बालिकाओं का विरोधादि अनेक उपद्रवों से वे आजन्म अनेक दुःख भोगते हैं यह कितना भारी अन्याय है, एवं बाल-विवाह सृष्टिक्रम से विरुद्ध इसलिए है कि संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब अपनी परिपक्व अवस्था ही में फलदायक होते हैं जैसे दृष्टान्त के लिये वृक्ष ले लीजिये जब वृक्ष के अवयव पूर्ण पुष्ट हो जाते हैं तभी वह फलता है अन्यथा नहीं, ऐसे ही बालकों के भी पूर्णावयव प्रौढ़ और पुष्ट होजायें तभी उनका विवाह होना योग्य है अन्यथा उनका विवाह निरर्थक होने से सृष्टिक्रम से सर्वथा ही विरुद्ध है मुख्य करके यहां विचार यह कर्त्तव्य है कि विवाह किस लिए किया जाता है, इस विषय में वेद की यही आज्ञा है कि:—

प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥

अ० कां० ५ अनु० ५ व० २५।

हे स्त्री ! सन्तानोत्पत्ति के लिये हम तुझे प्राप्त होते हैं, इससे सिद्ध है कि सन्तानोत्पत्ति के अर्थ विवाह किया जाता है, इसी प्रकार:—

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः ॥ ९६ ॥ म० अ० ९।

मनु का भी कथन है कि संतानोत्पत्ति के अर्थ स्त्रियें हैं

पामर ❀ मनुष्यों को छोड़कर संसार भर के विद्वान् व बुद्धिमानों की भी यही एक सम्मति है कि विवाह सन्तानोत्पत्ति के अर्थ ही किया जाता है, तो बस इससे यह बात सिद्ध हुई कि जब स्त्री पुरुष सन्तानोत्पत्ति के योग्य हों तभी विवाह करना चाहिए क्योंकि बाल्यावस्था में विवाह करने से अनेक प्रकार की हानियें होती हैं प्रथम तो बाल्यावस्था में विवाह होने से विधवावृद्धि होती है क्योंकि जितने बालक शिशु अवस्था में मरते हैं उतने कुमारअवस्था में नहीं, और जितने कुमारअवस्था में मरते हैं उतने किशोरावस्था में नहीं और जितने किशोरावस्था में मरते हैं उतने युवावस्था में नहीं, यह बात मनुष्य-गणना (खानाशुमारी) से सब को ज्ञात होसक्ती है और सृष्टिक्रम (कानूनकुदरत) से भी देखें तो स्पष्ट है कि (आम्र) आंब के जितने बउँर लगते हैं उतने सबके सब केरियें नहीं होसक्ती आंब के भी

❀ यदि पामर मनुष्यों के कथनानुसार विवाह विषयवासना के लिए ही कोई मान भी ले तो भी कामशास्त्र प्रणेता जो कि कामशास्त्र का मुख्याचार्य्य हुआ है उनका भी यही सिद्धान्त है कि "बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान् २ कामं च यौवने ३" वात्स्यायन काम सू० अ० बाल्यावस्था में विद्याध्ययन करे और सो युवावस्था ही में करे और युवावस्था स्त्री को सोलह वर्ष के पश्चात् ही होती है, देखो

षोडशवार्षिकं यावत् बाल्यं तावत्प्रवर्त्तते ॥ हारीत सं० शारीरस्थान अध्या० १

(मोर) बउँर ज्यादा गिरते हैं उनसे कम छोटी २ केरियें उनसे कम कुछ बड़ी और जो (गदर) आंब होते हैं वे बहुत कम गिरा करते हैं कारण यह है कि जैसे २ आम्रादि फल व मनुष्यादि प्राणी तरुणावस्था को प्राप्त होते हैं वैसे२ वे प्रौढ़ होजाने के कारण से उनको शीतातप वात हानि नहीं पहुँचा सक्ते किन्तु वे शीतातप वात को सम्यक् सहन कर लेते हैं और बालकों का कोमलाङ्ग होने से उनको कठोर शीतातप हानि पहुँचा देते हैं तथा तरुण मनुष्य के सदृश बालक स्वशरीर संयमनादि से अपनी यथावत् रक्षा नहीं कर सकते हैं, इत्यादि अनेक कारणों से लड़कपन में बालक बहुत कम मरते हैं यदि विवाहित लड़का मर गया तो लड़की यह जन्म बिगड़ गया और (बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति) इस मनुवाक्य के अनुसार विधवा आजन्म जितेन्द्रिया न रह सकने के कारण से दोनों कुलों को कलङ्क लगाकर धनादि पदार्थ को लेकर किसी हिन्दू मुसलमान ईसाई मूसाई कसाई के साथ भग जाती हैं, अथवा वेश्या होकर किसी शहर में बैठी हुई उभय कुलों को लज्जित करती हैं और जो विवाह में दोनों वर वधू के पुरुषाओं का धन व्यय होता है वह व्यर्थ जाता है, दूसरे बाल्यावस्था में जिन बालक बालिकाओं का ब्रह्मचर्य्य नष्ट होजाता है वे फिर कभी ब्रह्मचर्य्य नहीं पाल सक्ते इससे बड़ी बड़ी हानियां होती हैं, तीसरे बाल्यावस्था में विवाह

करने से उनका पढ़ने में मन नहीं लगता, चौथे छोटे बालक होने वैवाहिक मंत्रों के अर्थ को न जानने से गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों से वंचित रहते हैं, पांचवें वर कन्या का विवाह न होने से दम्पती का परस्पर विवाद (लड़ाई) आदि होती है उससे माता पिता का दूषण समझ कर माता पिता से बालकों का द्वेष होजाता है, छोटी लड़की का विवाह कर देने से बाल्यावस्था में ही उसके बालक होजाने से वह अपने बाल बच्चों का ठीक ठीक रक्षण (हिफ़ाज़त) व शिक्षण नहीं कर सकती क्योंकि वह तो अपने आप ही बालिका है, एवं पिता भी बालक होने के कारण स्वसंतान का पोषण पाठन रक्षणादि नहीं कर सकता, सातवें गृह कृत्य भी नहीं कर सकतो तथा बालक का भी बारह वर्ष के वय से २४ वर्ष की वय तक ही मुख्य विद्याध्ययन काल है इधर तो विद्या पढ़ने में पूर्ण श्रम करने से शक्ति का बहुत व्यय होता है और दूसरे पशुधर्म से अमूल्य वीर्य्य का नाश होता है इन दोनों शक्तियों का एक साथ (व्यय) खर्च होजाने से इस देशवासियों की अनेक हानियां हो रहीं हैं, अहह ! आज हमारे इस देश की दुर्दशा पर कोई कुछ कथन करता है तो अविद्वान् तो सुनते ही नहीं परन्तु जो उत्तम विद्वान् व बुद्धिमान् सुवक्ता (व्याख्याता) पत्रसंपादक देशकाल-ज्ञादि अनुभवी तत्ववेत्ता हैं वे भी देशदशा की बात पर सम्यक् ध्यान नहीं देते हैं, हम इस आर्य्यवर्त देश के प्रत्येक

प्रान्त की तरफ़ दृष्टि देकर देखते हैं तो एतद्देशवासियों की यह दशा देखने में आती है कि मनुष्यों को (निरसाकृति) फीके चेहरे शरीर दुर्बल व निर्बल व निस्तेज परिमाण में (ह्रस्व अर्थात् वामन) छोटे, हड्डियें निकली हुईं, आँखें अन्दर को बैठी हुईं तथा शरीर में क्षयादि अनेक रोग लगे हुए और बहुधा [प्रतिसहस्र] हजार में नव सौ निन्नानवे मनुष्यों का अकालमृत्यु होता है, इस शारीरिक दशा को छोड़कर मानसिक दशा की ओर देखते हैं तो मनुष्यों में बुद्धि की हीनता ज्ञान की शून्यता विद्याविषय में केवल विचारशून्य निरर्थक शुकवत् घोषमात्र व हृदय दौर्बल्य पराधीनतादि अनेक दोषग्रस्त दशा दिखलाई देती हैं, एवं आचरण व नीति आदि के विषय में देखते हैं तो केवल झूठ छल कपट पाखंड दुष्टता उचक्केपन लुच्चेपन मसखरेपन लबारी गतानुगतिकतादि अनेक प्रकार की दुष्टतायें फैल रही हैं, ऐसी इस भारतवर्ष की व्यवस्था को देखकर विद्वान् मनुष्य इसके निदान को देखने की चेष्टा करते हैं, क्योंकिः—

कारणाभावात्कार्य्याऽभावः ॥३॥ वैशे० अ० ४ आ० १।

बिना कारण के कार्य्य कभी नहीं होसक्ता, इसलिये इस देश-दशा का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये, इस विषय में विचार करने से साफ मालूम होता है कि इस देश की दुर्दशा का आदि मूलकारण बालविवाह है इसको

प्रायः सभी विद्वान् जानते हैं, जब तक यह भयंकर रोग भारतवर्ष से नहीं निकाला जायगा तब तक भारतीय प्रजा कभी सुखी न होगी, इसलिए हम भारतवासियों से सविनय निवेदन करते हैं कि इस रोग को निवृत्त्यर्थ आप पुरुषार्थ करें, हम पूर्व लिख आये हैं कि विवाह सन्तानोत्पत्यर्थ है और सन्तानोत्पत्ति के योग्य ❀ दम्पती कितने वय में होते हैं इस बात को वैद्यकशास्त्र से निर्णय करना चाहिये क्योंकि यह विषय वैद्यक का ही है वैद्यक के विषय को स्मृति से निर्णय करना ठीक नहीं और जो वैद्यक का विषय स्मृतियों में होय तो भी वैद्यक से स्मृतिविरुद्ध हो तो स्मृति को अमन्तव्य मानना योग्य है क्योंकि स्व २ विषय में सर्वशास्त्र प्रमाणभूत व कार्य्यदा होते हैं और मुख्य करके वैद्यक का विषय तो प्रत्यक्ष है, जैसे वैद्यक में लिखा है कि अमुक कटु औषधि के खाने से मुख कड़ुआ होगा उसके खाने से मुख कड़ुआ होना ही है उस औषधि के कटुत्वप्रभाव को रोकने के लिये चाहे कितनी ही स्मृतियुक्त प्रायश्चित्त करे परन्तु वह वैद्यकशास्त्रोक्त औषधि का कड़ुआपन कभी दूर नहीं होसक्ता, इसीप्रकार शारीरिक विवाहादि विषयों में भी वैद्यक से विरुद्ध स्मृतियों के अनुकूल वर्ताव करनेवाले कृश दुर्बलेन्द्रिय अल्पायु अकालमृत्यु आदि अनेक दुःख के भागी अवश्य होंगे, जब वैद्यक ग्रन्थों के

❀ इस विषय को गृहस्थप्रकरण में देखो।

बनानेवाले भी हमारे ही महर्षि सर्वोत्कृष्ट हुए हैं फिर उन महानुभावों की आज्ञा के विरुद्ध वर्ताव करने से हानि क्यों न हो जब हमारे हिन्दू भाई धन्वन्तरि को ईश्वर का अवतार मानते हैं तो फिर उनके वचन के विरुद्ध अपने आचरण क्यों करते हैं ? हम हिन्दू भाइयों से पुनरपि निवेदन करते हैं कि सन्तानोत्पत्ति आदि शारीरिक विषय में चरक सुश्रुतादिक की आज्ञानुसार वर्ताव आप लोग किया करें, इस विषय में धन्वन्तरि आदि परम वैद्यों की यह सम्मति है, कि:—

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामपूजाः प्राप्स्यतीति।। सुश्रु० शा० अ० १०

पच्चीस वर्ष का पुरुष और सोलह वर्ष की स्त्री का विवाह होना चाहिये। उस पूर्वोक्त दम्पति से उत्पन्न हुई सन्तति ही माता-पिता की सेवा और धर्मार्थादि के सम्पादन करने में समर्थ होती है, इसलिये पूर्वोक्त समय पर ही—

असगोत्रान् ४ मातुरसपिण्डान् ।। ५ ।।

गोभि० गृ० सू० प्र० ३ कां ४

माता की छठी पीढ़ी और पिता के गोत्र की लड़की को छोड़कर—

बुद्धिरूपशीललक्षणसम्पन्नामरोगामुपयच्छेत् ।। ३ ।।

आश्व० गृ० अ० १ खं० ५।

बुद्धि रूप शील लक्षणयुक्त रोगरहित कन्या से विवाह करना योग्य है। प्रयोजन यह है कि सदृश रूप रंग गुण कर्म स्वभावयुक्त वर और कन्या परस्पर परीक्षा करके विवाह करें। परीक्षा करके विवाह करने से यह फल होता है कि—

सदा गृही सुखं भुंके स्त्रीलक्षणवती यदि तस्मात्सुख-समृद्ध्यर्थमादौ लक्षणमीक्षयेत् ॥ १ ॥

गोभि० गृ० सू० प्रपा० २ कां० १ के सूत्र २ पर की कारिका।

यदि पुरुष को स्त्री लक्षणवती मिले तो पुरुष सर्वदा सुखी रहता है, इसलिये प्रथम कन्या के लक्षणों की परीक्षा करें, एवं कन्या भी वर के लक्षणों की परीक्षा करे जैसे—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ ३० ॥

पंच० तन्त्र० २

जिनका समान ही वित्त है और समान ही कुल है उनका परस्पर विवाह और मैत्री होनी चाहिये। इससे विपरीत गुण कर्म स्वभाव कुल वित्तादि युक्त मनुष्यों का विवाह आदि सम्बन्ध होने से वे परस्पर दुःखभोगी होते हैं, इसलिये समानधर्मवालों का ही परस्पर सम्बन्ध होना श्रेयस्कर है। जैसे आजकल के दुष्ट लोग आठ वर्ष की लड़की का साठ वर्ष के बुड्ढे के साथ विवाह कर देते हैं, यह महा-अनर्थ होने से सर्वथा नहीं करना चाहिये, एवं स्त्री पुरुषों के अनेक विवाह भी न होने चाहियें, किन्तु प्रत्येक स्त्री

पतिव्रत धर्म पाले और प्रत्येक पुरुष भी एक पत्नीव्रत पालन करे। एक पति पत्नी की विद्यमानता में स्त्री द्वितीय स्त्री और पुरुष दूसरी स्त्री न किया करें। एक स्त्री वा पुरुष के जीते रहने पर किसी निमित्त विशेष के बिना द्वितीय विवाह करना वेद विरुद्ध और महा हानिकारक है। देखो वेद में लिखा है, कि: –

चक्रवाकेव दम्पति ॥६४॥ अथर्व० कां० १४अनु० २व० १३

जैसे चकवा चकवी का जोड़ा ही रहता है ऐसे ही स्त्री-पुरुष का भी जोड़ा होना चाहिये। अनेक विवाह करने से शरीर में दुर्बल अल्पायु विद्या आदि उत्तम गुणों से रहित गृह में नित्य कलह (लड़ाई झगड़ा) दरिद्रता निर्बल सन्तति व परोपकारशून्यता असभ्यतादि अनेक हानियें होती हैं, एवं शिष्टाचार से एक स्त्री को विद्यमानता में बन्ध्यादि निमित्तविशेष के बिना द्वितीय स्त्री से विवाह करने का भी निषेध पाया जाता है, तद्यथा—

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम ।
त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ॥२॥

बा० रा० अरण्यकां० स० १७

जब रामचन्द्र महाराज से शूर्पणखा ने कहा कि मुझसे आप विवाह करें तब रामचन्द्रजी ने उत्तर दिया कि मैंने विवाह कर लिया है। देख, यह सीता मेरे पास विद्यमान है

एक स्त्री के होने पर पुनः द्वितीय स्त्री से विवाह करने से (सपत्नता) सौत के दुःख से पुरुष दुःखी होता है, इसलिये एक स्त्रीव्रत ही पुरुष को पालन करना चाहिये, इत्यादिक वाक्यों से स्पष्ट है कि पूर्वकाल में एक ही विवाह करते थे, विवाह के प्रसंग से हम यहाँ पर 'विवाह' शब्द का भावार्थ और विवाह करने की आवश्यकता का संक्षेपतः निरूपण करते हैं, वि उपसर्ग पूर्वक वह प्रापणे धातु से घञ् प्रत्यय करने से विवाह शब्द सिद्ध होता है, और पूर्ण ब्रह्मचर्य्य पालन करके विद्यादि उत्तमगुणयुक्त होकर युवावस्था में वैदिक व लौकिक नियमानुसार कुमार कुमारी का पाणिग्रहणरूप जो सम्बन्ध विशेष होता है, उसको विवाह कहते हैं और इस बिवाह करने की आवश्यकता इसलिये है कि बिना विवाह के सन्तानोत्पत्ति सन्तान रक्षा आदि गृहाश्रम के प्रबन्ध व तज्जन्य सुख भी मनुष्यों को नहीं हो सकता है, इसलिये वैदिक वैवाहिक मन्त्रोक्त नियमानुसार विवाह करना योग्य है, विवाह के नियम वैवाहिक मन्त्रों में देख लेना चाहिये जो कि अथर्ववेद १४ कां० व ऋ० वे० अ० ८ में विद्यमान हैं, इन वैवाहिक मंत्रों का तात्पर्य्य यही है कि वर कन्या परस्पर नियम करलें कि हम दोनों जब तक जीते रहेंगे तब तक छल कपटादि सब दुष्ट व्यवहारों को छोड़ कर परस्पर प्रीतिपूर्वक बर्ताव करेंगे और गृहस्थाश्रम के कार्य्य में बद्ध परिकर होकर किसी प्राणी को पीड़ा न

देते हुए गृहस्थाश्रम के कार्य्यों द्वारा संसार के उपकार करने में यथाशक्ति अहर्निश उद्यत रहेंगे, इत्यादि।

इस विवाह विषय में हमारे पूर्वजों ने वर-कन्या के केवल वय आरोग्यता का ही विचार नहीं किया है किंतु विवाहोत्तर जिन-जिन पदार्थों के होने से दम्पति को लाभ और न होने होने से हानि होती है, तथा जिसके बिना गृहस्थ का निर्वाह ही नहीं हो सकता है उसका भी उन वीतराग महात्माओं ने परोपकार-दृष्टि से सम्यक् विचार करके स्पष्टोपदेश कर दिया है, आप जानते हैं कि :—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ॥
तया हि सहितः सर्वान् पुरुषार्थान्समश्नुते ॥ १ ॥

गोभि० गृ० प्र० १ कां० २ सू० १५।

जब पुरुष का विवाह होजाता है तभी से वह गृही होजाता है और जब से वह गृहस्थ होता है तभी से उसको अनेक पदार्थों की आवश्यकता होती है और सांसारिक पदार्थ सर्व धनाधीन हैं, इसलिए पाराशरस्मृति अ० ४ शुक्रनीति अ० ३ तथा यमस्मृति आदि ग्रन्थों में भी धनयुक्त वर से विवाह करना लिखा है, एवं जगत्विदित आदि छन्दोविद्याप्रचारक महामुनि पिङ्गलजी ने अपने वेदाङ्ग पिंगलसूत्र में लिखा है कि :—

धी श्री स्त्रीम् ॥ १ ॥ १ पा० पिंगलसू०।

इस सूत्र पर हलायुध की वृत्ति ऐसी है "अध्ययनाद्धीर्भवति यस्य धीस्तस्य श्रीर्बुद्धिपूर्वकत्वाद्विभूतेः यस्य श्रीस्तस्य स्त्री अर्थमूलकत्वाद्गार्हस्थ्यस्य" इति

प्रथम मनुष्य विद्या पढ़कर बुद्धि को बढ़ावे फिर बुद्धि द्वारा न्यायपूर्वक विविध व्यवहारों से धनोपार्जन करे। पश्चात् विवाह करे क्योंकि विद्या के बिना पुरुष यथावत् धन को पैदा नहीं कर सकता है और बिना धन के गृहस्थाश्रम का सेवन कभी नहीं हो सकता, जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध बाल्यावस्था में विवाह करते हैं वे संसार में दुःख का अनुभव करके थोड़े ही काल में काल के कलेवा होजाते हैं और अपना यह लोक परलोक बिगाड़ देते हैं, अतः हमारा सब मनुष्यों से सविनय निवेदन है कि इस बालविवाह प्रलयाग्नि से अपने आप बचके और अपने बाल बच्चों को बचा कर इस मनुष्य जन्म के धर्मयुक्त सब सुखों को भोगेंगे, हाँ इस बात को हम भी मानते हैं कि यदि कोई अपने लड़के का ४८ वर्ष तक और लड़की का २४ वर्ष तक विवाह न करे तो इस समय में एक साथ ४८ वर्ष के अवस्था के पुरुष को कन्या मिलना और २४ वर्ष की अवस्था की कन्या को वर मिलना दुःसाध्य ही नहीं किन्तु असाध्य सा ही प्रतीत होता है और जिन के माता पिता का ब्रह्मचर्य्य ठीक नहीं है उनसे एक साथ ऐसा उत्तम

ब्रह्मचर्य्य पालन करना भी कठिनतम है परन्तु शनैः २ ब्रह्मचर्य्य को क्रमशः बढ़ाते २ पुनः कुछ पीढ़ियों के बाद उत्तमोत्तम ब्रह्मचर्य्य को प्राप्त होना सर्वथा संभव है इस वर्त्तमान दशा में प्रत्येक लड़का पच्चीस वर्ष और लड़की १६ वर्ष से इधर विवाह करे तो पुनः शनैः शनैः उत्तम ब्रह्मचर्य्य को प्राप्त हो सकते हैं, अतएव इसी क्रम को सब मनुष्य अवलम्बन करें तो अत्युत्तम है जैसे वैद्यक शास्त्र का सिद्धान्त है कि २५ वर्ष से न्यून वय में पुरुष विवाह न करे, ऐसा ही मनुजी का भी सिद्धांत है किः—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्य गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१॥ मनु० अ० ४

प्रथम आयु का चौथा* भाग २५ वर्ष तक गुरु के पास निवास करके आयु के द्वितीय भाग अर्थात् २५ वें में विवाह करके गृहस्थाश्रम में निवास करे। वैदिक सिद्धांतानुकूलः—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः*पृथगाश्रमाः । ८७मनु०अ०६

---

*पश्येम शरदः शतम् ।१। अथ० कां० १६ व० ६७ इत्यादि वैदिक प्रमाणों से सिद्ध है कि मनुष्य की १०० सौ वर्ष की आयु है उसका चौथा भाग २५ पच्चीस वर्ष ही होते हैं।

*चातुर्णामाश्रमाणाञ्च गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् ॥२२॥ बा० रा० अ० कां० स० १०६ यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।

ब्रह्मचर्य्या, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त ये ४ आश्रम हैं:—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ॥
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्विभर्ति हि ॥८८॥
मनु० अ० ६

इन चारों आश्रमों में वेद और स्मृति के विधान से गृहस्थ हो श्रेष्ठ है; क्योंकि गृहस्थ ही सर्वाश्रमियों का पालन करता है और पालन करने में गृहस्थ को अनेक कार्य्य करने की आवश्यकता होती है और:—

कारणभावात् कार्य्यभावः ॥३॥ वैशे० अ० ४ आ० १ ।

इस महर्षि कणादि के वाक्यानुसार प्रत्येक कार्य्य अपने अपने कारणों से होते हैं। वे कारण तीन प्रकार के हैं—जैसे समवायि कारण असमवायि कारण और निमित्त कारण, इन तीनों कारणों के विना कोई भी कार्य्य नहीं हो सकता। जैसे पट के बनाने में (पट का) समवायि कारण (तन्तु) सूत के धागे हैं और असमवायि कारण उन तन्तुओं का संयोग है अर्थात् उन धागों को जो आपस में मिलावट को ही असमवायि कारण कहते हैं, एवं तीसरा निमित्त कारण होता है। यह निमित्त कारण भी गौण और मुख्य भेद से दो प्रकार का है—जैसे पट (कपड़े)

एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः ।६। भारत शांतिपर्व अ० २६६ ।

के बनाने में देश, काल, आकाश, दिशा, पृथकत्व, संख्या, परिणाम, परत्वापरत्व, विभागादि गौण निमित्त कारण हैं और कर्त्ता, इच्छा, प्रयत्न, अनुभव तथा पट बनाने की सामग्री तुरी वेमादि पट के मुख्य निमित्त कारण हैं इन मुख्य निमित्त कारणों में भी कर्त्ता मुख्य प्रधान कारण है क्योंकि इच्छादि सर्व पदार्थ कर्त्ता के ही आधीन रहते हैं, इन तीन कारणों के विना कोई भी कार्य्य नहीं हो सकता, इसलिए इन तीनों कारणों को ध्यान में रख कर बुद्धिपूर्वक प्रत्येक कार्य करना योग्य है, सर्व कार्यों के करने में मनुष्यों को प्रथम कार्यों का विभाग करना समुचित है जिससे मनुष्य कार्य को यथावत् कर सके। मनुष्यों को अपने सम्पूर्ण आयु के कर्त्तव्यों को निम्नलिखित षट् विभागों में विभक्त करना चाहिये,—जैसे १ आत्मरक्षण २ जीविका ३ सन्तानसंरक्षण (संगोपन) ४ समाज-संस्था ५ मनोरंजन ६ ईश्वरोपासना, इन ६ कर्त्तव्यों को क्रमशः करना चाहिये, इन कर्त्तव्य कर्म में छठे कर्त्तव्य को छोड़कर पर २ की अपेक्षा पूर्व २ का कर्त्तव्य श्रेष्ठ होने से क्रमशः इनको एक दूसरे के पीछे करना योग्य है। इन कर्त्तव्यों के यथार्थ महत्त्व को न जानने से अनेक मनुष्य किसी उत्तम वा अधम एकदेशीय कार्य में अपना अमूल्य मनुष्य-जन्म नष्ट कर देते हैं—जैसे कितनेक मनुष्य कुछ विद्याभ्यास करने से ही अपने को कृतकृत्य मानते हैं कितनेक लोग धन संचय करने को ही

परम पुरुषार्थ समझते हैं कितनेक मनुष्य लोगों को दिखाने के लिये अपना सर्वस्व नाश करके परोपकार करने से अपने आप को कृतकार्य मानते हैं कितनेक केवल स्त्री पुत्रादि के मोह में निमग्न होकर तदाराधन में ही मनुष्यजन्म की सार्थकता मान लेते हैं और कित्तनेक मनुष्य केवल "यावज्जीवेत् सुखं जीवेद्दणं कृत्वा घृतं पिवेत्" के उदाहरण को सुफल करने में ही अहर्निश लगे रहते हैं, एवं अनेक मनुष्य तीर्थाटन में और कोई २ असदुपासना में लगे रहते हैं, इन सात प्रकार की प्रकृतियों के मनुष्य अपने २ कर्त्तव्याभिमान में निमग्न होकर दूसरों की वार्ता भी नहीं श्रवण करते। परन्तु इन सब मनुष्यों का कर्त्तव्य एकदेशीय होने से अमाननीय है, क्योंकि जो प्रथम श्रेणी का पुरुष है वह पुस्तक बाँचने से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता पुस्तक से अतिरिक्त संसार के सर्व पदार्थ उसको ऐसे अमंगल व भयंकर प्रतीत होते हैं जैसे जंगली पशु को नगर के पदार्थ, पुस्तक छोड़ कर जरा घर से बाहिर निकला कि वह बावला वन जाता है। मानो उस दृष्टि में संसार कुछ है ही नहीं, एवं संसार की दृष्टि में वह नहीं है ऐसे पुरुषों को संसार में कोई भी पदार्थ रमणीय प्रतीत नहीं होता किन्तु ऐसे पुरुष केवल पढ़े पशु होते हैं। ऐसे पुरुषों से संसार को कुछ भी लाभ नहीं होता, ऐसे पठित पशु संसार में तथा विशेषतः इस भारतवर्ष देश

में बहुत विद्यमान हैं, अस्तु द्वितीय श्रेणी के मनुष्य लोभ-ग्रस्त होने से धर्माधर्म की ओर दृष्टि न देकर केवल कौड़ी २ जोड़ने में ही अपना परम धर्म मानते हैं। परन्तु संसार में क्या क्या कार्य होरहे हैं और हमारा कर्तव्य क्या है इसकी ओर उनका लवलेशमात्र भी ध्यान नहीं होता। अपना आत्मरक्षण वे नहीं करते सन्तानों को विद्याभ्यास वे नहीं कराते। विद्या की बात को वे नहीं जानते यदि उनके सन्मुख न्याय वेदान्त व्याकरण रसायनविद्या कला कौशल व पदार्थविद्या आदि की बात करोगे तो वे कहेंगे कि ये चीजें किस साहूकार की दुकान पर कितने पैसे सेर बिकती हैं ? उनका काम केवल धन संचय करना है, ऐसे लोग केवल धन एकत्र करने वाले धन के मजूर होते हैं, अतः उनका जन्म भी निरर्थक ही है, तृतीय श्रेणी के मनुष्य एक प्रकार के परोपकारी होने से किसी अंश में कुछ लोगों की दृष्टि में वे अच्छे होंगे परन्तु वास्तव में ऐसे पुरुष कुटुम्बघाती होने से शास्त्र-दृष्टया अधर्मी हैं। देखो मनुस्मृति में लिखा है कि:—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःख जीविनी।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्म्मप्रतिरूपकः॥ ९॥

मनु० अ० ११।

जो मनुष्य अपने माता पिता भ्राता भगिनी स्त्री पुत्रादिकों का यथावत् पालन न करके लोकयशार्थ धन को परमार्थ में लगा देता है वह प्रथम तो लौकिक यशरूप

मिष्टस्वाद को भोगता है, परन्तु उसका परिणाम अन्त में विष के सदृश दुःख होता है क्योंकि जो कुछ वित्त था वह एक बार उसने (जिसको परमार्थ समझा है उसमें) लगा दिया, पुनः अपने आप भीख मांगने लगता है लड़के भूखे मरते और चोरी आदि कुकर्म करते हैं, गृह में नित्य कलह बना रहता है इसका परिणाम अन्त में यह होता है कि या तो विष खा के सो रहते हैं अथवा बाबाजी बन कर रफूचकर होते हैं। बाल बच्चे विद्याहीन दीन मलीन ही रहते हैं, स्त्रियें अन्यान्य चेष्टायें करती हैं सम्बन्धियों में वे और सम्बन्धि अन्यों के सम्मुख मुख दिखाने योग्य नहीं रहते, शक्ति से बाहर ऐसे बिना समझ के काम करने से ऐसी दुर्दशा होती है इस पर अपकार को स्वार्थी भोजन भट्टों से अतिरिक्त और कोई भी परोपकार नहीं कह सक्ता, भवतु-चतुर्थ श्रेणी के मनुष्य केवल स्त्री पुत्रों के मोहजाल में ही अपनी आयु नष्ट कर देते हैं। धनोपार्जन वे नहीं कर सक्ते, आत्मरक्षण वे नहीं जानते। सन्तानसंरक्षण वे नहीं कर सक्ते, एवं सन्तान सुशिक्षण व परोपकार वे नहीं कर सक्ते। संसार में अन्य किसी कार्य्य को वे स्त्रैण पुरुष नहीं कर सकते। ऐसे पुरुष भी केवल नाममात्र के ही मनुष्य हैं, अब पांचवीं श्रेणी के मनुष्य तो केवल राक्षस हैं इनकी स्थिति अतीव शोचनीय है। वे मूढ़बुद्धि निष्केवल जगत की हानि ही करते हैं, अन्य प्राणियों को दुःख देकर अपना प्रयोजन

सिद्ध करनाही वे अपना मुख्य कर्त्तव्य मानते हैं। यदि सब संसार के मनुष्य ऐसी दुष्ट प्रकृति के हो जायें तो एक दिन में महाप्रलय हो जावे, जब एक दूसरे के धनादि पदार्थ को छल कपट दम्भ पाखण्ड अन्याय बलात्कार से हरण करने लग जायें तो फिर संसार में कोई भी कैसे रह सकता है? इसलिये पंचम श्रेणी के मनुष्य अत्यन्त अधम और संसार-अरण्य को दावानल हैं। परमात्मा ऐसे राक्षस दुष्ट मनुष्यों का किसोको दर्शन न करावे, वर्त्तमान समय में इस ५ श्रेणी के मनुष्य बढ़ते जाते हैं हम नहीं जानते कि देश की क्या दशा होगी। परमात्मा कुशल करे, ६ श्रेणी के लोग मूर्खता से आजन्म तीर्थों के निमित्त मांगते खाते फिरते हैं। चाहे वे वेषधारी हों वा वैसे ही हों उनको हमः—

तो मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥ १२ ॥ भर्तृ०।

मनुष्यों की श्रेणी में नहीं गिनते किन्तु वे केवल संसार के लिये दरिद्रतारूप रोग हैं। इस रोग की औषधि इनको यूरोपवत् उद्योग में लगाना ही है, एवं जो लोग परमात्मा की सद्भक्ति में ही तत्पर रहते हैं और संसार का कुछ उपकार नहीं करते वे भी सर्वांश में प्रशंसनीय नहींहोसक्ते। परन्तु जो लोग केवल बनावटी ईश्वरभक्ति में लगकर संसार के अन्न-वस्त्रादि का ग्रहण करके संसार का उपकार नहीं करते यह उनकी महाकृतघ्नता है, अतः मनुष्यों को ऐसे

व्यवहार कदापि न करने चाहियें, यदि वास्तव में देखा जाय तो सब के सब मनुष्य अविद्या की नींद में सोये हुए हैं। जब तक पूर्वोक्त ६ कर्त्तव्यों को यथावत् नहीं करेंगे तब तक वे अविद्या की नींद में ही पड़े रहेंगे, अतएव पूर्वोक्त ६ कर्त्तव्यों को यथाक्रम से करना समुचित है। इन ६ कर्त्तव्यों में से प्रथम कर्त्तव्य आत्म-रक्षण है क्योंकि आत्मरक्षण के बिना शरीर आत्मा का वियोग होजाने से शेष कर्त्तव्य नहीं हो सक्ते। इस हेतु से चरक में लिखा कि :—

प्राणैषणा धनैषणा परलोकैषणेति आसान्तु ख-
ल्वैषणानां प्राणैषणां तावत् पूर्वतरमापद्येत।
कस्मात्प्राणपरित्यागे हि सवपरित्यागः ॥

चरकसूत्र० अ० ११।

प्राण, धन और परलोक इन तीनों एषणाओं [कामनाओं] में प्रथम प्राणैषणा करनी चाहिये, क्योंकि प्राण के परित्याग से इन सब का नाश हो जाता है, एवम् :—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः* संस्थितिहेतवः।
तं निघ्नता किन्न हतं रक्षता किन्न रक्षितम् ॥४३॥

हि० मि० १।

धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन सब का कारण प्राणर-

---

* प्राणेन विश्वतोवीर्य्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ॥ ७ ॥ अथर्व० कां ३ अनु० ६ व० ३१ विद्वान् लोग प्राणों से ही सर्वव्यापक परमात्मा को जान लेते हैं।

क्षण है। जिसने अपने प्राणों का नाश किया उसने सब पदार्थों का नाश कर दिया और जिसने अपने प्राणों की रक्षा की उसने सर्व पदार्थों की रक्षा की, इसी प्रयोजन से वेदों में भी अन्य सब कर्त्तव्यों से प्रथम आत्मरक्षण हो करने की सब मनुष्यों को परमावश्यकता दर्शाई है जैसे :-

क्षत्रेणात्मानं परिधापयाथ ॥ ५१ ॥

अथ० कां० १२ अनु० ३ व० १८।

[क्षत्रेण*] धनादि पदार्थों से [आत्मानं] आत्मा की [परिधापयाथ] सम्यक् रक्षा करो, इसी प्रकार मनुस्मृति में भी लिखा है कि:—

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

मनु० अ० ७।

विपत्ति के लिये धन की रक्षा करे, और धन से स्त्री की रक्षा करे तथा धन और स्त्री इन दोनों से निरन्तर अपनी रक्षा करे, यद्यपि सामान्यतः प्राणिमात्र में स्वात्मरक्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है, यथा भूख, प्यास (क्षुधा, पिपासा) लगने पर अन्न, जलादि से सब प्राणी अपनी २ रक्षा करते हैं, एवं जितने दुःखद, आत्मह्रा पदार्थ हैं उन सबों से प्राणीमात्र बचने का प्रयत्न भी यथाशक्ति

* क्षत्रमिति धननामसु पठितम् निघन्टो २, १०

करते हैं, अतः स्वात्मरक्षण के विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो नैमित्तिक आत्मरक्षण के बिना स्वाभाविक आत्मरक्षण अकिंचित्कर है, क्योंकि स्वाभाविक आत्मरक्षण तो ये है कि भूख लगने पर कुछ खाना चाहिये परन्तु नैमित्तिक आत्मरक्षा का हेतु वैद्यक के नियम उसके विरुद्ध मिथ्या आहार-विहार करने से तत्क्षण रोगग्रस्त होकर आत्मरक्षण के अभाव द्वारा सर्व पदार्थों के अभाव का अनुभव करने लगता है, इसी हेतु से चरक में लिखा है कि:—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूल मुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥
चरक सू० अ० १।

धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन सर्व पदार्थों का मूल कारण (आरोग्य) रोगरहित शरीर है और आरोग्य का तथा आयु का नाश करनेवाले रोग हैं। वे रोग वैद्यक के नियम से विरुद्धाचरण करने से होते हैं, इसलिये वैद्यकशास्त्र के अनुसार युक्ताहार* विहारादि से शरीर को नीरोग रखके आत्मरक्षण† करने में प्रवृत्त होना मनुष्य

*आहारादि का विषय दिनचर्या में देखो।

† आत्म-रक्षा के विषय में शतपथ ब्राह्मण का भी यही सिद्धान्त है कि "आत्मानस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" श० ब्रा० कां० १४, आत्मा के वास्ते ही सर्व पदार्थ प्रिय होते हैं। यदि आत्म-रक्षण न किया जाय तो वे पदार्थ किस काम के हैं।

मुख्य कर्त्तव्य है। इसी अभिप्राय से चरक में लिखा है कि

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ।
तभद्वे हि भावानां सर्वभावः शरीरिणाम् ॥

चर० नि० अ० ६।

अन्य सर्व पदार्थों का परित्याग करके शरीर की रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि शरीर के नाश होने से सर्व पदार्थों का नाश हो जाता है प्रयोजन यह है कि सांसारिक व पारमार्थिक सर्व पदार्थों का मूल कारण शरीर ही है इसी कारण से अथर्ववेद में प्रतिपादन किया है कि—

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्चया ।
व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥ २६॥

अथर्व० कां० ११ अनु० ४ व० २४।

जब तक मनुष्य का शरीर विद्यमान रहता है तभी तक प्राण, अपान, व्यान, उदान, आँख, कान, वाणी, मन, पृथ्वी और जो पृथ्वी से भिन्न पदार्थ हैं ये सब शरीर के होने पर ही अपनी निज अवस्था (असली हालत) में रहते हैं तथा अपने २ कार्य्य को भी शरीर के विद्यमान होने से ही कर सकते हैं, इसलिये सब से मुख्य कर्त्तव्य मनुष्यमात्र का यह है कि प्रथम सर्व प्रकार से अपने आत्मा की रक्षा करे, जैसे—

तस्मात्पुरुषो मतिमान बलमात्मनः

समीक्ष्य तदनुरूपपाणि कर्माण्यरभते कर्त्तुम् ।
बलसमाधानं हि शरीरं शरीरमूलश्च पुरुषः ।
साहसं वर्जयेत्कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः ।
जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टं कर्मणः फलमश्नुते ॥ १ ॥

चर० नि० अ० ब ।

बुद्धिमान् पुरुष को समुचित है कि अपने बल को देखकर बलानुसार काम करें बल से बाहिर काम न करे क्योंकि बल के बाहिर (अधिक) काम करने से बल का नाश होने से शरीर का भी नाश हो जाता है शरीर बल के आधार से रहता है और शरीर के आधार से मनुष्य जीता है इस हेतु से चरककार कहते हैं कि साहस करके हठ से ऐसे कर्म को न करे जो कि आत्मा का हानिकारक हो क्योंकि यदि पुरुष जीता रहेगा तो उत्तम कर्मों का फल भोगेगा और यदि पूर्वोक्त मूर्खता से अपनी शक्ति से बाहिर उजड्डपन के काम करेगा तो संसार से शीघ्र ही विसर्जन होजायगा, इस जगत् में आत्मरक्षण तत्त्व को न जानकर स्वार्थवशात् अनेक अज्ञ मनुष्य अपनी आत्मा की हानि कर बैठते हैं जैसे मजूर अधिक भार उठा कर, भूखा (दरिद्र) अधिक खाकर, विद्यार्थी अधिक विद्याभ्यास करके, बाबू लोग कागज़ काले करके, और नौकर नौकरी से, कामी काम से, लोभी लोभ से, क्रोधी क्रोध से, व्यस-

नी व्यसन से, एवं सब मनुष्य स्व स्व मूर्खता के वशीभूत हुए आत्मरक्षण के तत्त्व को न जानने से आत्मघाती होजाते हैं परन्तु हमारे ऋषि महर्षियों का यह सिद्धान्त है कि:—

कर्म चात्महितं कार्यं तीक्ष्णं वा यदि वा मृदु ।
ग्रस्यते कर्मशीलस्तु सदानर्थैरकिञ्चनः ॥ ८३ ॥

भा० शां० प० अ० १३९

एवं चरक निदानस्थान अ० में भी है।

जो आत्मा का हितकारी कर्म हो वही कर्म करना चाहिये वह कर्म चाहे मृदु हो वा तीक्ष्ण हो परन्तु जो मनुष्य आत्मा के हित की ओर ध्यान न देकर केवल कर्मों में ही फँस जाता है वह मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता इसी हेतु से भारत में कहा है कि:—

सर्वस्वमपि संत्यज्य कार्यमात्महितं नरैः ॥ ८४ ॥

भा० शां० प० अ० १३९

सर्वस्व का परित्याग करके प्रथम मनुष्य को आत्महित करना चाहिये। इस विषय को संक्षेप से ही प्रतिपादन किया है, आशा है कि बुद्धिमान् स्वतः इसके विस्तार को जान लेंगे, आत्म-रक्षण के अनन्तर द्वितीय कर्त्तव्य जीविका है, जीविका शब्द का अर्थ यह है कि (**जीव्यते अनया सा जीविका**) जिससे मनुष्य जी सके अर्थात् मनुष्य के जीने का जो साधन है उसको जीविका कहते हैं, और मनुष्य के

जीने के साधन मुख्य अन्न, वस्त्र, भृत्य, पश्वादि हैं और अन्नादि सर्व पदार्थ धनाधीन हैं इसी अभिप्राय से वेद में वर्णन किया है किः—

आयुष्यं वर्च्चस्यꣳरायस्पोषमौद्भिदम् ।
इदꣳहिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशता दु माम् ॥५०॥

यजु० वे० अ० ३४ ।

जो सुवर्णादि धन आयु का हितकारी, अध्ययन का सहायक, गौ अश्वादि पशुओं का पोषक, दुखों का नाशक और अच्छे अन्न को प्राप्त करानेवाला है वह सुवर्णादि धन सर्व कार्यों की जय अर्थात् सिद्धि के लिये मनुष्यों को उपार्जन करना चाहिये, इसी प्रकार अथर्व वेद में भी लिखा है किः—

यो * बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १ अनु० ६ व० ३५

जो चातुर्य्य से सुवर्णादि धन का उपार्जन करता है वही सब जीवों में अपनी आयु को बढ़ा सकता है इन वेद-वाक्यों से स्पष्ट विदित होता है धन मनुष्यों को सब सुखों का देने वाला है इसी प्रयोजन से वेद में प्रतिपादन किया है:-

---

* येन धनेन प्रपण्ञ्चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ॥
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नी देवान् हविषा निषेध ॥२॥
अथर्व० कां० ३ अ० ३ व० १५ ।

इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा ॥५६॥

अथर्व० कां० १ अनु० ४ व० २५

तेरे पिता आदि भद्र बुद्धिमान् पुरुष जैसे सुवर्ण का उपार्जन करते आये हैं ऐसे तू भी कर, यह परमात्मा की आज्ञा है अतः इस आज्ञा का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषत् में भी स्पष्ट किया है जैसे:—

भूत्यै न प्रमदितव्यम् ॥१॥ तै० अनु० ११ वल्ली० १

धनोपार्जन करने में प्रमाद कभी नहीं करना चाहिये किन्तु अधर्म्मकार्य्यों को छोड़कर अहर्निश धनोपार्जन करना मनुष्यों को अत्यावश्यक है इतना ही नहीं किन्तु महाभारत का तो यह सिद्धान्त है, कि धनोपार्जन करना मनुष्यों का परमधर्म है देखो:—

धनमाहुः परं धर्मं * धने सर्वं प्रतिष्ठतम् ।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥२३॥

भा० उद्यो० प० अ० ७२ ।

धन को ही परम धर्म कहते हैं इस धन में ही सर्व पदार्थ विद्यमान हैं जिनके पास धन है वेही पुरुष सजीव

---

* सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधन्धर्मलक्षणम् ॥ चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ॥ ३ ॥ भारत शां० अ० २६ । यन्त्विमं धर्म्ममित्याहुर्द्धनादेष प्रवर्त्तते । धर्मसंहरते तस्य धनं हरति यस्य स ॥ दारिद्र्यं पातकं लोके न तच्छंसितुमर्हतिः । पतितः शोचते राजन् निर्धनश्चापि शोचते ॥ भा० शां० प० अ० ८ ।

(जिन्दे) हैं और जिनके पास नहीं है वे पुरुष जीते ही मेरे हुए हैं जैसे (शव) मुर्दा कुछ भी काम नहीं कर सकता ऐसे ही धन के बिना पुरुष भी किसी काम को नहीं कर सकता और धन से बुद्धिमान् मनुष्य सब कुछ कर सकता है, जैसे पंचतंत्र में लिखा है कि:—

न हि तद्विद्यते किञ्चिद्यदर्थेन न सिध्यति ।
यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत् ।। २ ।।

ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो धन से न मिल सके, अतः यत्न से धनोपार्जन कीजिये:—

यस्यार्थाः तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ।।३।।

जिसके पास धन है उसी के मित्र हैं, उसी के भाई हैं, वही संसार में पुरुष है और वही पण्डित है ।

इह लोके हि धनिनां परोऽपि स्वजनायते ।
स्वजनोऽपि दरिद्राणां सर्वदा दुर्जनायते ।। ५ ।।

इस संसार में धनाढ्य लोगों के शत्रु भी मित्र के सदृश होजाते हैं और दरिद्र लोगों के मित्र भी शत्रुवत् होजाते हैं।

अर्थेभ्योऽपि हि वृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः ।
प्रवर्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवापगाः ।। ६ ।।

जिनके पास बहुत धन होता है उनके सर्वत्र सभी काम

आप से आप होजाते हैं जैसे पर्वतों से अपने आप नदियें निकलती हैं।

पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य च ॥ ७ ॥

धन के प्रभाव से अपूज्य की भी पूजा होती है जो पास खड़ा होने योग्य नहीं है वह भी वन्द्य हो जाता है और जो प्रणाम करने योग्य नहीं है वह भी वन्द्य होजाता है ये सब धन ही का प्रभाव है।

अशनादिन्द्रियाणीव स्युः कार्य्याण्यखिलान्यपि।
एतस्मात्कारणाद्वित्तं सर्वसाधनमुच्यते ॥ ८ ॥

पञ्च० मित्रभेद १।

जैसे भोजन करने से सब इन्द्रियें पुष्ट और बलिष्ठ हो जाती हैं ऐसे ही धनरूप साधन से सर्व कार्य्य होते हैं, इसी कारण से धन को सर्व पदार्थों का साधन कहा है, एवं:-

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि सज्जनैर्वर्जितः सदा।
सेव्यते स नरो लोके यस्य स्याद्वित्तसञ्चयः ॥१४५॥

पंचतन्त्र २।

चाहे वह पुरुष कृपण भी हो, अकुलीन भी हो और जो सज्जनों के पास जाने के योग्य भी न हो अथवा सज्जनों ने जिसका परित्याग भी कर दिया हो परन्तु यदि उसके पास धन होय तो वह पुरुष लोक में मनुष्यों का

पूज्य ही होता है, इसी प्रकार शुक्रनीतिकार ने भी कहा किः—

अस्ति यावत्तु सधनस्तावत्सर्वैस्तु सेव्यते ।
निर्धनस्त्यज्यते भार्य्यापुत्राद्यैः सगुणोप्यतः ।१७९।

अ० ३।

जब तक पुरुष के समीप धन है तभी तक स्त्री पुत्रादि उसकी सेवा करते हैं और धन न रहने पर स्त्री पुत्रादि भी उसके समीप नहीं जाते क्योंकिः—

श्रीमान् स यावद्भवति तावद्भवति पुरुषः ॥३६॥

भा० उ० अ० ७२

जब तक मनुष्य के पास धन होता है तभी तक वह पुरुष है और धन के न होने से पुरुष में पुंसत्व नहीं रहता, इसी अभिप्राय से भर्तृहरि ने भी कहा है किः—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ॥४१॥ भर्तृहरि ।

जिसके पास धन है वही पुरुष कुलीन, वही पण्डित, वही बहुश्रुत, वही गुणज्ञ और वही दर्शनीय है क्योंकि सब गुण धन के आश्रित रहते हैं परन्तु इस सर्वतन्त्र-सिद्धान्त के नहीं जाननेवाले हमारे कितनेक भोले पण्डित

आजन्म काव्य कोष और भट्टोजिदीक्षितविरचित कौमुदी की फक्किकाओं को ही घोटा करते हैं और अन्न-वस्त्र से वे सर्वदा दुःखित बने रहते हैं वे इस वाक्य की ओर ध्यान नहीं देते हैं कि:—

बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते, पिपासितैःकाव्यरसो न पीयते न छन्दसा क्वापि समुद्धृतं कुलं, हिरण्य-मेवार्जय निष्फला गुणाः ॥२४॥ सुभाषितमुक्तावल्यां चतुर्थे मणौ ।

भूख लगने पर व्याकरण को नहीं खा सकते, और और प्यास लगने पर काव्य के रस को नहीं पी सकते, न छन्दोग्रन्थ ने किसी कुल का उद्धार किया, इसलिये ग्रन्थ-कार कहता है कि भाई धन को उपार्जन (पैदा) करो क्योंकि बिना धन के ये सब गुण निष्फल हैं इसी हेतु से इसी ग्रन्थ में लिखा है कि:—

धनं संचय काकुत्स्थ धनमूलमिदं जगत् ।
अन्तरन्नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च ॥२१॥

सुभाषितमु० म० ४

धन का सञ्चय करो क्योंकि यह सब जगत् धनमूलक है, निर्धन में और मुर्दे (शव) में कुछ भेद नहीं दिखाई देता, अनेक ग्रन्थकारों ने निर्धन पुरुष को (शव) मुर्दा ही वर्णन किया है और वास्तव में निर्धन पुरुष मुर्दे के

समान ही है जैसे मुर्दे में किसी प्रकार की शोभा नहीं होती ऐसे ही निर्धन में भी, एवं:—

शीलं शौचं क्षांतिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म ।
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तहीनस्य पुरुषस्य ॥२॥

शील, शौच, शान्ति, चातुर्य्य, मधुरता और कुलीनता ये सब के सब धनहीन को शोभा नहीं देते, एवं:—

मानो वा दर्पो विज्ञानं विभ्रमः सुबुद्धिर्वा ।
सर्वं प्रणश्यति समं वित्तहीनो यदा पुरुषः ॥३॥

जब पुरुष धनहीन होजाता है, तो उसके मान, अभिमान, विज्ञान विलास और सुबुद्धि ये सब नाश होजाते हैं, तथाः—

नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य ।
घृतलवणतैलतण्डुलवस्त्रेन्धनचिन्तया सततम् ॥५॥

पंच० तन्त्र ५ ।

धनहीन महान् बुद्धिमान् की भी बुद्धि उस समय में नष्ट हो जाती है कि जब घी, तेल, लूण, लकड़ी और अन्नादि की चिन्ता होती है इस चिन्ता का कारण दरिद्रता है दरिद्रता से केवल दरिद्र को ही दुःख नहीं होता किन्तुः—

बुभुक्षितः किन्न करोति* पापं,

*किं चित्रं यदिराजनीतिकुशलो राजाभवेद्धार्मिकः किं चित्रं

क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।
आख्या हि भद्रे प्रियदर्शनस्य,
न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम् ॥१६॥

पंच० तन्त्र ४

दरिद्र (बुभुक्षित) पुरुष सर्व प्रकार के पाप करता है जिससे सर्व मनुष्य को दुःख होता है, 'मरता क्या न करता' इस लौकिक दृष्टान्तानुसार निर्धन पुरुष करुणा से रहित होकर वह किसी प्रकार के पाप, दुराचार व अन्य पुरुषों को दुःख देने से नहीं डरता, यह वार्त्ता केवल लेखमात्र ही नहीं है किन्तु इस दरिद्रता के कारण से जगत् में अनेक प्रकार के दुराचार हो रहे हैं और इस दुराचार के कारण दारिद्र्य की भी प्रतिदिन वृद्धि ही दृष्टिगत व श्रवणगोचर होती जाती है, अतः इस दुष्ट रोग की निवृत्त्यर्थ कतिपय

नात्मानमवमन्यते पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥१३७॥

मनु० अ० ४

यदि वेदशास्त्रनिपुणो विप्रो भवेत्पण्डितः। तच्चित्रं यदि रूप-यौवनती साध्वी भवेत्कामिनी, तच्चित्रं यदि निर्धनोऽपि पुरुषः पापं न कुर्य्यात् क्वचित्॥ १०२६ सु० भां प्र० ३।

महात्माओं के वाक्य उपायरूप हेमगर्भमात्र का प्रयोग यहाँ पर करते हैं वह यह किः—

पैतृक निर्धनता के कारण से अपने आप को तुच्छ (निकम्मा) अनाथ (दीन) कंगाल मान कर हतोत्साह कदापि न होवे, किन्तु मरणपर्यंत धनोपार्जन की इच्छा तथा प्रयत्न करता हुआ धन को संचय करे यदि उद्योग करने पर धन प्राप्त न होवे तो उदासीन न होकर धन को अलभ्य न समझ कर बारंबार उद्यम करता रहे ऐसा न मान बैठे कि धन हमको न मिलेगा क्योंकि जो पुरुष निराश हो जाता है, वह किसी काम का नहीं रहता, अतः उत्साहपूर्वक धर्म-युक्त धनोपार्जन में मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिये, एवं:—

न त्वेवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन ।
न ह्यात्मपरिमतस्य भूतिर्भवति शोभना ॥५८॥

भा० वनप० अ० ३२।

अपने आप का अपमान व अनादर कभी न करना चाहिये क्योंकि जो आत्मा का तिरस्कार करता है उस पुरुष को धनादि पदार्थ कभी प्राप्त नहीं होते प्रयोजन यह है कि मनुष्य को उत्तम वस्तुओं के संचय करने में उद्यत रहना चहिये, जैसा कि वेद में भी प्रतिपादन किया है कि:-

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह । प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं १ संस्पृशस्व ॥३४॥

अथर्व० कां १३ अनु० २ व० ४।

शरीर को सुरक्षित रख के सरलता से दिव्य पदार्थ, पृथ्वी, राज्य, धन, प्रजा और अमृत (अखण्ड) सुख इन सब पदार्थों को प्राप्त हो।

वेद इस विषय में इतना ही नहीं दर्शाता बारंबार इस विषय का उपदेश करता है कि:—

अदीनाः स्याम शरदः शतम् ॥२४॥ य० अ० ३६।

हम शत वर्ष पर्यन्त [दीनता] दरिद्रता से रहित हो कर जीवें, प्रयोजन यह है कि दरिद्रता का सर्वथा ही नाश करना चाहिये, कदापि मनुष्य को दरिद्र नहीं रहना चाहिये, इस दरिद्रता का नाश करने का उपाय भी वेद ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ॥२॥ य० अ० ४०

मनुष्य कर्मों को करता हुआ १०० वर्ष पर्यंत जीने की इच्छा करे अर्थात् मनुष्य जब तक जीता रहे तब तक बराबर उद्योग करता रहे जैसे हमको ईश्वरीय ज्ञान वेद कर्म करने को शिक्षा देता है ऐसा ही ईश्वरीय सृष्टिक्रम से भी हमको कर्म करने की शिक्षा मिलती है, यथा आप जिस पृथ्वी पर निवास करते हैं वह पृथ्वी निरन्तर स्वकक्षा में भ्रमण करती है, एवं चन्द्र, नक्षत्र, जल, अग्नि वाय्वादि पदार्थ भी अपना-अपना कार्य कर रहे हैं, इन पदार्थों को छोड़कर चेतन की ओर दृष्टि देते हैं तो पशु पक्षी, मृगादि सर्व प्राणी स्वकार्यों में निमग्न हैं, इन

पश्वादि से अतिरिक्त आप अपने शरीरावयवों की ओर ध्यान देकर देखिये आँख ,नाक, कान, जिह्वा, दाँत, मुख, मस्तिष्क, हृदय, क्लोम, फुफ्फुस, यकृत्, प्लीहा, धमनि, ज्ञानजनक तन्तु, तथा क्रियाजनक तन्त्वादि सर्वावयव निज निज कार्यों को कर रहे हैं।

ऐसे मनुष्यों को भी अपना कार्य्य करना चाहिये यह सृष्टि का नियम है कि सर्व पदार्थ अपने-अपने साधन और प्रयत्न से मनुष्य को प्राप्त होते हैं।

देखिये जिस अन्न को आप खाते हैं वह सब परिश्रम से ही उत्पन्न होता है, जिन वस्त्राभूषणों को आप धारण करते हैं ये भी उद्योगोपार्जित हो हैं, जिन गृहों में आप रहते हैं ये भी प्रयत्न से ही बने हैं जिन कुओं का आप जलपान करते हैं ये भी पुरुषार्थ से ही खुदे हुए हैं, जो कुछ विद्या आपने पढ़ी है किंवा धनादि पदार्थ आपके पास हैं यह सब उद्यम का ही फल है, प्रयोजन यह है कि जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह सब दीर्घ परिश्रम का ही फल है, इसलिये मनुष्यमात्र को इस श्लोक का सर्वदा स्मरण करना योग्य है:—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्य्याणि न मनोरथैः।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥१४१॥

पञ्चतन्त्र ॥ २ ॥

मनुष्यों के कार्य्य उद्यम करने से ही सिद्ध होते हैं

शेखचिल्ली के सदृश मनोरथ से कार्य्य कभी सिद्ध नहीं हो सकते, जैसे बिना प्रयत्न करने के वन में सोते हुए सिंह के मुख में मृग नहीं चले जाते इसी अभिप्राय से प्राचीन आर्य्य लोग पुरुषार्थ को करते थे इस पुरुषार्थ से ब्रह्मर्षि राजर्षियों ने अनेक विद्याओं का प्रचार करके आर्य्यवर्त को सर्व देशों का शिक्षक बनाया था इस वार्त्ता को सर्व निष्पक्ष इतिहासवेत्ता स्वीकार करते हैं, एतद्देशोद्भव ब्रह्मा जी ने उद्यम से ही ४ ऋषियों से वेदों को पढ़ कर संसार प्रचार किया, एवं पाणिनि पतञ्जलि कात्यायनादि ऋषियों ने उद्यम से ही व्याकरण बनाया, एवं पिंगल मुनि ने छन्द, यास्क ने निरुक्त, आर्य्यभट्ट भास्कराचार्य ने ज्योतिष, गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि और व्यास इन्होंने क्रमशः उसी उद्योग से न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग पूर्व मीमांसा (वेदान्त) ये सब शास्त्र बनाये, इसी प्रयत्न के प्रभाव से चरक ने चरक, सुश्रुत ने सुश्रुत, वाल्मीकि ने वाल्मीकीय, एवं अन्यान्य ऋषियों ने अनेक ग्रंथ उद्योग से ही बनाये यथा इसी उद्योग के प्रताप से सिन्धु* द्वीप, देवापि, विश्वामित्र, क्षत्रिय, तथा कक्षीवतादि †

---

* देखो महाभारत शल्य गदापर्व अ० ४० श्लो० १० तथा वीतहव्य का कुल क्षत्रिय से ब्राह्मण हुआ भारत अनुशासन प० अ० ३०

† देखो भा० शन्तिप० अ० २६७ तथा ऐतरेय ब्रा० पं० २ अ० ३ ।

अनेक शूद्र ब्राह्मण हुए, हनुमान् ने उद्योग से ही लङ्का को गमन किया, नल ने उद्यम से सेतु बाँधा, रामचन्द्र ने पुरुषार्थ से ही लङ्का को विजय किया; एवं भीष्म, भीम, कर्ण, कृष्णार्जुन, विक्रम, भोज, शङ्कराचार्य्य स्वामी दयानन्द सरस्वती जी आदि ने उद्योग से ही सब कुछ किया, यवन भी उद्योग से ही इस देश के सम्राट् हुए थे, शिवाजी, रणजीतसिंहजी आदि भी उद्यम से ही राजा बने व वर्तमान सम्राट् भी युक्ति युक्त यत्न से ही सम्राट् हुए। हमने भी उद्योग से ही इस ग्रन्थ को निर्माण किया, आप भी उद्यम से ही इस ग्रन्थ का पठन कर रहे हो, बस इस लेख में स्पष्ट विदित होता है कि जगत् में जो कुछ होता है वह उद्यम करने से ही होता है पूर्वकाल में सर्व ऋषि महर्षिश्रमेण तपस्या सृष्टा ॥ १ ॥ अथर्वकां० १२।

इस वेद वाक्यानुसार श्रम करते थे परन्तु वर्तमान काल में अविद्या के कारण आर्य्य (हिन्दू) आलसी बन कर प्रारब्ध प्रारब्ध पुकारते हुए कहते हैं कि जो कुछ हमारे प्रारब्ध में लिखा होगा वह हम को आप से आप मिल जायगा जो लोग ऐसा समझते हैं वे लोग स्वप्रमाद से "यतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट" हो जाते हैं क्योंकि इस जगत् में पढ़ने के बिना पण्डित, भोजन के बिना तृप्ति और कर्त्ता के बिना कार्य कदापि नहीं हो सकता, जब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से व वेदादि सत् शास्त्रों से यह सिद्ध हो चुका है

पुनः केवल प्रारब्ध के भरोसे पर बैठ कर अपना जन्म नष्ट करना यह मूर्खता नहीं तो क्या है ? यद्यपि उत्तम प्रारब्ध के कारण से घुणाक्षर* न्यायवत् मनुष्य राजा महाराजा के गृह में जन्म लेता है, एवं काकतालीय न्याय से उत्तम प्रारब्धवशात् दीन मनुष्य के गृह में उत्पन्न हुए का भी राज्याभिषेक होजाता है, परन्तु उद्योग न करने से प्राप्त हुआ राज्य भी नष्ट हो जाता है; पुनः नवीन राज्यादि प्राप्ति की तो कथा ही क्या है ! अस्तु:—

भीष्मपिता मह युधिष्ठिर को और ब्रह्माजी वशिष्ठ ऋषि को उपदेश करते हैं कि:—

यथा बीजं विना क्षेत्रमुत्तमभवति निष्फलम् । तथा पुरुषकारेण बिना दैवं न सिध्यति ।।७।। क्षेत्रम्पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम् । क्षेत्रबीजसमायोगात्ततः सस्यं समृध्यते ।।८।। कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्त्तते । न दैवमकृते किञ्चित् कस्यचिद्दातुमर्हति ।२२। कृतं चाप्यकृतं किञ्चित् कृते कर्मणि सिध्यति । सुकृतं दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ।।२८।। पांडवानां हृतं राज्यं धार्त्तराष्ट्रैर्महाबलैः । पुनः

* यदपथ्यवतामायुर्यदनीतिमतो श्रियः । तदेतत्काकतालीयं तदेतच्च घुणाक्षरम् ॥ २७८ ॥ सुभा० प्र० ३ ।

प्रत्याहृतञ्चैव न दैवात् भुजसंश्रयात् ॥४०॥ यथाग्निः पवनैर्धूतः सूक्ष्मोपि सुमहान् भवेत् । तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधुविवर्धते ॥४३॥ यथा तैलक्षयाद्दीपः प्रह्रासमुपगच्छति । तथा कर्मक्षयाद्दैवं प्रह्रासमुपगच्छति ॥ ४४ ॥ न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वम् । गुरुमिवकृतमग्रं कर्म संयाति दैवं नयति पुरुषकारः सञ्चितस्तत्र तत्र ।।४७॥ भा० अनुशासनपर्व अ० ६

इस संसार में जो उद्योगी पुरुष हुए हैं उन्होंने निज बाहुबल से अनेक देशों में स्वराज्यस्थापन किये और जो आलसी राजा हुए उन्होंने स्वपूर्वजोपार्जित राज्य भी भाग्य के भरोसे पर बैठ कर नष्ट कर दिये, एतदर्थ भाग्य के भरोसे पर बैठ के उद्योग न करना यह बड़ा भारी प्रमाद है। क्योंकि शास्त्रों में प्रारब्ध को केवल बीजरूप माना है, जैसे—

यथा क्षेत्रं मृदुभूतमद्भिराप्लावितन्तथा ।
जनयत्यङ्कुरङ्कर्म नृणां तद्वत्पुनर्भवम् ॥ ३२ ॥
भा० शां० प० अ० ३२१ ।

जैसे कृषिकार भूमि को खेड (जोत) कर खाद डाल जलसेचनादि से मृदु करके बीज को बोते हैं तभी सुन्दर

अन्न उत्पन्न होता है। ऐसे ही प्रारब्धरूप* बीज भी मनुष्य की उद्योगरूप सजल मृदुभूमि को पाने पर कार्य्यसिद्धिरूप वृक्ष को प्राप्त होकर मनुष्य को सुखरूप फल देता है, जैसे—

यथैकेन न हस्तेन तालिका संप्रपद्यते।
तथोद्यमपरित्यक्तं न फलं कर्मणः स्मृतम्। १३८।

एक हाथ से ताली नहीं बजती, इसी प्रकार उद्यम बिना प्रारब्ध कुछ भी फल नहीं दे सकता, एवम्—

पश्य कर्मवशात्प्राप्तं भोज्यकालेपि भोजनम्।
हस्तोद्यमं बिना वक्त्रे प्रविशेन्न कथञ्चन। १३९।

पंच० तंत्र २।

मान लो कि भाग्य के प्रभाव से भोजन के समय पर भोजन मिल भी गया हो परन्तु हस्त से ग्रास मुख में न धरें तो भोजन आप से आप पेट में नहीं जा सकता। यदि कोई मुख में भी ग्रास रख देगा परन्तु चाब कर गले के नीचे तो भोजनकर्त्ता को अवश्य ही उतारना पड़ेगा, क्योंकि कण्ठ के नीचे उतारे बिना उदरपोषण नहीं होसकता, और यदि विचार से देखा जाय तो—

---

*प्र–आ–रभ–कर्मणि क्तः प्रकृष्टमारब्धं स्वकार्य्यजननायेति प्रारब्धं किंवा प्रकृष्टमारब्धं स्वकार्य्यजननाय कृतआरम्भो येन तत्प्रारब्धम्।

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते ।
तस्मात्पुरुषकारेण यत्नं कुर्य्यादतन्द्रितः । ३३ । हि० प्र०

पूर्वजन्मकृत उद्यम का ही नाम प्रारब्ध है। इसलिये पुरुष को पुरुषार्थ करना चाहिए, क्योंकि उद्यम करने से ही प्रारब्ध बना और अब उद्यम करते हैं तभी प्रारब्ध फल दे सकता है। जब उद्यम के बिना न तो प्रारब्ध उत्पन्न ही हो सकता है और न फल ही दे सकता और जब यह बात है तो फिर प्रत्यक्ष फलदायक उद्यम को त्याग करके भाग्य के भरोसे पर भूखे मरना यह अपना भ्रम तथा मूर्खता नहीं तो क्या है ? प्रारब्ध के भरोसे पर बैठने वाले को हम ही मूर्ख नहीं कहते। किन्तु महाभारत का भी यही कथन है, देखिये—

यश्च दिष्टपरो लोके यश्चापि हठवादिकः ।
उभावपि शठावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते ॥ १३ ॥

जो मनुष्य इस संसार में भाग्य के भरोसे पर रहता है और जो हठ बाँध कर बैठा हुआ अन्यथा काम करता है वे दोनों मूर्ख हैं और जो कर्मबुद्धि अर्थात् जो कर्म करने में तत्पर (लगा) रहता है वही मनुष्य प्रशंसा के योग्य है, ऐसे ही—

यो हि दिष्टमुपासीनो निर्विचेष्ट सुखं शयेत् ॥
अवसीदेत्स दुर्बुद्धिरामो घट इवोदके ॥ १४ ॥
भा० वनप० अ० ३२

जो मनुष्य प्रारब्ध के भरोसे पर रहकर अर्थात् जो प्रारब्ध करेगा सो ही होवेगा ऐसा मानकर सुख से सोता है उस मनुष्य का शरीर ऐसे नष्ट होजाता है जैसे मिट्टी का कच्चा घड़ा जल में डुबाने से पिघल जाता है। अह, वर्त्तमान समय में अनेक वेषधारी साधु व गृहस्थ भो आलस्य के वश होकर प्रारब्ध की आड़ लेकर आलस्य में पड़े रहते हैं, परन्तु—

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।८६।

भर्तृ० नी० श० ।

मनुष्यों के शरीर में जो आलस्य है यह मनुष्यों का महान् शत्रु है। इस आलस्य शत्रु के प्रभाव से अनेक बुद्धि-मानों का सर्वस्व नष्ट हुआ तथा इसी आलस्य से अनेक राजाओं के राज्य नष्ट भ्रष्ट हुए। इस परम बन्धु उद्यम से शत्रुता कर के व आलस्य शत्रु से मित्रता करके इस जगत् में ऐसा कौन है जो दुःखी न हुआ हो ? आलस्य* पिशाच के वशीभूत होकर व्यर्थ समय व्यतीत करना यह महान नीचपना है। आलस्य शरीर और मन का नाश करने वाला है। सर्व विषों का शिरोमणि विष आलस्य ही है। आलस्य दुर्गति की माता और दुराचार का पिता है, आलस्य सर्व दुःखों का आदिमूल सर्व पापों का पाप और सर्व रोगों की

*नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न शठा न च मायिनः ।
न च लोकरवाद्भीता न च शश्वत्प्रतीक्षिणः ॥१०॥ सुभा० प्र० ३।

खान (आकर) है। शारीरिक आलस्य से भी मानसिक आलस्य सर्व अनर्थों का हेतु है। जैसे बँधे हुए जल में दुर्गन्धि और कीड़े पड़ जाते हैं ऐसे ही आलसी मनुष्य के शरीर में रोग और मन में दुर्वासना रूप कीड़े उत्पन्न होते हैं। चोरी आदि जितने दुर्व्यसन हैं वे सब आलस्य के ही फल हैं।

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्य्यं वा कुलान्वितम् ।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृत कर्मभिः ॥६॥

१५ भारत अनुशासन पर्व अ० ६

यह आप निश्चय समझें कि जो मनुष्य आलसी होगा वह कभी धनाढ्य नहीं हो सकेगा, न उसको उत्तम मित्र मिलेंगे, न कोई उत्तम पदार्थ मिलेगा, यदि घुणाक्षरन्याय से पदार्थ मिल भी गया तो शीघ्र नष्ट होजायगा, आलसी पुरुष के शरीर और मन सर्वदा ही थकित (व्यथित) रहेंगे वह कभी स्वस्थ नहीं रहेगा। जो मनुष्य मन कार्य वचन से शुभ उद्योग में नहीं लगता है वह एतद्वाक्यानुसारः—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ॥ ३४ ॥ भ० गी० अ० ६

मन चांचल्य से कुकर्मों में प्रवृत्त होता है, क्योंकिः—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥ ५ ॥

भ० गी० अ० ३।

प्राणियों का स्वाभाविक धर्म है कि प्राणी बिना कुछ

करने के एक क्षणमात्र भी कभी नहीं ठहर सकता। इस हेतु से मनुष्यों को उद्योग अवश्य करना चाहिये। अनेक मूर्ख आलस्यवशात् उद्योगशून्य होकर मनुष्य जन्म को नष्ट कर के सर्वदा ही दुःखी बने रहते हैं। यह कितने शोक स्थल है! अस्तु जैसे मूर्ख पुरुष आलसी होते हैं ऐसे ही कतिपय उद्योगशून्य विद्वान् भी विशेष विचार न करके सांसारिक पदार्थों को आगमापायी जानकर उद्योग-रहित होजाते हैं। परन्तु जो विद्वान् ऐसी चेष्टा करते हैं उन विद्वानों कोसृष्टि के पदार्थों का सम्यक् ज्ञान नहीं है। क्योंकि अपने-अपने कारणों से सर्व पदार्थों की उत्पत्ति और लय होता है यह सृष्टि का शाश्वत नियम है, सम्पूर्ण सृष्टि का प्रवाह इसी नियम के आधार पर चल रहा है जो इस नियम में चलेगा वही इस संसार समुद्र से उत्तीर्ण होगा। जो पुरुष इस नियम को उल्लङ्घन करेगा वह इस संसारसमुद्र में डूब जायगा। जगन्नियन्ता के जो जो सृष्टि के नियम हैं अनपायि चिरन्तन होने से इसके अनुकूल वर्त्ताव करने से ही मनुष्य सुखी हो सकता है। जो विद्वान् इन पदार्थों को अनित्य जानकर उद्योगशून्य होजाते हैं यह उनका प्रमाद है; क्योंकि भोजनादि सर्व व्यवहार उसको यथापूर्वक ही करना पड़ता है। जब सर्व व्यवहार यथापूर्व करते हैं तो फिर उद्योग का परित्याग करना यह प्रमाद किंवा आलस्य नहीं तो क्या है? जैसे भोजनादि व्यवहारों को अनित्य जान करके भी भोज-

नादि कर्म का परित्याग नहीं करते ऐसे ही स्वोन्नति व देशोन्नतिकारक उद्योगरूप शुभ कर्मों का परित्याग भी कभी नहीं करना चाहिये। देखिये इसी आलस्य के प्रभाव से कितनेक आलसी मनुष्य छल-कपट पाखण्ड से व चोरी आदि से परधन हरण करते हैं, इससे संसार की बड़ी भारी हानि होती है और ऐसे कुकर्म करनेवाले का स्वभाव भी बिगड़ जाता है। और ऐसे लोग इस लोक और परलोक में सदा ही दुःखित रहते हैं। इसी कारण से वेद में आज्ञा दी है किः—

मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥ य० अ० ४०।

अय मनुष्यो! तुम किसी के धन की इच्छा मत करो। किंतु

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् ॥ २ ॥

अपने पुरुषार्थ से पदार्थों को उपार्जन करके जीने की इच्छा करो, कितनेक पुरुष इस वेदाज्ञा की ओर ध्यान न देकर पूर्वजोपार्जित धन से धनाढ्य होने से वे स्वतः उद्यम नहीं करते परन्तु यह उनका बड़ा भारी प्रमाद है। जैसे पूर्वजों ने उद्यम से धनोपार्जन किया है ऐसे ही उनको भी करना चाहिये। यदि उद्यम न करेगा तो संचित धन का भी कुछ दिनों में नाश हो जायगा। इसीलिये कहा है किः—

तस्य चापि भवेत्कार्य्यं विवृद्धौ रक्षणे तथा।
भक्ष्यमाणो ह्यनादानात् क्षीयेत् हिमवानपि ॥१०॥

भा० व० प० अ० ३२।

धनिक को भी स्वधन को वृद्धि व रक्षा अवश्य करनी चाहिये; क्योंकि यदि आमदनी न हो और खर्च होता जाय तो हिमालय पहाड़ का भो नाश होना सम्भव है। फिर किञ्चिन्मात्र धन की तो ही कथा क्या ? अस्तु इसलिये धनाढ्यों को भी उद्योग अवश्य करना चाहिये, एवं:—

उद्यमः खलु कर्त्तव्यो निर्धनेन विशेषतः ॥

उद्यम सब मनुष्यों को अवश्य ही करना चाहिये, परन्तु जो निर्धन पुरुष है उसको तो अहर्निश उद्यम करना अत्यावश्यक है, एवं:—

वीरः सुधीः सुविद्यश्च पुरुषः पुरुषार्थवान।
तदन्ये पुरुषाकाराः पशवः पुच्छविवर्जिताः ॥२॥

पु० प०।

जो शूरवीर विद्यायुक्त बुद्धिमान् और पुरुषार्थी है, वही पुरुष है और जिन में पुरुषार्थ आदि का उत्तम गुण नहीं हैं वे पुरुषाकार पशु हैं, इसलिए उद्यम अवश्य ही करना चाहिये। कितनेक आलसी पुरुष पिता आदि अन्यान्य मनुष्य के धन की इच्छा करते हैं और अपने आप उद्योग नहीं करते, परन्तु य उनकी कायरता है क्योंकि:—

सिंहाः सत्पुरुषाश्चैव निजदर्पोपजीविनः।
पराश्रयेण जीवन्ति कातराः शिशवः स्त्रियः ॥५॥

परुष प०

सिंह और सत्पुरुष अपना आप पुरुषार्थ करके जीते हैं और जो (कातर) कायर हैं वे छोटे छोटे बालक और स्त्रियों के सदृश औरों के आश्रय से जीते हैं। स्त्री के सदृश किसी पुरुष की आशा नहीं करना चाहिये, किन्तु पुरुष को अपने आप पुरुषार्थ करना चाहिये। पुरुषार्थ को नहीं करने से ही मनुष्यों में दरिद्रता की वृद्धि होती है, यद्यपि हिन्दू (आर्यों) के दरिद्र होने में अनेक ही कारण हैं परन्तु सब कारणों का मूलकारण भाग्य के भरोसे पर बैठकर उद्यम नहीं करना है, इस बात को हम प्रण करके कहते हैं कि जब तक बनावटीभाग्य * के ढकोसले का परित्याग करके उद्योग न करेंगे तब तक इस देश का दारिद्र्य कभी दूर न होगा।

इसी कारण महाभारत में प्रतिपादन किया है कि:—

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च।
महान्भवत्यनिर्विण्णः सुखश्चानन्त्यमश्नुते ॥५७॥

भा० उ० प० अ० ३९।

धन और विद्यादि उत्तम गुणों की प्राप्ति का मुख्य

---

* जैसा कि हमने वैदिक प्रारब्ध का पूर्व कथन किया है उसको छोड़ के इस प्रारब्ध को प्रारब्ध नहीं कह सकते; किन्तु इस का नाम आलस्य है। वास्तविक प्रारब्ध तो यह है कि उद्योग करते हैं, उसके करने से जो फल निष्फल होता है उसी का नाम प्रारब्ध है।

साधन प्रयत्न व उत्साह है। प्रयत्नशील मनुष्य अधमस्थिति से उत्तमावस्था को प्राप्त होता है जिन्हों में उत्साहादि उत्तम गुण नहीं हैं वे धन व उत्तम स्थिति के भागी नहीं हो सकते जैसे:—

दुःखार्त्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वालसेषु च।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥६१॥

भा० उ० प० अ० ३९।

जो नित्य अविद्यादि क्लेशों से दुःखित रहते हैं जो मद्यद्यूतादि दुर्व्यसनों में आसक्त हैं जो वर्त्तमान समय के नवीन वेदांतियों के तुल्य प्रत्यक्ष पदार्थों का भी निषेध करने वाले आलसी इन्द्रियाराम और उत्साहहीन ऐसे मनुष्यों के समीप कभी भी धन आदि उत्तम पदार्थ नहीं रह सकते और जो उद्योगशाली पुरुष हैं वे ही धनाढ्य होते हैं जैसे:—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी,
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवन्निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१४०॥

पंच० तन्त्र २।

सिंह के सदृश जो उद्योगी पुरुष होता है उसको ही लक्ष्मी अर्थात् धन मिलता है और जो कायर पुरुष होते हैं

वे केवल प्रारब्ध-प्रारब्ध ही पुकारते रहते हैं। उनके हाथ कुछ नहीं आता। वे आजन्म दरिद्र ही बने रहते हैं, इसलिये ग्रन्थकार कथन करता है कि प्रारब्ध को दूर रख कर अपनी शक्ति से उद्यम करो यदि उद्यम करने पर भी कार्य्य सिद्ध न हो तब विचार करना चाहिये कि प्रयत्न में क्या (दोष) न्यूनता रही जिससे यह कार्य्य सिद्ध नहीं हुआ। इसका विचार करके उस दोष का पुनः परिहार करके कार्य को सिद्ध करना चाहिये, एवं यही सिद्धांत है कि:—

धीमन्तो वन्द्यचरिता मन्यंते पौरुषं महत्।
अशक्ताः पौरुषं कर्तुं क्लीवा दैवमुपासते ॥ ४९ ॥

शु० नी० अ० १।

जो बुद्धिमान् हैं जिनके उत्तम कर्म हैं ऐसे महात्मा पुरुष उद्यम को ही सब से बड़ा समझते हैं। और जो निर्बल नपुंसक मनुष्य हैं वे केवल भाग्य के भरोसे पर पड़े रहते हैं, परन्तु भाग्य के भरोसे पर पड़े रह कर प्रत्यक्ष* फल-दायक उद्योग का परित्याग करना यह बन्धु का वियोग करने के सदृश है। जैसे सहोदरादि बन्धु पुरुषको सुख-दायक होते हैं ऐसे ही उद्यम भी मनुष्य का परम बन्धु है। इतना ही नहीं किन्तु उद्यम तो बन्धु से भी अधिक है जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है कि:—

*उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने नानाभावान्न तद्ग्राह्यम्।

नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदते ॥८६॥

भर्तृ० नी० श० ।

उद्यम के समान पुरुष का कोई भी बन्धु नहीं है, क्योंकि बन्धु आदि चाहे प्राणी की आपत्काल में सहायता न भी करे; परन्तु उद्यम मनुष्य का ऐसा बन्धु है कि यह किया हुआ कभी निष्फल नहीं जा सकता। इसलिये उद्यम अवश्यमेव करना चाहिये। यदि उद्यम निष्फल भी हो जायगा तो भी आलस्य की अपेक्षा निष्फल गया हुआ भी उत्तम है, क्योंकि उद्योग करनेवाले को सन्तोष रहता है कि मैंने स्व कर्त्तव्य कर लिया पुनः कार्य सिद्ध नहीं हुआ इससे मेरा दोष नहीं, एवं उद्योगी को उद्योग करने का व्यसन पड़ जाने से वह द्वितीय समय में पुनः उद्योग करता है उस का कार्य सिद्ध हो जाता है इसी कारण से उद्योग मनुष्य का सच्चा बन्धु है। उद्योग करने से मनुष्य मूर्ख से विद्वान् निर्धन से धनाढ्य, अधर्मी से धर्मात्मा और अप्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित हो जाता है। मनुष्य के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति का साधन केवल एक उद्योग ही है, अनेक अज्ञ मनुष्य ऐसा समझते हैं कि हम स्वस्थ बैठे रहेंगे तो हम को दुःख नहीं होगा, परन्तु इसका परिणाम बहुतों को विदित हो चुका है कि जो उद्योग करने से भागते हैं उनके पास दुःख स्वतः उपस्थित होजाता है। क्योंकि उद्योग और दुःख का परस्पर शीतोष्णवत् विरोध है। जहाँ उद्योग है

वहाँ दुःख नहीं और जहाँ उद्योग नहीं वहाँ दुःख ही दुःख है। यद्यपि उद्योग करने से भी मनुष्य को त्रास उत्पन्न होता है और उद्योग न करने से भी त्रास होता है, परन्तु इन में भेद केवल इतना ही है कि:—

सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखसुखोदयम्।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नालसे ॥३२॥
भा० शां० प० अ० २७।

उद्योग के करने में प्रथम कुछ दुःख होता है, परन्तु उसका परिणाम बहुत उत्तम होता है और आलस्य के करने से प्रथम कुछ सुख प्रतीत होता है, परन्तु अन्त में बड़े भारी दुःख का अनुभव करना पड़ता है क्योंकि ऐश्वर्य धन लज्जा धृति और कीर्ति ये सब पदार्थ उद्योगी पुरुष के पास ही रहते हैं। इसलिये इन पदार्थों के होने से उद्योगी पुरुष को सर्वदा सुख ही सुख होता है और निरुद्योगी को सर्वदा दुःख ही बना रहता है। संसार के सम्पूर्ण पदार्थ उद्योगी पुरुष के ही हैं; क्योंकि जिस समय में जिस पदार्थ को वह चाहे उसी समय में उद्योग से यथाशक्य उस पदार्थ को उत्पन्न कर सकता है और अनुद्योगी पुरुष अपना उदरपोषण भी नहीं कर सकता। इसी हेतु से कृष्ण-चन्द्र महाराज ने अर्जुन को कहा है कि:—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

भ० गी० अ० ३ ।

हे अर्जुन ! तू निरन्तर कर्म को कर, कर्म न करने से कर्म का करना बहुत श्रेष्ठ है; क्योंकि बिना कर्म करने से शरीर का खानपानादिरूप व्यवहार भी न होने से शरीर ही नहीं रह सकता। अतः प्रत्येक मनुष्य को अहर्निश उद्योग अवश्य करना चाहिये, क्योंकिः—

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम् ।
निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते ॥४२॥

भा० वनप० अ० ३२ ।

जो आलसी पुरुष आलस्य में पड़ा रहता है उसको दरिद्र घेर लेता है और उसका धन भी सब नष्टभ्रष्ट होजाता है। और जो पुरुषार्थी पुरुष होता है वह निस्सन्देह धनादि पदार्थ को उपार्जन करके सर्वदा आनन्द में रहता है, अतः सब सज्जनों से हमारा निवेदन है कि आलस्य निद्रा को परित्याग करके पुरुषार्थरूप जागरण को प्राप्त होकर इस लोक परलोक के सब सुखों को भोगने योग्य अपने आपको बनाकर मनुष्यजन्म को सफल करें।

यहाँ पर इतना लिखना अनुचित न होगा कि अधर्म*

---

*लभेद्यदयुतं धनन्तदधनं धनं यद्यपि लभेत नियुतं धनं निधनमेवतज्जायते, तथा धनपरार्धकं तदपि भावहीनात्मकम् । यदक्षरपदद्वयान्तर्गतं धनन्तद्धनम् ॥ १८ ॥ सु० भा० प्र० २ ।

से कदापि धनोपार्जन न करे तथा अनेक मूर्ख पुरुष धन के प्रभाव से मदोन्मत्त हो जाते हैं ऐसा न हो जैसा लिखा है कि—

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते ।
जनितारमपि त्यक्त्वा निःस्वं गच्छति दूरतः ॥१॥
भक्तद्वेषो जड़प्रीतिः सुरुचिगुरुलंघने ।
मुखे कटुकता नूनं धनिनां ज्वरिणामिव ॥ २ ॥
बधिरयति कर्णविवरं वाचं मूकयति नयनमन्धयति ।
विकृतयति गात्रयष्टिं सम्पद्रोगोऽयमद्भुतो राजन्॥११

सुभा० प्र० २ ।

धन को चाहनेवाला पुरुष पिता आदि सम्बन्धिओं का परित्याग करके श्मशान का भी सेवन करने लगता है । इस धन के मद से पुरुष अपने हितकारी भक्तजन से द्वेष, जड़ दुष्ट मनुष्यों से प्रीति और गुरु आदि माननीय पुरुषों के वचनों का तिरस्कार करने लगता है तथा ज्वरग्रस्त पुरुषों के सदृश धनवान् का मुख सर्वदा कड़ुआ (कटु) ही रहता है अर्थात् धनिक पुरुष मुख से सर्वदा कटुवचन बोला करता है। इतना ही नहीं किन्तु धनरूप रोग मनुष्य की ऐसी दशा कर देता है कि कानों से किसी की बात नहीं सुनता। यदि कोई कुछ पूछे तो उसका उत्तर नहीं देता और कोई सम्मुख आवे तो आँख से उसको देखता भी नहीं । जैसे लकवे के

रोग से मनुष्य का शरीर टेढ़ा होजाता है ऐसे ही धनरूप रोग से भी मनुष्य संसार भर से टेढ़ा हो जाता है। इस धन से मनुष्य नाना प्रकार के कुकर्म भी करने लगते हैं। इसलिये बुद्धिमानों को धनजन्य उपद्रवों से बच कर सज्जनतापूर्वक सब उत्तमोत्तम व्यवहार करने चाहियें। वर्तमान समय में अनेक नवशिक्षित धर्माधर्म की ओर ध्यान न देकर "टका-धर्मः टकाकर्म" मान के धर्माधर्म का विचार न करते हुए अनेक कुकर्मों से धन को बटोर के खाने-पीने और चैन उड़ाने में लगे रहते हैं, परन्तु अधर्म से और केवल ऐश आराम के लिये धन को एकत्र करना शास्त्रविरुद्ध है। देखोः—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मश्चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

मनु० अ० ४।

धर्म से रहित (अर्थ) धन और (काम) निन्दित-विषयवासना का परित्याग करे तथा जिस धर्म का परिणाम सुख न होवे और संसार को हानिकारक हो ऐसे धर्म का भी परित्याग करे और जो महाभारत में धन को धर्म कहा है उसका अभिप्राय यह है कि धन से मनुष्य धर्म का उपार्जन कर सकता है। इसी हेतु से मनुस्मृति में लिखा है कि

अलब्धश्चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः।

रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् । ९९ ॥

मनु० अ० ७ ।

जो वस्तु अपने को प्राप्त (मिली) नहीं है उसके मिलने की इच्छा करे और जो मिली है उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षित वस्तु को बढ़ावे और बढ़ी हुई वस्तु को देशोपकारादि सत्कर्म में लगावे । बस इन प्रमाणों से आप जान सकते हैं कि शास्त्रकारों का सिद्धान्त यही है कि मनुष्य को दरिद्र भी नहीं रहना चाहिये और न लोभी मनुष्यों के सदृश धन को एकत्र करके ही मर जाय कि जिसको धूर्त लोग बुरे कर्म में लगावें; किन्तु—

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥१००॥

मनु० अ० ७ ।

पूर्वोक्त चतुर्विध पुरुषार्थ का अनुष्ठान सर्वदा करे जिस-से मनुष्यजन्म सफल होवे । अस्तु:—

अब विचारणीय वार्ता यह है कि कैसा उद्योगी पुरुष* धनादि पदार्थों को प्राप्त होकर अपने जन्म को सफल कर सकता है । इस विषय में वेदादिसच्छास्त्रों का यह सिद्धान्त है कि—

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति

---

*नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीवं नापि निष्क्रियम् । नाकर्म-शीलंनाशूरं तथा नैवातपस्विनम् ॥ १७ भा० अनु० प० अ० ६ ॥

तं चिकित्वान्प्रतिगृह्या नि धत्ते ।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू
रायस्पोषेण सचते सुवीरः ॥ १ ॥

ऋ० अ० २ अ० १ व० १० ।

जो मनुष्य (सुवीरः) पराक्रमी (चिकित्वान्) ज्ञानवान् (प्रातरित्वा) प्रातःकाल में जगनेवाला (रत्नं दधाति) प्रातः समय में उत्तम पदार्थों को धारण करनेवाला अर्थात् दिन के प्रारम्भ में सृष्टि की उत्तम शिक्षाओं से भूषित करनेवाला (तं प्रतिगृह्या नि धत्ते) और जो उस शिक्षा को परोपकारार्थ अन्य मनुष्यों को देता है अथवा अन्यों से लेता है (तेन प्रजा वर्धयमान) उस शारीरिक व मानसिक उत्तम शिक्षा से अपनी पुत्रादि संतति की उन्नति करता है (आयू रायस्पोषेण सचते) वही मनुष्य अपने जीवन को धनादि पदार्थों की पुष्टि से संयुक्त करता है, एवं महाभारत में भी प्रतिपादन किया है कि—

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु
परीक्ष्यकारिणंत्धीरमत्यन्तं श्रीर्निसेवते ॥५८॥

भा० उ० प० अ० ३४ ।

जो जितेन्द्रिय होय जिसके मन बश हो, जो दुष्टों को यथावत् दण्ड का देने वाला मनुष्य आदि से लेकर संसार में जितने पदार्थ हैं इन सब की सम्यक् परीक्षा करनेवाला

और जो दुःख पड़ने पर [क्षुभित] घबराने वाला न हो ऐसे पुरुष को धन मिल सक्ता है और ऐसे पुरुष के पास ही चिरकालपर्यंत धन ठहर सक्ता है, एवं चरक में भी लिखा है कि:—

विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया ।
यस्यैतेषड् गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते ॥ १ ॥

चर० सू० अ० ९।

जिस पुरुष में विद्या (सच्चा ज्ञान) वितर्क (युक्ति-सिद्ध पदार्थ का मानना) विज्ञान (चीज को सूक्ष्मदृष्टि से देखना) स्मृति व कर्मतत्परता ये ६ गुण हैं उसको संसार में कोई भी कार्य असाध्य नहीं है, इसी प्रकार पञ्चतन्त्र में भी लिखा है कि:—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढ़सौहृदश्च
लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः ॥१३१॥

पञ्च० तन्त्र० २।

जो मनुष्य उत्साही हो और दीर्घसूत्री अर्थात् दिनों का कार्य महीनों में वा वर्षों में करने वाला न हो किन्तु शीघ्र कार्य का करने वाला हो तथा यह कार्य इस रीति से सिद्ध होगा इस बात को जानने वाला हो और चोरी

व्यभिचारादि दुर्व्यसनों से तथा मद्य, भङ्ग, गांजा, चरस, मदक चण्डू, अफ़ीम आदि से दूर रहने वाला हो व पराक्रमी हो तथा किये उपकार को मानने वाला और प्रत्येक मनुष्य से मित्रता करने वाला हो। ऐसे मनुष्य का आप से आप ही लक्ष्मी निवास करने को अन्वेषण (खोज) करती है, एवं:—

यत्रोत्साहसमारम्भो यत्रालस्यविहीनता ।
नयविक्रमसंयोगस्तत्र श्री रचला ध्रुवम् ॥१४९॥

पञ्च० तन्त्र० २।

जहाँ पर उत्साहपूर्वक उद्योग व कर्म का करना है जहाँ पर आलस्य का नाम भी नहीं है और जहाँ पर नीति व पराक्रम है उसी स्थान में निश्चय सर्वदा लक्ष्मी रहती है। प्रत्येक कार्य के करने में उत्साह की बड़ी भारी आवश्यकता है क्योंकि:—

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनाश्चाधिगच्छति। ।६॥

ब० रा० यु० कां० स० १

जो निरुत्साही दीन और शोकाकुल बना रहता है उस के सब कार्य नष्ट हो जाते हैं और वह सर्वदा दुःखी ही बना रहता है। इसलिये उत्साही होकर उद्योगी बनना चाहिये, जैसा कि:—

"उत्साहो बलवान् आर्य्य नास्त्युत्साहात् परं बलम् ।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किञ्चदपि दुर्लभम् ॥१२१॥
उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ।
उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम् ॥१२२॥
वा० रा० कि० कां० स० १ ।

लक्ष्मण रामचन्द्र से कहते हैं कि हे आर्य, उत्साह बड़ा बलवान् है । उत्साह के समान दूसरा कोई पदार्थ बलवत्तर नहीं है। उत्साह युक्त पुरुष के सामने कोई भी संसारमें दुःसाध्य वस्तु नहीं है । उत्साही पुरुष कदापि किसी कार्य में दुःखित हताश नहीं होते । केवल उत्साह से ही हम अवश्य जानकी को प्राप्त करेंगे । पुरुष को उद्योगशील होकर कृतकार्य होने केलिये अनेक साधनों की अपेक्षा है उन में से मुख्य मुख्य साधन यहाँ पर गिनाते हैं; प्रथम साधन प्राणरक्षण है जिस को हम प्रथम लिख आये हैं, एवं द्वितीय साधन सदाचार है, जैसे ऋग्वेद में लिखा है, कि:—

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्य कर्मन् ॥४॥
ऋ० अ० ७ अ० ५ व० २६ ।

यथार्थ बोलता हुआ सच्चे धन धान्य और यश को प्राप्त होवेऔर सत्य ही बोलता हुआ सत्य कर्मों को करे, एवं मनु महाराज ने भी अ० ४ में कहा है कि:—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।

आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यालक्षणम्॥१५६॥

आचार से ही आयु मिलती है। आचार से जैसा चाहिये वैसी प्रजा (सन्तति) मिल सकती है, एवं आचार से ही मनुष्य को धन मिल सकता है। इस सदाचार से मनुष्य के सब कुलक्षण दूर हो जाते हैं। सदाचार एक ऐसा गुण है कि जिसके होने से सब गुण सुशोभित होते हैं और जिस के न होने से अन्त सब गुण अवगुण के सदृश हो जाते हैं, जैसे कोई विद्वान् हो वा बुद्धिमान् किंवा सुशीलतादि अन्य किसी गुण से भूषित हो; परन्तु एक सदाचाररूप सद्गुण न होने से उसके अन्य सब गुण नहीं से हो जाते हैं। मनुष्य चाहे जितना ही विद्वान् व बुद्धिमान् क्यों न हो, परन्तु यदि सदाचारी न होय तो वह लोक में प्रतिष्ठा नहीं पा सकता, किन्तु प्रत्युतः—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेवच ॥०५७॥
मनु० अ० ४।

दुराचारी* पुरुष लोक में निन्दित होता है और उस दुराचार के ही कारण से सदा दुःखी तथा रोगी बना रहता

---

* आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरंगैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥ १॥
नैनं छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम्॥२॥
वसिष्ठस्मृ० अ० ६।

है और इसीलिये उसकी आयु भी नाश होजाती है, एवम् सदाचारी पुरुष में चाहे विद्यादि गुण भी न हों किम्बहुना-

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।

श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥१५८॥

मनु० अ० ४।

सदाचारवान् पुरुष चाहे सर्व गुणों से रहित भी हो परन्तु सत्याग्रही और अनिन्दकता आदि गुणविशिष्ट होने से सौ वर्षपर्य्यन्त जीता है, सदाचारी पुरुष में मनुष्यों की पूज्यबुद्धि होती है, सद्वर्तन से मनुष्य की जगत् में प्रतिष्ठा होती है, इतना ही नहीं किन्तु सदाचार मनुष्यों को महात्मा बना देता है जैसा भर्तृहरिजी ने लिखा है कि—

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान् हितान्द्वेषिणः

त्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।

तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं, फलं वांछितम्

हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः॥९८॥

भर्तृ० नी०।

[सत्क्रिया] सदाचार ऐसी उत्तम है कि जो दुर्जनों को सज्जन मूर्खों को विद्वान्, शत्रुओं को मित्र, परोक्ष को प्रत्यक्ष और विष को अमृत उसी क्षण में कर देता है, इसलिये इस सदाचार रूप वस्तु का प्रत्येक मनुष्य को सेवन करना परमावश्यक है। इस सदाचार से मनुष्य का उभय

लोक सुधरता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को इश्वर की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। तृतीय साधन। विद्या है इसके विषय में हम लिख आये हैं। चतुर्थ साधन बुद्धि है इसीलिये वेद में आज्ञा दी है कि—

मनीषिणः प्र भरध्वं मनीषां यथायथा मतयः सन्ति नृणाम् ॥१॥ ऋ० अ० ८ अ० ६ व० १०।

हे मनुष्यो ! जैसे जैसे तुम को बुद्धिमान् पुरुष मिलते जायँ और उनमें जहाँ तक सुबुद्धि हो वहाँ तक तुम उनसे अपनी बुद्धि की वृद्धि करो क्योंकि—

धिया वसुर्जगम्यात् ॥१६॥

अथव० कां० २ अनु० ४ व० ३५।

बुद्धि से ही धनादि पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है, इसी विषय को महाभारत में लिखा है कि—

प्रज्ञा संयोजयत्यर्थैः प्रज्ञा श्रेयोऽधिगच्छति।
राजानो भुञ्जते राज्यं प्रज्ञया तुल्यलक्षणाः ॥९॥

भा० शां० प० मो० ध० अ० ॥२३८॥

बुद्धि मनुष्यों को धनादि पदार्थों को प्राप्त करा देती है तथा कल्याण की प्राप्ति भी बुद्धि ही कराती है; एवम् इसी बुद्धिबल से राजा लोग राज्य का भोग करते हैं, इसलिये मनुष्य को बुद्धि की वृद्धि अवश्य करनी चाहिये। वह बुद्धि इन गुणों से युक्त होनी चाहिये तद्यथा—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वं ज्ञानं न च धीगुणाः ॥११॥

बाल्मीकीय रा० कि० कां० स० ५४ श्लोक २ की टीका में पञ्चम साधन यह है कि मनुष्य अपने को छोटा समझे अर्थात् अपने को पूर्ण कभी न समझे जैसा कि उतथ्य ऋषि ने मानधाता को कहा है कि—

न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः ।
बुद्धितो मित्रतश्चापि सततं वसुधाधिप ॥१२॥

भा० शां० प० रा० ध० अ० ९२

मनुष्य अपने को धर्म काम धन बुद्धि और मित्र इन सब से कभी पूर्ण न समझे अर्थात् इन पदार्थों की प्रतिदिन वृद्धि करता रहे, छठा साधन उत्तम सत्संग करना है जैसा चरक में लिखा है कि—

बुद्धिविद्यावयः शीलधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ।
वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावज्ञा गतव्यथाः ॥१॥
सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः शंसितव्रताः ।
सेव्याः सन्मार्गवक्तारः पुण्यश्रवणदर्शनाः ॥२॥

चर० सू० अ० ७।

जो बुद्धि, विद्या, अवस्था, धैर्य, स्मृति और समाधि इन सब वस्तुओं में अपने से (वृद्ध) बढ़े हुए हों और ऐसे

वृद्धों की सेवा करनेवाले व स्वभाव के पहचाननेवाले, पीड़ा दुःखादि से रहित प्रसन्नवदन, सब जीवों को शान्ति देने वाले उत्तम आचरण वाले सत्यमार्ग का उपदेश करने वाले, बहुश्रुत और देखने में सुन्दर* स्वरूपवान् ऐसे उत्तम पुरुषों का सत्संग करना लिखा है, एवम्—

इस सत्सङ्ग के विषय में भर्तृहरिजी ने लिखा है कि:—

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगतिः† कथय किन्न करोति पुंसाम् २३॥ भर्तृ० नी०

सत्सङ्ग ऐसी वस्तु है कि बुद्धि की जड़ता को हरण करती है वाणी में सत्यता को सिञ्चन करती है मन को बढ़ाती है, पाप से बचाती है, चित्त को प्रसन्न करती और संसार में कीर्ति फैलाती है, जगत् में ऐसी कौन सी वस्तु है

---

* जो देखने में सुन्दर सौम्य आकृति के होते हैं वे पुरुष प्रायः उत्तम होते हैं ।

यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति ॥२३॥ बृहत्संहिता अ० ७०

जैसा कि बृहत्संहिता में वर्णन् किया है कि जहाँ उत्तम आकृति हैं प्रायः वहीं उत्तम गुण होते हैं, एवम् ।

† सत्संगं साधुभिः कुर्यादसत्संगं परित्यजेत् १ भाव० भा० १

असत्सङ्ग का परित्याग करके मनुष्य प्रतिदिन सज्जन पुरुषों का सत्सङ्ग करे ।

कि जो सत्सङ्गति से न मिल सके, मनुष्य चाहे बुद्धिमान हो वा मूर्ख हो जैसा सत्सङ्ग करता है उसमें वैसे ही गुण आते हैं, देखो हितोपदेश में लिखा है कि:—

हीयते हि मतिः पुंसां हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ४२ हि०प्र०

नीचों का कुसङ्ग करने से मनुष्यों की बुद्धि नाश (नीच) हो जाती है और उत्तम पुरुषों का सत्सङ्ग करने से बुद्धि श्रेष्ठ होजाती है मनुष्य जैसा जैसा सत्संग करता है वैसा वैसा आप भी होता जाता है, इस लिये उत्तम पुरुषों का सत्सङ्ग करना चाहिये यदि कोई कहे कि न कुसङ्ग करे और न सत्सङ्ग ही करे किन्तु मनुष्य एकान्त में बना रहे तो इसमें क्ता हानि है, इसका उत्तर यह है कि ऐसा युक्तिप्रमाणशून्य असम्भव कथन बुद्धिहीन मनुष्यों का होता है क्योंकि बिना मनुष्य के मनुष्य का निर्वाह ही नहीं हो सकता यदि जन्म से कोई भी पुरुष जँगल में रख दिया जाय तो वह पशु के समान ही बना रहेगा उसको कुछ भी ज्ञान नहीं होगा क्योंकि यह नियम है कि विना सत्संग के मनुष्य को ज्ञान नहीं हो सक्ता और ज्ञान के बिना मनुष्य का सुधार कभी नहीं हो सक्ता और यह एक मनुष्य में स्वाभाविक धर्म पाया जाता है कि मनुष्य किसी न किसी मनुष्य का संग करके उसके गुणावगुण को अपने में अवश्य स्थापन करता है, इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को

कोई नहीं मेट सकता, इसी कारण शुक्र नीति में लिखा है कि:—

सुजनैः संगतिं कुर्याद्धर्माय च सुखाय च।
सेव्यमानस्तु सुजनैर्महानतिविराजते ॥१६१॥

शु० नी० अ० १

सज्जन पुरुषों का सत्संग करना चाहिये जिससे कि धर्म और सुख मिलता है जिस सत्संग के प्रभाव से उसकी बड़े बड़े लोग सेवा करते हैं और वह सब मनुष्यों का शिरोवन्द्य होजाता है इसलिये मनुष्यों को सत्संगति अवश्य करनी चाहिए, इस संसार में जितने भी महानुभाव हुए हैं वे दीपवत एक दूसरे के सत्सङ्ग से ही हुए हैं, इसी कारण से पञ्चतन्त्र में वर्णन किया है कि:—

महाजनस्य संपर्कः कस्य नोन्नतिकारकः ५९॥ पंच० त० ३

महात्मा पुरुषों का सत्संग किस को उन्नति का करने वाला नहीं होता अर्थात् उत्तम पुरुषों का सत्संग सब की उन्नति का करने वाला होता है, अतः मनुष्यों को अत्युचित है कि भोजन करने के सदृश सत्सङ्ग को भी अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ कर प्रतिदिन नियम पूर्वक उत्तम पुरुषों का सत्सङ्ग अवश्य किया करें और दुर्जन पुरुषों के कुसंग से सर्वदा बचे रहें क्योंकि कुसंग से मनुष्य की जितनी दुर्गति होती है इतनी और किसी वस्तु से नहीं हो सक्ती, इसी हेतु से चरक में लिखा है कि:—

पापवृत्तवचः सत्वाः सूचकाः कलहप्रियाः ।
मर्मोपहासिनो लुब्धाः परवृद्धिद्विषः शठाः ॥१॥
परापवादरतयः परनारीप्रवेशिनः ।
निर्घृणास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्या नराधमाः ॥२॥
चर० सू० अ० ७।

जो पाप की बातें करने वाले, चुगली खाने वाले, लड़ाई (कलह) आदि उपद्रव ही जिनको प्रिय है, मर्म छेदन करनेवाली बातों के कहने वाले व ऐसी हँसो के करने वाले लोभी अन्य पुरुष की उन्नति को देख कर उससे द्वेष करने वाले, मूर्ख तथा दूसरों की निन्दा करने वाले, परस्त्री-गमन करने वाले, निर्दय और अधर्मी ऐसे दुष्ट पुरुषों का संग कभी नहीं करना चाहिए, इस दुष्टकुसंग से सहस्रों मनुष्यों की अधोगति हुई है बड़े बड़े ऋषि मुनि व राजे माहाराजे सेठ साहूकार इस कुसंग में पड़ कर अधम गति को प्राप्त होगये और अब भी कुसंग से लोग हीन दशा को प्राप्त होते चले जाते हैं, अतः कुसंग से सर्वदा मनुष्य को वचना चाहिए।

सप्तम साधन सन्मित्र है, सन्मित्र* करने के लिए वेद में परमेश्वर की आज्ञा है कि:—

मित्रं कृणुध्वम् खलु ॥१४॥ ऋ० अ० ७ अ० ८ व० ५

*इस विषय को हम राजप्रकरण में प्रतिपादन करेंगे।

हे मनुष्यो ! तुम मित्र करो अर्थात् तुम परस्पर मित्रता करो और एक दूसरे को सुख पहुँचाओ, मित्र से मनुष्य के सर्वाभीष्ट सिद्ध होते हैं, मनुस्मृति में वर्णन किया है कि:—

धर्मज्ञञ्च कृतज्ञञ्च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिररारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥

मनु० अ० ७ ।

जो धर्मज्ञ, कृतज्ञ, प्रसन्नप्रकृति, सन्तोषी, मित्र में प्रीति रखने वाला, उद्योगी अर्थात् जिस कार्य का प्रारम्भ करे उसको समाप्त करने वाला ऐसा मनोहर मित्र ही उत्तम होता है ऐसे मित्रों से ही पुरुष को सुख होता है, इसी हेतु से महाभारत में वर्णन किया है कि:—

मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्धयासम्पाद्य चासकृत् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाऽथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥४

भा० उद्यो० प० अ० ३९ ।

मनुष्य बुद्धि से बारम्बार परीक्षा करके और उसके गुणावगुणों को सुन के व उसके आचरणों को देख कर बुद्धिमान पुरुष से मित्रता करे, एवं:—

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढ़भक्तिकम् ।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥५०

भा० उ० प० अ० ३९ ।

मित्र ऐसा होना चाहिये कि जो किये हुये उपकार को जानता हो, धार्मिक हो, सत्यप्रिय हो, क्षुद्र अन्तः करण का न हो, अर्थात् नीच प्रकृति का न हो, जितेन्द्रिय हो, यथा-योग्य वर्ताव करने वाला हो और जो अत्यागि अर्थात् कृपण न हो, एतद्लक्षणसम्पन्न ही मित्र मैत्री के योग्य होता है, एवं पञ्चतन्त्र में लिखा है कि:—

मित्रवान् साधयत्यर्थान् दुःसाध्यानापि वै यतः ।
तस्मान् मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चात्मनः ॥२८

। पं० तं २ ।

जिस पुरुष के मित्र हैं वह सब दुःसाध्य कार्यों को भी सिद्ध कर सकता है इस प्रयोजन के लिए अपने सदृश मनुष्य को मित्र अवश्य ही करने चाहिएँ, एवं:—

आपन्नाशाय विबुधैः कर्त्तव्याः सुहृदोऽमलाः ।
न तरत्यापदंकश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जितः॥१८६॥ पं० तं०२

जब मनुष्य को कोई दुःख आकर पड़ता है तो अति कठिनता होती है इस लिये कहा है कि आपत्यनाश के अर्थ बुद्धिमानों को मित्र अवश्य करना चाहिये क्योंकि आपत्काल में मित्र बिना दुःख से छूटना असम्भव है, इसी कारण से पञ्चतन्त्र के तन्त्र २ में कहा है कि:—

केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ।
आपदाश्च परित्राणं शोकसन्तापभेषजम् ॥६२॥

मित्र इन दो अक्षरों को किसने बनाया है जो कि आपदा से बचानेवाला तथा शोक और सन्ताप का औषध है, इसलिये नीतिशास्त्रकारों ने माता, भ्राता, स्त्री पुत्रादि से भी मित्र को अधिक विश्वसनीय कहा है जैसेः—

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।
विश्रम्भस्तादृशः पुंसां यादृग् मित्रे निरन्तरे ॥१९४॥
पं० तं० २ ।

सत्शास्त्रों में मित्र के विषय में बहुत कुछ लिखा है और वास्तव में वह यथार्थ है। परन्तु पूर्वोक्त व निम्नलिखित मित्र के लक्षणों से मित्र की परीक्षा लेनी चाहिए, जैसे भर्तृहरिजी ने कथन किया है कि ।

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यञ्च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥७३॥ भर्तृ० नी० ।

जो पापों से बचावे तथा हित की ओर लगावे और जो गुप्त बात छुपाने के योग्य हो, उसको गुप्त रक्खे और गुणों को प्रकट करे और आपत्तिकाल में मित्र को त्याग न देवे, किन्तु तन-मन-धन से सहाय्य करे जिसमें ये लक्षण हों उसी को महात्मा पुरुष सन्मित्र कहते हैं, अतः उसी से मैत्री करनी चाहिये और जो इन गुणों से विपरीत हो

उस कुमित्र से मैत्री कभी न करे, जैसा महाभारत में लिखा है कि—

दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव ।
विवर्जयेत मेधावी तस्मिन् मैत्री प्रणश्यति ॥४८॥
अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च ।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद्‌ बुधः ॥४९॥

भा० उ० प० अ० ३९ ।

ऐसे कुमित्र का सर्वथा परित्याग करे जो दुर्बुद्धि हो और जो बुद्धिरहित हो ऐसे पुरुष से मैत्री न करे क्योंकि ये पुरुष घास से छुपे हुए कूप के सदृश हैं। जैसे घास से ढके हुए को मनुष्य नहीं देख सकता है इसलिये उसमें गिर के मर जाता है ऐसे ही पूर्वोक्त पुरुष की मैत्री से भी मृत्यु को प्राप्त होता है, एवं अभिमानी, मूर्ख, क्रोधी, अविचारी, हिंसक तथा अधर्मी ऐसे पुरुषों से भी मैत्री कभी न करे, अष्टम साधन धैर्य्य है जैसा कि बाल्मीकीय रामायण में सुग्रीव ने रामचन्द्र के प्रति वर्णन किया है कि:—

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे ।
विमृशंश्च स्वया बुद्धया धृतिमान् नावसीदति ॥९॥

बा० रा० कि० कां० स० ७ ।

किसी प्रिय पदार्थ के वियोग में किंवा धन के नाश में अथवा मरणपर्य्यन्त भय में भी जो बुद्धि से विचार करके

धीरज (धैर्य) धारण करता है वह पुरुष कृतकार्य्य होता है, यथा—

न तदस्ति जगत्यस्मिन्स्वप्नसंकल्पदुर्लभम् ।
यन्न सिध्यति यत्नेन धीराणां व्यवसायिनाम् । १।

बोधसत्वाभिधानकल्पलता में लिखा है कि स्वप्नवत् ऐसा पदार्थ जगत् में कोई नहीं है जो धैर्य्यवान् निश्चयात्मक बुद्धिमानों से सिद्ध न हो सके । किन्तु—

विषमं समतां याति दूरमायाति चान्तिकम् ।
सलिलं स्थलतामेति कार्यकाले महात्मनाम् । २ ।

बोधस० क० ।

जब कार्य्य करने को उद्यत होते हैं तब उन धैर्य्यवान् पुरुषों के लिये विषमता समता को, दूर सामीप्य को और जल स्थलता को प्राप्त होजाता है। नवम साधन परीक्षा है यथा—

एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते ।
परीक्ष्यं सदसच्चैवं तया चास्ति पुनर्भवः ॥ १९॥

चर० सू० अ० ११

जिससे सर्व सदसत् पदार्थों की परीक्षा होती है और जिस परीक्षा से अधोगति को प्राप्त हुआ पुरुष भी उन्नति को प्राप्त होता है उसी को परीक्षा कहते हैं, परीक्षा की आवश्यकता मनुष्यों को सर्व व्यहारों में रहती है, क्योंकि

यदि परीक्षा न की जाय तो सुवर्ण के बदले में पीतल और हीरे के बदले में काच ले लेने से तथा औषध के बदले विष खा लेने से मनुष्य का दुर्दशा हो जावे। अतः मनुष्यों को योग्य है कि प्रत्येक पदार्थ की परीक्षा करके पदार्थ को ग्रहण किया करें।

दशवां साधन निम्नलिखित गुणविशिष्टता है तद्यथा—

देशकालज्ञता दार्ढ्यं सर्वक्लेशसहिष्णुता।
सर्वविज्ञानता दाक्ष्यमूर्जः संवृतमन्त्रता॥ १॥
अविसंवादिता शौर्यं भक्तिज्ञत्वं कृतज्ञता।
शरणागतवात्सल्यममर्षित्वमचापलम्॥ २॥

बाल्मीकीय रा० कि० कां० स० ५४ टी० श्लो० २ की देशकालज्ञता, दृढ़ता, परिश्रम का सहन करनेवाला, ज्ञानता चातुर्य्य, बल, विचारशीलता, १ यथार्थ परिमितभाषण, शौर्य्य, भक्तिज्ञता, शरणागतवात्सल्य, अवरोधता, और अचापल्यादि अनेक गुण हैं * उन सब का उल्लेख नहीं कर सकते, बुद्धिमान् † पुरुष वैसे ही जान लेवें, सुगुण सब

---

*गुणेषु यत्नः तुरुषेण कार्य्यो न किंचिद प्राप्यतमं गुणानाम् ॥ ३६ ॥ सुभा० प्र०२

†बुद्धिः पश्यतियान् भावान् बहुकारणयोगजान्। युक्तिस्त्रिकालासा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया॥ १८॥ चरक सू० स्था० अ० ११

संसार में प्रकट ही है उनके उपार्जन करने में तथा उनके साधने में मनुष्य को सर्वदा उद्योग करना योग्य है. हम प्रथम लिख आये हैं कि मनुष्य का द्वितीय कर्त्तव्य आजीविका है इसके विषय में मनुस्मृति में मनुष्यों के लिये १० आजीविका के भेद लिखे हैं जैसे—

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदञ्च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥

मनु० अ० १०

(विद्या) ये बहुत प्रकार की हैं जिनको हम पूर्व लिख आये हैं (शिल्प*) कारीगरी (भृतिः) ओहदेदारी आदि टहल, सेवकाई (गोरक्ष्य) गवादि पशुपालन (विपणिः) व्यापार (कृषिः) खेती (धृतिः) धारणा, धरोहर (भैक्ष्य) भिक्षावृत्ति (कुसीदञ्च) व्याज,ये दश जीविकायें हैं एवं शुक्रनीति के अ० ३ में ८ जीविकायें गिनाई हैं। इन आजीविकाओं के विषय में प्राचीन व अर्वाचीन सभी ग्रन्थकारों ने यथामति लिखा है और उन लोगों ने स्व स्व बुद्ध्यनुसार जीविकाओं को मध्यमाधमोत्तम भी वर्णन किया है, परन्तु व्यक्तिभेद के कारण से जीविकाओं के मध्यमोत्तमता का निर्धार इथम्भूत अद्यापि यथावत् नहीं हुआ ! क्योंकि एक जीविका ऐसी है कि उसके करनेवाले को श्रम अधिक होता है और उसमें लाभ थोड़ा (न्यून)

* इस विषय को विद्याओं के विषय में देखो।

है। परन्तु उससे संसार का कुछ लाभ है जैसे सेवा टहलादि, २ द्वितीय जीविका ऐसी है कि जिसमें श्रम यत्किञ्चित् और लाभ बहुत है परन्तु उससे संसार का कुछ भी लाभ नहीं प्रत्युत हानि होती है जैसे धरोहर रख कर अधिक कुसीद लेकर किसी को दिवालिया बनाने की नियत से वित्त का देना आदि, ३ तृतीय ऐसी जीविका है कि जिसमें कुछ श्रम है और लाभ अच्छा है परन्तु संसार का विशिष्ट दशा में कुछ विशेष उपकार नहीं जैसे (प्राड्विवाकत्व) वकालत आदि, ४ चतुर्थी ऐसी जीविका है कि जिसमें श्रम बहुत अधिक नहीं है व अन्याय करने पर अधिक लाभ का सम्भव और अन्याय न करने पर विशेष लाभ का असम्भव तथा अवस्थाविशेष में जिसमें संसार की हानि भी नहीं जैसे (भृति) उहदेदारी, ५ ऐसी जीविका है कि जिसमें श्रम सामान्य और सम्पत्ति शास्त्रानुकूल कार्य करने पर लाभाधिक्य और जिससे विशेष दशा में संसार का उपकार भी सम्भव है जैसे सद्व्यापार, ६ ऐसी जीविका है कि जिस में श्रम बाहुल्य अवस्थाविशेष में न्यूनाधिक लाभ का भी सम्भव जिससे संसार का सर्वथा परमोपकार जैसे (कृषि) खेती ७ ऐसी जीविका है कि जिसमें श्रम की न्यूनाधिकता से लाभ की न्यूनाधिकता है और जिससे संसार का उपकार जैसे तक्षक अ स्कारादि (खाती लुहारादि) की कारीगरी, ८ अष्टमी वह जीविका

है कि जिसमें श्रम थोड़ा लाभाधिक्य और जिससे संसार का भी लाभ जैसे कला कौशली, ९ नवमी वह जीविका है कि जिसमें श्रमाधिक्य लाभ की न्यूनाधिकता और संसार का जिससे सर्वथा कल्याण जैसे नवीन नवीन सद्विद्याओं का प्रकाश करना, १० दशमी वह जीविका है कि जिसमें श्रम न्यून लाभ यथोद्यम जिससे संसार को भी लाभ जैसे गवादि पशुओं का पालन, ११ एकादशमी वह जीविका है कि जिसमें विशेष श्रम नहीं, लाभ यथासम्भव और संसार का जिससे सर्वथा अकल्याण जैसे भिक्षा (भीख) इन जीविकाओं का वर्णन वेदादि सत्शास्त्रों में भी यथावश्यक किया है ग्रन्थविस्तारभय से इन सबों का वर्णन नहीं किया जा सकता। परन्तु स्थालीपुलाक न्याय से यहाँ पर यत्किंचित् वर्णन करते हैं, तद्यथाः—

सर्वं पणेः समविन्दन्त ॥४॥ अ० कां० २० अनु०२ व०२५

व्यापार ऐसा उत्तम पदार्थ है कि जिससे सब पदार्थ मनुष्य को मिल सकते हैं, एवं—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व,
वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया,
तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥१३॥

ऋ० अ० ७ अ० ८ व० ५।

अय मनुष्य ! द्यूत (जुआ) मत खेल किन्तु कृषि (खेती) को कर और अपने उद्योग द्वारा उस कृषि से उत्पन्न हुए धन को ही बहुत मान कर संतुष्ट हो क्योंकि कृषि में गौ आदि पशु और सन्तति की वृद्धि होती है और जुआ खेलने से शरीर के वस्त्रों को भी हार बैठता है। इस बात का उपदेश सर्वोत्पादक परमेश्वर ने हम मनुष्यों को किया है, एवं वेदादि शास्त्रों में अन्यान्य जीविकाओं के विषय में भी यथोचित कहा है, इन जीविकाओं की उत्तमता और मध्यमता और अधमता को अन्य ग्रन्थ-कारों ने भी प्रतिपादन किया है, जैसे:—

प्रथमं कृषिवाणिज्यं※ द्वितीयं योनिपोषणम् ।
तृतीयं विक्रियं वक्रं चतुर्थं राजसेवनम् ॥१॥

पराशरस्मृ० अ० ३।

पाराशर के कथनानुसार प्रथम कृषि, द्वितीय वाणिज्य, तृतीय दूकानदारी और चतुर्थ नौकरी, ये चार जीविकायें हैं, इन ४ में से पाराशर के वचनानुसार तो कृषि सब से उत्तम ज्ञात होती है। परन्तु बहुत से ब्राह्मणादि वर्ण के कहेंगे कि ब्राह्मण को कृषि नहीं करनी चाहिए परन्तु इस

※वाणिज्य और दूकानदारी में यह भेद है कि जिस स्थान में पदार्थबाहुल्य हो उस स्थान से पदार्थ लेकर जहाँ पदार्थाभाव हो वहाँपहुँचाने का नाम व्यापार है और नगर में से माल खरीद कर हट्ट पर बैठे-बैठे बेचने को क्रय विक्रय कहते हैं ।

पाराशर ने तो ब्राह्मणों को कृषि करने का उपदेश किया है, देखो:—

षट्कर्म्मसहितो विप्रः कृषिवृतिं समाश्रयेत् ॥१॥

पाराशर स्मृ० अ० ३ ।

षट् कर्मों को करता हुआ ब्राह्मण कृषि को करे, एवं जोविकाओं में उत्तम मध्यमता की ओर अधिक विचार करने से ज्ञात होता है कि विद्या, व्यापार कला-कौशल, कृषि आदि जोविकायें उत्तम विद्या* जो कि सब विद्याओं को शिक्षिका है और जिससे प्रतिदिन यन्त्रादि के द्वारा नवीन नवीन जोविकायें निकलती हैं, व्यापार जिस के ऊपर राजा और प्रजा सब का व्यवहार निर्भर है और जो देशोन्नति का मुख्य कारण है जिसकी उन्नति से अनेक देशों की उन्नति और जिसकी अवनति से अनेक देशों की अवनति हुई; किम्बहुना जिस व्यापार से मनुष्यों ने अनेक देशों के सम्राट् पद को प्राप्त किया उस व्यापार † के विषय में जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा, इसलिए कवि ने कहा है कि:—

न मन्ये वाणिज्यात् किमपि परमं वर्तनमिहि ॥११॥

पञ्च० तन्त्र १ ।

---

* विद्याओं के लाभ ब्रह्मचर्य्यप्रकरण में देखो ।

† व्यापारान्तरमुत्सृज्य वीक्ष्यमाणो बधूमुखम् ॥योगृहेष्वेव निद्राति दरिद्राति स दुर्मतिः ॥३॥ सुभा० प्र० ।

व्यापार से अधिक मैं किसी को परमोत्तम नहीं मानता अस्तु, कला-कौशल्य जिससे सहस्त्रों मनुष्यों का काम एक मनुष्य से और वर्षों का कार्य्य दिवसों में व क्षणों में होता है जो प्रत्येक आजीविका का सहायक जिससे कि देश को बड़ा लाभ होता है, जिसके विषय में हम पूर्व लिख आये हैं, कृषि जिसके द्वारा अन्न वस्त्रादि सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो कि मनुष्मात्र का प्राणाधार है जिसके बिना मनुष्य का क्षण-भर भी निर्वाह नहीं हो सकता—केवल मनुष्यों ही का नहीं किन्तु पशु,पक्षी आदिकों का भी कृषि जीवनभूत है। इस देश का निर्वाह तो केवल कृषि पर ही निर्भर है। कृषि को कृषि विद्या के द्वारा किया जाय तो बहुत कुछ लाभ हो सकता है। इसलिये कृषि की उन्नति करनी चाहिए। पशुपालन से मनुष्य घृतादि पदार्थ खाते हैं व जो कुछ कृषि आदि व्यवहार करते हैं वह सब गवादि पशुओं के ही ऊपर निर्भर है, इसलिये गवादि पशुओं का पालन उत्तम प्रकार से अवश्य ही करना चाहिए—इसी प्रकार अन्यान्य जीविकाओं की योग्यता भी स्वबुद्धि से विचार लीजिये, यद्यपि जीविकाओं का विचार करने से जीविकाओं के वास्तविक उत्तम मध्यमतादि भेद हैं और वे भेद प्रतीत भी होते हैं तथापि:—

अधिकारीप्रभेदान्न नियमः॥७६॥ सांख्य० अ० ३।

इस सांख्यसूत्र के वचनानुसार अधिकारियों के भेद

होने से सब जीविकाओं को सब मनुष्य नहीं कर सकते और यदि सब मनुष्य एक उत्तम जीविका को ही करने लगें तो संसार का कार्य एक दिन भी नहीं चल सक्ता। परन्तु यह भी नहीं होसकता कि संसार का कार्य न चलने से उत्तम जीविका अधम और अधम जीविका उत्तम होजाय। किन्तु प्रत्येक जीविका स्वयोग्यतानुसार ही रहेगी और शास्त्रकारों ने सब मनुष्यों को किसी जीविकाविशेष करने की भी आज्ञा नहीं दी है। किन्तु गुणकर्मस्वभावानुसार जिसको जिस जीविका के करने की रुचि हो वह उस जीविका को करे, एवं शास्त्रकारों ने किसी विशेषजीविका के लिये सर्व मनुष्यों को लाचार नहीं किया, देखो चरक संहिताः—

> कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यराजोपसेवादीनि
> यानि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि कर्माणि
> वृत्तिपष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत्त कर्त्तुम्।
> तथाकुर्वन् दीर्घजीवितमनुवसतः पुरुषो भवतीति॥
> च० सू० अ० ११

कृषि (खेती) गो, बैल, अश्व आदि पशुओं का पालन व्यापार राजा की भृत्याता (नोकरी) और अपनी आजीविका की वृद्धि करनेवाले ऐसे अन्यान्य अनिन्दित कर्मों को करता रहे ऐसे कर्मों को करता हुआ मनुष्य दीर्घकाल तक जीता है और पुरुष कहाने योग्य भी ऐसे

कर्मों के करने से ही होता है। इसी प्रकार शुक्र-नीति में भी लिखा है कि:—

यया कया चापि वृत्त्या धनवान् स्यात् तथाचरेत् ॥१८१॥
शुक्रनी० अ० ३।

जिस किसी जीविका से धनवान् हो उस जीविका को करे, परन्तु यह वार्त्ता अवश्य ध्यान में रक्खे कि:—

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ॥११॥ मनु०अ० ४
वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युधर्माविरोधिनः॥ च० सू० अ० ५

वेदविरुद्ध लोकाचारानुसार बर्त्ताव करके अपना आजीवन न करे किन्तु अनिन्दित श्रेष्ठ जीविका से जीवन करे तथा भिक्षादि* विगर्हित नीचतम जीविकाओं को कभी न करे क्योंकि:—

प्रतिग्रहःप्रत्यवरः प्रेत्यविप्रस्य गर्हितः।१०९। मनु०अ१०

---

* जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णाकुलतया,
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृतालङ्का भर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना,
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥ ३२ ॥
क्व गन्तासि भ्रातः कृतवसतयो यत्र धनिनः,
किमर्थं प्राणानां स्थितिमनुविधातुं कथमपि।
धनैर्याच्ञालब्धैर्ननु परिभवोऽभ्यर्थनफलम्,
निकारोऽग्रे पश्चाद्धनमहह भोस्तद्धि निधनम् ॥ ३३ ॥
तावत्सर्वगुणालयः पटुमतिः साधुः सतां वल्लभः,
शूरः सच्चरितः कलङ्करहितो मानी कृतज्ञः कविः।

मनु ने प्रतिग्रह लेने की निन्दा लिखी है, तथा महाभारत में भी लिखा है कि:—

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्त्तितम् ।
वेदावादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥ ६ ॥
इदं देयमिदं देयमिति चायं प्रशस्यते ।
अतस्तैन्यं प्रभवति विकर्माणि च जाजले ॥ ७ ॥
भा० शां० प० अ० २६४ ।

वेद के सिद्धान्त को नहीं जाननेवाले धन के लोभी नास्तिक मनुष्यों ने यह झूठी बात संसार में प्रवृत्त की है कि ये दो, वे दो, इसके देने से यह फल होगा। परन्तु भीख आदि के देने से मनुष्य आलसी हो जाने से चोरी आदि तथा और और कुकर्मों को करते हैं, इसलिये भीख माँगना मँगाना और भीख का लेना देना दोनों संसार के हानिकारक हैं, इसलिये ऐसी विगर्हित संसार की हानिकारक आजीविकाओं को छोड़ कर उत्तम जीविका करनी

दक्षो धर्मरतः सुशीलगुणवांस्तावत्प्रतिष्ठान्वितो,
यावन्निष्ठुरवज्रपात सदृशं देहीति नो भाषते ॥ ४० ॥
द्वारे द्वारे परेषामविरलमटति द्वारपालैः करालैः,
दृष्टो योऽप्याहतः सन् रणति गणयति स्वापमानं तु नैव ।
हन्तुं शक्नोति नान्यं स्वसदृशमितरागारमप्याश्रयन्तम्,
आमस्यात्मोदरार्थे कथमहह शुना नो समो याचकः स्यात् ॥४७॥
सु० भा० प्र० २ ।

चाहिये। आजीविकादि सब व्यवहारों के लिये मनुष्य को अपना समय-विभाग करना समुचित है; क्योंकि वेद में लिखा है किः—

कालें* मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वानन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ७ ॥

अथ० कां० १९ अनु० ६ व० ५३।

मनुष्य का मन समय के चक्र में रहता है, प्राणों की गति भी समय में ही रहती है, मनुष्य का नाम (प्रशंसा) भी समय में ही होता है और काल (समय) से ही सर्व मनुष्य आनन्द को प्राप्त होते हैं, प्रयोजन यह है कि जो मनुष्य विचारपूर्वक समय समय पर कार्य को करता रहता है वही मनुष्य सुख और प्रशंसा का भागी हो सकता है। इसीलिये वेद का उपदेश है कि समय को निरर्थक व्यतीत न करना चाहिए। जो मनुष्य समय को निरर्थक खोते हैं वे अपने जीवन को व्यर्थ व्यतीत करते हैं। सब कार्यों में समय की आवश्यकता होने से मनुष्य को प्रथम समय का परिज्ञान होना परमावश्यक है। संसार में जितने नामाङ्कित पुरुष हुए हैं वे सब के सब समय की बड़ी प्रतिष्ठा

* अपरस्मिन् परं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि ॥६॥ नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारेण कालाख्येति ॥ ९ ॥ वैशेषिक अ० २ आ० २, सूक्ष्मादपि कलां न क्षीयत इति कालः संकलयति कालयति वा भूतानीति कालः।

(क़दर) करनेवाले हुये हैं। जिन्होंने समय की महिमा को जान कर काल की प्रतिष्ठा की है वे ही संसार में कृत-कृत्य हुए हैं। मनुष्य का कोई भी कार्य उचित समय बिना नहीं हो सक्ता, सृष्टिक्रम हमको शिक्षा दे रहा है कि सूर्यादि ग्रहों के उदयास्त में तथा वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि और फल-फूल लगने में जितना समय चाहिये उससे न्यून समय में सूर्यादि ग्रहों का उदयास्त व वृक्ष के पुष्प फलादि का प्रादुर्भाव नहीं हो सक्ता, ऐसे ही हमारे प्रत्येक कार्य्यों में जितने समय को आवश्यकता है उससे न्यून समय में कोई भी कार्य यथावत् नहीं हो सकता। क्योंकि यह ईश्वरीय नियम है कि जिस पदार्थ के बनने में जितने देश काल सामग्री की आवश्यकता है उतने देश काल सामग्री के बिना वह कार्य यथायोग्य नहीं बन सकता। इस अखण्डनीय नियम के न जाननेवाले मनुष्य नियत समय पर कार्य नहीं करते हैं। इससे उनके अनेक कार्य एकत्र हो जाते हैं। पुनः वे उन कार्यों के करने में शीघ्रता करते हैं। शीघ्रता के करने पर भी कार्यबाहुल्य से कार्य सिद्ध नहीं होते, प्रत्युत बिगड़ जाते हैं। कार्य के बिगड़ने से उनको बड़ा भारी दुःख होता है, पुनः वे पश्चात्ताप करते हैं। उस पश्चात्ताप से उनके बल-बुद्धि वीर्य पराक्रम नाश होजाते हैं और सब व्यवस्था बिगड़ जाती है। जैसे एक बाबू को १० बजे पर कार्य्यालय (दफ़्र) में पहुँचना चाहिये। यदि वह सवा

दश बजे दफ़्र में जाय तो उसकी अनुपस्थिति के कारण से उस पर दण्ड होता है। यदि पुनरपि वह ऐसा ही प्रमाद करके नियत समय पर कार्यालय में नहीं पहुँचे तो उसको कार्य्याध्यक्ष कार्यालय से निकाल देता है। देखिये नियत समय पर कार्य न करने से ऐसे-ऐसे अनेक अधम परिणाम होते हैं। इन दुःखों से बचाने के अर्थ वेद में सृष्टि-क्रम के दृष्टांत से मनुष्य को परमात्मा ने उपदेश किया है किः—

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथा ऋतव ऋतुभिर्यान्ति साधु
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कपल्यैषाम्

॥ ५ ॥ ऋ० अ० ७ अ० ६ व० २६ ।

जैसे दिवस आनुपूर्विक होते हैं अर्थात् दिवस के पीछे रात्रि होकर पुनः दिवस होता है ऐसे ही ऋतुयें भी अनु-क्रम से ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा शरदादि आती हैं, जैसे सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य्य ठीक २ नियत समय पर होते हैं ऐसे ही मनुष्यों को भी अपनी आयु के समग्र कार्य नियत समय पर करने योग्य हैं जो मनुष्य इस वेदाज्ञानुसार नियत समय पर कार्य करने रूप नौका का आश्रय लेगा वही मनुष्य इस कार्यसमुद्र से उत्तीर्ण (पार) होगा और जो अनियतसमयरूप हाथों से तैर कर कार्य-समुद्र से पार होना चाहेगा वह उस कार्यसमुद्र में अवश्यमेव डूबेगा क्योंकि नियत समय पर कार्य न किया जाय तो पुनः

सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य भी देना स्वीकार करे तो भी वह कार्य नहीं हो सकता, यथा एक सम्राट् को परलोकार्थ कुछ सुकर्म कर्त्तव्य था, परन्तु प्रमाद से वह कार्य नहीं किया और नृप यही समझता रहा कि मैं आजकल में यह कार्य कर लूँगा परन्तु अवसान में प्राण कण्ठगत होने पर्यन्त वह कार्य न कर सका, जब वह राजा मरने लगा तब कहने लगा कि अब यदि मुझको एक क्षण तक भी कोई जिलावे तो मैं उसको अपना अर्द्ध राज्य दे देऊँ परन्तु यह कब सम्भव हो सक्ता है कि मृत्यु से एक क्षणमात्र भी कोई बचा सके, अन्त में मन-की-मन में लेकर मर गया और वह कुछ भी न कर सका। इसलिये समय को व्यर्थ कभी नहीं खोना चाहिये, क्योंकि कृशि सूख जाने पर वर्षा, मनुष्य के डूब जाने पर नाव, रोग से मर जाने पर औषध और गृह में अग्नि लगने पर कूप खनना आदि उपाय सब निरर्थक ही होते हैं। ऐसे ही अन्यान्य सर्व कार्यों की व्यवस्था भी जानो। जैसे अपने समय में गवर्नर जनरल महोदय से लेकर चपरासी पर्यन्त स्वाधिकारानुसार यथासम्भव कार्य कर सकते हैं परन्तु समय * व्यतीत हो जाने पर पुनः वे

---

*महात्मा भर्तृहरि जी से कहा है कि—का हानिः समयच्युतिः १०२ नी० श० मनुष्य की इस संसार में बड़ी हानि क्या है—समय का चूकना अर्थात् समय पर कार्य का न करना ही महाहानि है।

कुछ भी नहीं कर सकते, जैसा भर्तृहरि ने कहा है कि—

यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः

॥ ८६ ॥ भर्तृ वै० श०।

जब तक शरीर (स्वस्थ) रोगरहित है, जरा (बुढ़ापा) दूर है शरीर में शक्ति विद्यमान है और आयु का क्षय नहीं हुआ है तभी तक मनुष्य को आत्मकल्याणार्थ उपाय कर लेना चाहिये। क्योंकि गृह में अग्नि लग जाने पर कुआ खोद कर उसको नहीं बुझा सकते। ऐसे ही अनुकूल समय निकल जाने पर पुनः मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे रेल गाड़ी का टाइम चूक जाने पर मनुष्य पीछे रह जाता है ऐसे ही नियत समय पर कार्य न करनेवाला भी सब कार्यों में पीछे रह जाता है, इसलिये मनुष्य को सर्व कार्य नियत समय पर करने उचित हैं जो प्रतिक्षण मनुष्य का समय खोता है वह पीछा प्रत्युत (वापिस) नहीं आ-सकता, जो मनुष्य अपने समय को व्यर्थ खोता है वह महामूर्ख है। क्योंकि समय एक मनुष्य की उत्तम (भूमि) जागीर है। इसमें प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न कर सकता है। इस समयरूप भूमि को प्रयत्नरूप हल के न जोतने से

वंजर भूमि में कंटकवृक्षवत् मनुष्य में भी दुर्गुणरूप कंटक-वृक्ष उत्पन्न होते हैं। यदि धनादि पदार्थ नष्ट होजायें तो प्रयत्न करने से पुनः मिल सकते हैं, परन्तु समय गया हुआ पुनः नहीं मिल सकता यदि विचार से देखिये तो समयातिरिक्त आयु कुछ भी पदार्थ नहीं है। जो मनुष्य समय को निरर्थक खोता है वह समय नहीं खोता किन्तु अपनी आयु को नष्ट कर रहा है जैसे दीपक में तेल प्रतिक्षण जलता जाता है जब सब जल चुकता है तो दीपक बुझ जाता है ऐसे ही मनुष्य की क्षण-क्षण आयु नष्ट होती जाती है। जब सब आयु खुट जाती है तब मनुष्य मर जाता है। इसलिये मनुष्य को समय व्यर्थ न जाने देकर जो कुछ कर्त्तव्य है वह कर लेना चाहिये। बहुधा लोग कहा करते हैं कि समय जाता है। परन्तु यह वार्त्ता ऐसी है कि जैसे रेल गाड़ी पर बैठकर नीचे देखने से ज्ञात होता है कि पृथ्वी दौड़ती जाती है परन्तु पृथ्वी नहीं दौड़ती किन्तु मनुष्यरहित रेल गाड़ी दौड़ती है। ऐसे ही अखण्ड एकरस होने से समय नहीं जाता किन्तु आयु के सहित मनुष्य ही जारहा है इस वार्त्ता को सर्व साधारण लोग समयातिरिक्त नहीं जान सकते परन्तु आश्चर्य्य तो यह है कि अनेक जेण्टलमेन इस दीन अनाथ भारत के सहस्रों रुपये अन्य देशों में पहुँचाकर उष्ट्र गज घण्टवत् घड़ी लटकाये फिरते हैं। परन्तु जिस लिये घड़ी रक्खी जाती है उस प्रयोजन को वे नहीं जानते। किन्तु

केवल शोभा व सौन्दर्य्य (.खूबसूरती) के अर्थ घड़ी लटकाये फिरते हैं परन्तु पूर्वोक्त कार्यों के अर्थ घड़ी नहीं है किन्तु घड़ी एक प्रकार का समयमापक यन्त्र है। जो नियत समय पर कार्य करता है और अपना समय व्यर्थ नहीं खोता उसको घड़ी रखना उचित है अन्य को नहीं। अस्तु जो मनुष्य निकम्मा बैठा रहता है वही पुरुष दुराचारी, आलसी और महापापी होता है और जो सर्वदा समय-विभाग करके स्वकार्यों में लगे रहते हैं वे ही पुरुष उद्योगी, सुशील, ज्ञानवान्, सदाचारी, परोपकारी, उदार, दयालु, विद्वान् तथा बुद्धिमान् होते हैं। एतदर्थ प्रत्येक मनुष्य को अपना समय विभाग करके सर्व कार्य नियत समय पर करने योग्य हैं, यह अनेक ग्रन्थकारों ने सर्व मनुष्यों के लिये एकसा ही समयविभाग किया है। किन्तु सब मनुष्यों के लिये एकसा समयविभाग नहीं हो सकता क्योंकि जैसे एक बाबू है उसका समय १० बजे से ४ बजे तक जीविकार्थ जाता है, दूसरे बाबू का १० बजे से ६ बजे तक, तीसरे का ८ बजे से ८ बजे तक, एवं अन्य किसी का १२ बजे से ३ बजे तक ही समय जीविका में जाता है, अतः जीविकाभेद व व्यक्तिभेदादि से सब मनुष्यों का समय-विभाग एकसदृश नहीं होसकता। परन्तु जीविकातिरिक्त समय का विभाग बन सके तो ऐसे करे—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः ।

शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः ॥ १ ॥

अष्टांगहृ० सू० अ० २।

मनुष्य को अपनी आयु के रक्षणार्थ नियत समय प्रातःकाल में शयन से उठना चाहिये और फिर मलमूत्रादि परित्यागरूप शारीरिक क्रिया से निवृत्त होकर दैनिक कार्यों में प्रवृत्त होवे।

कितनेक मनुष्य आलस्य के वश होकर मल-मूत्रादि के वेग को रोक लेते हैं। परन्तु मल-मूत्रादि के रोकने से बड़ी हानि होती है, इसी हेतु से चरक में लिखा है किः—

न वेगान्धारयेद्धीमान् जातान् मूत्रपुरीषयोः ॥१॥

चरकसू० अ० ७।

मूत्र और मल के वेग को कभी न रोके क्योंकि मूत्र के रोकने सेः—

वस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा।
विरामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥१॥

च० सू० अ० ७।

मूत्र के निरोध से मूत्राशय में और गुह्येन्द्रिय में शूल होता है तथा मूत्रकृच्छ्र, शिरोरोग व पेंडू आदि स्थानों में अनेक रोग होते हैं, तथा गुह्येन्द्रिय शिथिल हो जाती है, अतः मूत्र के वेग को न रोके, एवं मल के वेग को रोकने सेः—

पक्वाशय शिरःशूलं वातवर्चोनिरोधनम् ।
पिण्डिको द्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्विधारिते ॥१॥

च० सू० अ० ७।

पक्वाशय (मेदे) में व मस्तक में शूल चलतो है और अपान वायु का तथा मल का निरोध होजाता है और पीठ में दरद व हस्तपादादि अवयवों की सन्धि में रोग होता है, किम्वहुना जितने रोग हैं उन सब रोगों की उत्पत्ति मल के रुकने से ही होती है, इसलिये मनुष्य को मल की शुद्धि करने का प्रयत्न पूरा-पूरा रखना चाहिये, एवं छींक, उवासी, हिचकी, डकार, अपानवायु आदि के वेगों को भी न रोकना चाहिये, मलमूत्र परित्याग करके हस्तपादादि अवयवों को शुद्ध करे यदि शुद्ध साबुन होय तो मृत्तिका से हाथ धोकर पुनः साबुन से खूब साफ़ हाथ धोवे और साबुन न होय तो केवल मृत्तिका से हाथ धोकर शुद्ध कूपोदक के शद्दश निवाये जल से कुल्ले करे अति शीतल जल से, अथवा अत्युष्ण जल से कुल्ले करने से दांत जल्दी गिरते हैं अतः इससे बचे, कुल्ले करके पुनः फिटकड़ी, कोयला, काली-मिरच, कपूर, हीराकसी और लूण इनको अनुमान से पीसकर दांतों का मंजन करे पुनः बबूल को (कीकड़) नींब करंजादि उत्तम वृक्षों का कोमल ऋजु दांतन लेकर मसूड़ों को बचाकर एक-एक दांत पर हलके हाथ से संघर्षण

करे, दन्तधावन करके उसको चीर कर जिह्वा साफ़ करे इस दन्तधावन के करने से:—

निहन्ति गन्धवैरस्यं जिह्वादन्तास्यजं मलम् ।
निष्कृष्य रुचिमाधत्ते सद्यो दन्तविशोधनम् ॥

च० सू० अ० ५।

मुख की दुर्गन्धि और दांतों का, मुख का, व जीभ का मैल दूर होजाता है तथा मुख का जायका (स्वाद) भी ठीक हो जाता है और भोजन में रुचि बढ़ती है। जो लोग दांतन नहीं करते उनके मुख से इतनी दुर्गन्धि आती है कि उनके पास कोई उत्तम पुरुष नहीं बैठ सकता तथा दांतन न करने से दांत बहुत जल्दी गिरते हैं, एवं और भी अनेक हानियें होती हैं। इसलिये दन्तधावन अवश्य करना चाहिये, दन्तधावनानन्तर नेत्रों को धोवे। यदि नेत्र में रोग होय तो आंवलों को मिट्टी के कोरे कुलड़े में शीतल जल में ४ प्रहर रात भिगोकर उन को हलके हाथ से मसल के जल को छानकर उससे आँखें धोवे पुनः (शरीरमज्जन) उबटन करना चाहियेः—

दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्राङ्कण्डूमलमरोचकम् ।
स्वेदं बीभत्सतां हन्ति शरीरपरिमार्जनम् ॥

चर० सू० अ० ५।

उबटन (पीठी) से शरीर की दुर्गन्धि, भारीपन, सुस्ती,

खाज मैल पसीना तथा कुरूपतादि का नाश होता है, अतः प्रतिदिन प्रतिसप्ताह अथवा मास में एक बार तो शरीर के उबटन अवश्य ही लगावे तदनन्तर तेल मर्दन करे, तेल लगाने से अनेक प्रकार के लाभ हैं:—

स्नेहाभ्यङ्गाद्यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात् ।
भवत्युपाङ्गादक्षश्च दृढ़ः क्लेशसहो यथा ॥
तथा शरीरमभ्यङ्गाद्दृढ़ं सुत्वक् प्रजायते ॥

जैसे तेल के लगाने से घड़ा; चमड़ा तथा उपाङ्गों से रथ का धुरा मज़बूत (दृढ़) होता है ऐसे ही तेल के लगाने से शरीर दृढ़ और सुन्दर, व शीत वायु तथा शीत जल शरीर को बाधा नहीं कर सकता, इसी प्रकार थकावट आदि भी नहीं सता सकती, एवं कसरत (व्यायाम) करने वाला तो .खूब तेल की मालिस करे। जब तेल शरीर में रम जाय तदनन्तर स्नान करे:—

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम् ।
शरीरबल सन्धानं स्नानमोजस्करं परम् ॥

च० सू० अ० ५।

स्नान करने से शरीर पवित्र होजाता है, शरीर में वीर्य की तथा आयु की वृद्धि होती है और थकावट, पसीना व मैल का नाश करनेवाला है तथा बल और तेज़ का बढ़ानेवाला है, इसलिये स्नान मनुष्य को प्रतिदिन करना चाहिये।

स्नान करने से अनेक लाभ हैं जैसे स्नान न करने से शरीर के छिद्र मल से पूरित होकर मुंद जाते हैं। पुनः उनसे शरीर की भाफ़ बाहिर नहीं निकलने से व शरीर के मल लगा रहने से, व पसीने आदि की दुर्गन्धि से अनेक रोग होते हैं और स्नान करने से वे सब रोग नष्ट हो जाते हैं। अतः निर्बल मनुष्य गुन गुने जल से और सबल मनुष्य ठण्डे जल से स्नान करे तो गुणकारक है। परन्तु मस्तक शीतल ❀ जल से ही धोना चाहिये, उष्ण से कभी नहीं। स्नान करके शुद्ध वस्त्र से शरीर को पोंछे। पुनः शुद्ध वस्त्र को धारण करे। मलीन दुर्गन्धित वस्त्र के धारण करने से भी अनेक रोग होते हैं। इसलिये सर्वदा शुद्ध वस्त्र रक्खे, एवं किञ्चित सुगन्धि का सेवन भी करे यदि केश रक्खे तो बहुत साफ़ रखने चाहियें। इसी प्रकार जूते मज़बूत और नर्म रखने चाहियें। छाता, लकड़ी भी अवश्य रक्खे, स्नानादि व्यवहार से निवृत्त होकर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती जो उद्धृत पंचमहायज्ञविधि के अनुसार संध्यावन्दन अग्निहोत्रादि करे। तत्पश्चात् व्यायाम करे। व्यायाम के फल व्यायाम करनेवालों को अनुभवसिद्ध हैं और वैद्यक के ग्रन्थों में भी इसके बहुत से लाभ बतलाये हैं जैसेः—

❀ उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा। शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत् सुश्रु० चि० अ० २४।

शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम् * ।
तत्कृत्वा तु सुखं देहं विमृद्नीयाच्च समन्ततः ॥

सुश्रु० चि० अ० २४।

जिससे शरीर के सब अङ्गों को श्रम (मिहनत) होवे उस कर्म को व्यायाम कहते हैं। व्यायाम करके कुछ काल विश्राम लेकर फिर तेल की मालिश करे। यदि स्नान न किया होय तो, और स्नान कर लिया होय तो तेल न लगावे क्योंकि तेल से कपड़े बिगड़ने का भय है। इससे यदि उचित ज्ञात हो तो स्नान से पूर्व ही तेल की मालिश करनी चाहिये, अस्तु इस व्यायाम से मनुष्य को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं जैसे:-

शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा ॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता ॥
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते ॥

सुश्रु० चि० अ० २४।

व्यायाम से शरीर के हस्त पदादि अवयवों को पुष्टि,

---

* शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्द्धिनी । देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत्। लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं क्लेशसहिष्णुता। दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥

च० सू० अ० ७।

स्वरूप-सत्ता, अङ्गों की सुघड़ता, पाचनशक्ति की वृद्धि, आलस्य का अभाव, स्थिरता, हलकापन, शरीरशुद्धि, अनेक श्रम, प्यास, गर्मी, शीत के सहन करने की शक्ति और शरीर के अनेक प्रकार के रोगों से रहित होकर नीरोग रहता है, एवं:—

न च व्यायामिनं मर्त्यमर्दयन्त्यरयो भयात् ।
न चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति ॥
स्थिरीभवति मांसञ्च व्यायामाभिरतस्य च ।
व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव ॥
वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्य्यात्सुदर्शनम् ।
सुश्रु० चि० अ० २४ ।

व्यायाम करनेवाले को हर एक आदमी से भय कम होता है और शीघ्र (जल्दी) वृद्धावस्था (बुढ़ापा) नहीं आती और व्यायाम करनेवाले का मांस कठोर हो जाता है। रोग उससे ऐसे डरते हैं जैसे सिंह से मृग डरा करते हैं और व्यायाम कुरूपवान् व वृद्ध मनुष्य को भी दर्शनीय बना देता है तथा:—

व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम् ।
विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते ॥
सुश्रु० चि० अ० २४।

जो मनुष्य सर्वदा व्यायाम (कसरत) करता है उसके

कच्चा-पक्का सब तरह का खाया हुआ अन्न (भोजन) पच जाता है और उसको अजीर्ण होने पर भी ज्वारादि रोग नहीं होते, इसलिये:—

सर्वेष्वृतुष्वहरहः पुम्भिरात्महितैषिभिः ।
बलस्यार्द्धेन कर्त्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा ॥

अपने आत्मा का हित चाहनेवाले मनुष्यों को उचित है कि सर्व ऋतुओं में अपनी शक्ति के अनुसार व्यायाम करें। अर्थात् १०० दण्ड के निकालने की शक्ति होय तो ५० दण्ड निकालें। बलार्द्ध का लक्षण ऐसा किया है कि:—

हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते ।
व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्द्धस्य लक्षणम् ॥

सुश्रु० चि० अ० २४।

जब व्यायाम करते करते जोर से मुख से श्वास निकलने लगे तब व्यायाम करना बन्द करदे। नहीं तो अधिक व्यायाम करने से भी अनेक रोग होजाते हैं, एवं व्यायाम के करने से बहुत से लाभ होते हैं। ऐसे ही व्मायाम के न करने से बहुत सी हानियें भी होती हैं जैसे:—

दिवास्वप्नाव्यायामालस्यप्रसक्तं पुरुषं जानीयात् । प्रमेही भविष्यतीति ॥ सु० नि० अ० ६।

जो दिन में सोता है व्यायाम नहीं करता और आलस्यवश होकर पड़ा रहता है वह मनुष्य अवश्य प्रमेही

होगा, अर्थात् धातुक्षीण रोग उसके अवश्य होगा। इसलिये मनुष्यों को उचित है कि प्रतिदिन व्यायाम करें, एवं यदि सृष्टिक्रम से देखा जाय तो भी व्यायाम करने की आवश्यकता ज्ञात होती है। जैसे अनेक मनुष्य कुरसी पर वा भूमि पर बैठे हुए अपने पैर हिलाया करते हैं इसका यही कारण है कि उनके मेटर (क्रियाजनकतन्तु) किंवा शरीर के हस्तपादादि अवयव व्यायाम करना चाहते हैं परन्तु वे आलस्य वा मूर्खता से भ्रमणादि व्यायाम नहीं करते और पादादि के हिलानेरूप वृथा चेष्टा को करते हैं जिसका कि मनुस्मृति * में निषेध किया है, यदि वे कसरत करें तो पैर हिलाने की उनको आवश्यकता कदापि न हो। जैसे किसान मजूर आदि मनुष्य शारीरिक परिश्रम करते रहते हैं इसलिए उनको पैर हिलानेरूप कुचेष्टा करने की आवश्यकता नहीं होती। जो मनुष्य बैठे-बैठे पैर हिलाया करते हैं वा हाथों से अन्यान्य चेष्टायें करते हैं उनसे शारीरिक काम लिया जाय, तो पुनः वे ऐसी चेष्टायें कदापि न करेंगे। इस सृष्टिक्रम से भी व्यायाम करने की आवश्यकता सुस्पष्ट ज्ञात होती है। व्यायाम अर्थात् कसरत बहुत प्रकार की होती है। जैसे दण्ड, बैठक, कुश्ती (मल्ल युद्ध) मुद्गल हिलाना, क्रिकेट खेलना, कबड्डी खेलना, दौड़ना, फिरना,

---

* न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्य्यञ्जलिना पिबेत्। नोत्संगे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात् कुतूहली ॥ ६३ ॥ मनु० अ० ४

भार उठाकर इधर-उधर फेंकना आदि, ये सब कसरतें अच्छी हैं। परन्तु छोटे लड़कों के लिये दौड़ना-कूदना क्रिकेट खेलना बराबर की अवस्था वाले से कुस्ती करना आदि कसरत अच्छी हैं। वृद्धा पुरुष के लिये केवल फिरना ही उत्तम है और युवा पुरुष के लिये सब कसरतें उत्तम हैं। परन्तु शिर* से भार उठाना सब मनुष्यों के लिये महा-हानिकारक है। जो-जो व्यायाम जिस-जिस के लिये कहा है वह-वह उस-उस के लिये उत्तम है। परन्तु भ्रमण करना अर्थात् फिरना तो सब व्यायामों से उत्तमोत्तम है, जिस मनुष्य का स्थूल शरीर हो, उसको कम-से-कम ५ माइल और अधिक से अधिक १० माइल फिरना चाहिये। यदि स्थूल शरीरवाला पुरुष ८ मील नित्य फिरा करे, तो उसका शरीर अपने काबू से बाहिर नहीं हो सकता, जो लोग सूखा (शुष्क) अन्न खाते हैं उनके लिये तो थोड़ी-सी कसरत ही बहुत है। परन्तु जो उत्तम सच्चिकण भोजन करते हैं उनके लिये अधिक व्यायाम करने की आवश्यकता है। एवं बैठने का काम करनेवालों को भी अधिक व्यायाम करना चाहिये और जो पुरुष खेती मजूरी आदि करते हैं, उनको व्यायाम की आवश्यकता नहीं है। जो लोग कसरत करते हैं वे किसी कसरत को करें। परन्तु प्रथम थोड़ी करें, पुनः शनैः शनैः कसरत बढ़ाता जाय, जिससे हानि न

*न भारं शिरसा वहेत्। २६शुक्र० अ० २

होय, तथा कसरत करने से पसीना आजाने पर शीतोदक व शीत वायु से शरीर को बचावें, मुख्यतर शीत काल में तथा जुकाम (श्लेष्म) काश श्वास (ब्रोंकाइटिस) वमन विरेचन पेचिस आदि रोगों के होने पर व भोजन आदि के करने पर भी व्यायाम न करे एवं अन्यान्य व्यायाम करने के नियम देश काल स्वभाव बलादिकों का विचार करके व्यायाम करना चाहिये। व्यायामानन्तर पसीने के सूख जाने पर स्वस्थ होजाय तब अन्यान्य आवश्यक कार्यों को करे। यह भोजन मनुष्य का जीवनाधार हैं—

विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राण-
संज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः।
प्रत्यक्षफलदर्शनात्तदिन्धनाद्ध्यन्तराग्नेः स्थितिः॥

चरक सू० स्था० अ० २७।

जैसे अन्न जल के खाने-पीने का विधान किया है वह अन्न-जल प्राणों का प्राण है। जैसे शरीर का आधार प्राण है ऐसे ही प्राणों का आधार अन्न है। यह वैद्य लोग कहते हैं। यह वैद्यों का कथन "बाबावाक्यं प्रमाणं" के सदृश नहीं है। किन्तु इसका प्रत्यक्ष फल दिखाई पड़ता है। जैसे ईंधन होता है, तभी तक अग्नि जलती रहती है। ऐसे ही जबतक आहाररूप ईंधन शरीर में रहता है तभी तक जठराग्नि भी जलती रहती है और आहार के नष्ट होते ही जठराग्नि भी नष्ट होजाती है। पुनः प्राणी मर जाता है,

इस विषय में विशेष प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह प्राणीमात्र को अनुभव-सिद्ध है। जो आहार मनुष्य का प्राणाधार है वह कैसा होना चाहिये, इसकी ओर मनुष्यों का बहुत ही कम ध्यान है। यह बड़े आश्चर्य्य की बात है। मनुष्यमात्र का जीवन (आयु) भोजन पर निर्भर होने से मनुष्य को उत्तमाधम आहार का परिज्ञान अवश्य कर्त्तव्य है। मनुष्यों को यह वार्त्ता अवश्य ध्यान में रखनी योग्य है कि जैसा प्राणी भोजन करते हैं वैसा ही प्राणी में बल, बुद्धि, वीर्य्य पराक्रम उत्पन्न होते हैं। जैसे पञ्जाबी राजपूत व पुरबिए आदि (गोधूम) गेहूँ उड़द आदि खाते हैं और बङ्गाली, द्रावड़ी, दक्षिणी, गुजराती दाल भात आदि खाते हैं। इनकी परस्पर तुलना करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो-गेहूँ आदि गरिष्ठ पदार्थों को खाते हैं वे बलिष्ठ शूरवीर और साहसी हैं और जो दाल-भातादि (लघु) हलके पदार्थों को खाते हैं वे कायर भय-भीत (बुजदिल) और निर्बल हैं। दूर जाने की कुछ आवश्यकता नहीं। एक ही दक्षिण प्रान्त में देखिये, ब्राह्मणादि उच्चवर्ण के लोग भातादि और मरहटे लोग रोटी आदि खाते हैं। उन दोनों के बल और साहस में बड़ा भारी अन्तर है। जिस अन्न में (सत्त्व) सत न्यून हो और (बुस) छिलके अधिक हों। उस अन्न में खाने से बल कम होता है और (पक्वाशय) ओझरी बढ़ जाती

है और पेट बड़ा हो जाता है तथा हलके अन्न के खाने से (पक्वाशय) मेदा निर्बल होजाता है। पुनः वह घृत, दुग्ध, मलाई, मक्खन आदि गरिष्ठ पदार्थों को पचा नहीं सकता, हलके पदार्थ के भक्षण करने से शरीर के सब अवयव शिथिल और निर्बल होते हैं क्योंकि जो आहार प्राणी खाता है वह पक्वाशयादि स्थानों में परिपक्व होके उसका रस और छिलके पृथक्-पृथक् होकर रस से रुधिर मांस (मेद) चरबी (अस्थि) हड्डी मज्जा (बोनसिक्रेशन) और वीर्य्य बनते हैं और हलके आहार के परमाणुओं का [आश्लेश] परस्पर मिलान होकर वे [घन] गाढ़त्व को प्राप्त नहीं होते। जो गुरु पदार्थ होते हैं, वे ही घन होते हैं अर्थात् गुरु पदार्थ हो आपस में मिल कर ठोस होते हैं हलके नहीं। जैसे ताँबा, चाँदी, सोना, लोहा आदि के परमाणु गुरु होने से वे आपस में मिल कर [घन] ठोस होते हैं वैसे घास फूस के परमाणु नहीं। इसी प्रकार जो गेहूँ, चणे, माष (उड़द) घृत, दुग्ध, मक्खन, मलाई आदि के परमाणु गुरु होने से शरीरावयव-रूप परिणाम को प्राप्त होके परस्पर मिल कर अधिक ठोस [कठोर] होते हैं ऐसे भात छाछ (तक्र) आदि हलके अन्न रस के परमाणु नहीं होते एवं जो पदार्थ [कठोर] कड़ा होता है वही प्रौढ़ मजबूत होता है। और जो मज़बूत होता है वही अधिक काल तक रहता है जैसे काष्ठ के मुकाबले पर लोह । अस्तु देश काल

व्यक्ति भेद से भोजन में बड़ी ही विचित्रता है। जैसे जो भोजन शीतकाल व शीतप्रधान देश में आरोग्य का हेतु है वही भोजन उष्ण काल व उष्णप्रधान देश में रोगकारक है। ऐसे ही जो भोजन पित्त प्रकृतिवाले के अनुकूल है वही कफ़ वात प्रकृतिवाले के प्रतिकूल है, एवं अन्यान्य व्यवस्था भी जानो। कफ वातादि शारीरिक प्रकृति से अतिरिक्त मानसिक प्रकृति के भेद से भी आहारवैचित्र्य होता है। जैसे एक को हींग का बघार लगा हुआ शाक प्रियकर होता है, परन्तु वही शाक द्वितीय को अप्रिय होता है ऐसे ही अन्यान्य पदार्थों की व्यवस्था भी जानो। इस पूर्वोक्त लेख से यह सिद्ध होता है कि देश काल और मनुष्य की प्रकृति, प्रवृत्ति व अवस्थाविशेष के अनुसार आहार सुखप्रद होता है। यद्यपि विशेष दशा में देश काल अवस्था प्रकृति प्रवृत्ति के अनुसार ही प्रत्येक पदार्थ सब को हितकारक होते हैं तथापि सामान्यतः—

भक्ष्याः क्षीरकृता बल्या वृष्या हृद्याः सुगन्धिनः।
अदाहिनः पुष्टिकरा दीपनाः पित्तनाशनाः॥

सुश्रु० सू० अ० ४६।

ऐसा भोजन सब को हितकारक है जो दूध का बना हो, बलकारक हो, प्रिय हो, सुगन्धियुक्त हो, दाह का करनेवाला न हो, और पुष्टि का करनेवाला हो, क्रान्तिकारक हो, पित्त-नाशक हो। सामान्यतः ऐसे पदार्थ घृत,

दुग्ध, शर्करा, गोधूम, माष आदि हैं। इन पदार्थों को अच्छी प्रकार से शोधन करा के सम्यक् पक्क करा कर जब ये अति उष्ण भी न हों और न शीत ही हों तब उत्तम प्रदेश में नियत समय पर इनका सेवन करे। जिस भोजन से मनुष्य का पोषण ठीक ठीक हो वह भोजन करना चाहिये। वैद्यक ग्रन्थों से सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य के पोषण के लिये चार पदार्थों की आवश्यकता है, (सत्त्व) मैदा गेहूँ आदि, (द्रव) पतलापन दुग्धादि, (मिष्ट) शर्करा आदि (स्निग्ध) चिकना घृतादि; इन पदार्थों से ही मनुष्य का पालन पोषण यथावत् होता है। अतः इन का सेवन अवश्य करे। यदि मिल सके तो कम से कम आध पाव घी आध पाव मीठा, एक सेर दूध और आटा जितना खा सके उतना खावे, एवं दाल व एक दो शाक भी अवश्य ही खावे। अनेक मनुष्य पेट भरकर अन्न इसलिये नहीं खाते कि हम रोगी हो जायँगे। परन्तु यह उनकी भूल है। जितनी भूख उतना अवश्य ही खाय। पेट-भर खाने से मनुष्य नीरोग रहता है और कम खाने से ही रोगी हो जाता है, यह वैद्यक का सिद्धान्त है। मनुष्य को जिस पदार्थ पर अधिक रुचि हो वह पदार्थ अवश्य ही खावे। परन्तु हानिकारक* न हो और नित्य एक अन्न वा एक शाक ही न खाय किन्तुः—

---

* भोजनं तृणकेशादिजुष्टमुष्णीकृतं पुनः। शाकावरान्न भूयिष्ठं अत्युष्णा लवणं त्यजेत् ॥ ३९ ॥ अष्टांगहृदयसू० अ० ८।

एकधान्यमेकदेश मेकवस्त्रं च वर्जयेत् ॥५८॥

गो० गृह्यसू० प्र० ३ कां २।

प्रति दिन अदल-बदल कर अन्न शाकादि खाया करे, एवं:—भोजन में निम्नलिखित नियमों का ध्यान रखना चाहिये जैसे:—

उष्णं स्निग्धं मात्रावत् जीर्णे वीर्य्याविरुद्धम् । इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितं अजल्पन् अहसन् तन्मना भुञ्जीत आत्मानमभि समीक्ष्य सम्यक् ।

चर० चि० अ० १।

भोजन गरम, सचिक्कण हो। अनुमान से अधिक न हो और शरीर के रुधिरादि का बिगाड़नेवाला न हो तथा घृत, दूध, दही, शाक, कढ़ी आदि उपकरणों के सहित हो, एवं भोजन करने का स्थान उत्तम स्वच्छ पवित्र हो, जैसा सुश्रुत में लिखा है कि:—

भोक्तारं विजने रम्ये निःस्वान्ते शुभे शुचौ ।
सुगन्धिपुष्परचिते समे देशेऽथ भोजयेत् ॥

सुश्रु० सू० अ० ४६।

भोजन-स्थान एकान्त में हो, जहाँ पर बहुत से मनुष्य न आते जाते हों और जिस में रेता, धूली, घास, फूस आदि उड़ कर न जाते हों, मैला कुचैला न हो, चित्र विचित्र सुगन्धित पदार्थों से सज्जित (शृङ्गारित) हो और पुष्पवाटि-

का आदि से सुन्दर निर्माण किया हुआ हो ऐसे शुद्ध स्थान में भोजन करना चाहिये; भोजन करते समय शीघ्रता व देर न करे तथा अधिक बोलना हँसना भी न चाहिये, एवं किस पदार्थ के खाने से मेरा शरीर नीरोग रहता है और किस अन्न के खाने से प्रकृति बिगड़ जाती है इसका विचार करके खावे तथा भोजन के पच जाने पर पुनः स्थिरचित्त होकर भोजन करे। परन्तु निषिद्ध अन्न को भक्षण न करे जैसेः—

अचोक्षं दुष्टमुच्छिष्टं* पाषाणतृणलोष्ठवत्।
द्विष्टं व्युषितमस्वादु पूति चान्नं विवर्जयेत् ॥
चिरसिद्धं स्थिरं शीतमन्नमुष्णीकृतं पुनः।
अशान्तमुपदग्धञ्च तथा स्वादु न लक्ष्यते ॥
सुश्रु० सू० अ० ४६।

जो अन्न मलीन हो, जिसमें विषादि कुत्सित वस्तुयें मिली होवें, व झूठा होवे, जसमें पत्थर, घास, लोहादि मिले होवें, जिसके खाने से मन उदास होजावे, जो बासी हो, स्वादरहित हो, जिसको देखते ही मुख में से राल छूटती हो तथा जो बहुत दिन का पका हुआ कठोर हो, ठंडा हो, शीत होजाने पर फिर गरम किया गया हो, खाने पर

---

*नोच्छिष्टंकस्यचिद्द्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा। न चैवात्यशनङ् कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥५६॥ मनु० अ० २।

जिसे पीड़ा हो और जो अधिक अग्नि से जल गया हो ऐसे अन्न को कभी भक्षण न करे, एवं:—

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्-
कालभोजी जितेन्द्रियः ।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान्
बुद्धिमान् विषमाशनादिति* ॥ चर० नि० अ० ६ ।

भोजन में व्यतिक्रम होने से बहुत से रोग हो जाते हैं। इसलिये मनुष्य हितकारक क्षुधा के अनुकूल अर्थात् भूख से न्यूनाधिक (कमती जियादा) न हो ऐसे भोजन को ठीक समय पर करे। क्योंकि समय के व्यतिक्रम होने से बहुत-सी हानियें होती हैं जैसे:—

अप्राप्तकाले भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः ।
तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं वा नियच्छति ॥
अतीतकाले भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले ।
कृच्छ्राद्विपच्यते भुक्तं द्वितीयञ्च न काङ्क्षति ॥
सुश्रु० स० अ० ४६ ।

शरीर स्वस्थ न हो और भूख लगने से प्रथम ही भोजन करने से मनुष्य बड़े दुःखों का अनुभव करता है।

---

*हिताहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम् । बहुस्तोकमकाले वा विज्ञेयं विषमाशनम् ॥ सुश्रु० सू० अ० ४६ ।

शरीर रोगग्रस्त हो जाता है अथवा अकाल मृत्यु से मरता है। ऐसे क्षुधा के लगने पर भोजन न करने से भी जठराग्नि मन्द होजाती है। खाया हुआ अन्न बड़ी कठिनता से पचता है और दूसरी बार भोजन करने की रुचि नहीं रहती, एवं समय पर भोजन न करने से और भी बहुत-से उपद्रव होते हैं। इसलिये भोजनादि सर्व व्यवहार अपने अपने समय पर करने अति आवश्यक हैं, तथा ऋतु के सुन्दर फल अवश्य ही खावे जिसके खाने से रुधिर की शुद्धि और शरीर की पुष्टि व रोगों की निवृत्ति। होती है ग्रन्थविस्तारभय से हम अधिक नहीं लिख सकते, इसका विशेष निर्णय वैद्य, हकीम तथा डॉक्टरों से कर लें, अथवा आप स्वयं वैद्यक ग्रन्थों में देख लो, भोजन दक्षिण स्वर चलने पर करो और भोजन करने के १॥ घण्टा वा २ घण्टे पश्चात् वाम स्वर चलते समय जलपान करो जैसा कि स्वरोदय में लिखा है वह स्वरोदय में देख लेना, तथा इस भोजन की विशेष व्यवस्था चरक विमानस्थान अ० १ में व सुश्रु सू० अ० ४६ में देख लेना एवं इसी स्थान का २० अध्याय इस विषय में सम्बन्ध रखता है। अतः वह भी देख लो, वा सुन लो और इस योगसूत्र के अर्थ का भी अहर्निश स्मरण रक्खो कि:—

हेयम्* दुःखमनागतम् ॥१६॥ पतं० यो० पा० २।

---

*प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्।

जो दु:ख नहीं आया है उस दु:ख के आने से पहले उसको रोक लो ! मनुष्य बुद्धिमान् वही है जो प्रथम ही रोग को नहीं होने देता। क्योंकि जब मनुष्य रोगग्रस्त होजाता है तब ही अशक्त होजाने से सभी कार्यों से हाथ धो बैठता है। उससे बड़ी हानियाँ होती हैं प्रथम तो उसको घोर दु:ख होता है, द्वितीय बीमारी की दशा में उसको अपना शरीर अप्रिय दु:खदाई प्रतीत होने लगता है पुनः स्त्री, पुत्र धनादि पदार्थों की तो क्या ही कथा है। तृतीय रोगनिवृत्त्यर्थ वैद्य हकीम डाक्टरों की आराधना (खुशामद) करनी पड़ती है और धन ख़र्च भी होता है उस पर भी अच्छा हो वा न हो कोई नहीं कह सकता, चतुर्थ जब तक रोगग्रस्त रहता है उतने समय की जीविका की भी हानि होती है। पञ्चम अन्यान्य सर्व कार्य बन्द होजाते हैं। षष्ठ उसके पुत्रादि सब सम्बन्धियों को बड़ा भारी दु:ख होता है। सप्तम शरीर रोगग्रस्त होने के पश्चात् यथापूर्व (जैसा पहिले था) वैसा नहीं होता। जैसे जेब घड़ी का पुरजा बिगड़ने से जेब-घड़ी बन्द होजाती है और कारीगर उन पुरजों को सुधार कर पुनः चला लेता है। परन्तु जो पुरजे बिगड़ने के पूर्व उत्तम थे वैसे फिर नहीं रहते ऐसे ही शरीर के पुरजों की व्यवस्था भी जानो। अष्टम रोगी शरीर होजाने से मनुष्य शीघ्र मर जाता है। इसलिये जहाँ तक हो सके मनुष्य को रोग से बचना चाहिये, रोग से बचने

के कुछ साधन यहाँ पर वर्णन करते हैं, वे ये हैं १ मनुष्य के निवास का स्थान उत्तम हो, प्रत्येक मनुष्य के रहने के लिये (प्रदेश) जमीन कम से कम १२ फुट लम्बी और ८ फुट चौड़ी और १५ फुट ऊँची होना उचित है और उसके चारों ओर खिड़कियाँ होनी चाहियें, ताकि वायु आता जाता रहे यदि शीत-प्रधान देश में इस से अर्द्ध होगा तो भी कुछ हानि नहीं होगी परन्तु उष्ण देश में तो भवन ऐसा ही होना समुचित है, स्थान २ शुद्ध पवित्र रहना चाहिये दुर्गन्धि सर्वथा न रहने पावे, पाख़ाने व मोरियें बिलकुल साफ़ रहें, ३ गृह बहुत पास-पास न बनने चाहियें और गृह के अग्रभाग में पुष्पवाटिका वृक्षादि भी रक्खे, ४ वायु शुद्ध मिले, ६ वस्त्र, शय्या, पात्र आदि सब शुद्ध रखने चाहियें ७ युक्ताहार विहार अर्थात् नियत समय पर सोना जो कि ६ घण्टे से कम न हो और ८ घण्टे से* अधिक न हो, जागना, कार्य करना आदि सब व्यवहार नियमपूर्वक करे, ८ ब्रह्मचर्य्य से रहे और व्यायाम करे, ९ मादक द्रव्य व कुभोजन से बचे, १० दुष्टसंग और द्यूत, व्यभिचार, मद्यपान आदि कुव्यसनों से बचे, ११ शरीर मध्यम रखना चाहिये जैसा सुश्रुत में कथन किया है कि:—

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ ।

---

*बालकों को ८ घण्टे से अधिक सोना योग्य है ।

श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः ॥

सुश्रु० सू० अ० १५।

जो (अतिस्थूल) बहुत मोटा और (अति कृश) अधिक दुबला पतला ये दोनों उत्तम नहीं हैं क्योंकि जो बहुत मोटा होता है वह चलने फिरने व अन्यान्य काम करने के योग्य नहीं होता और जो बहुत दुबला होता है वह निर्बल होता है इस हेतु से नातिकृश नातिस्थूल शरीर रखना चाहिये वह युक्ताहार विहार व्यायामादि से होता है जैसा कुछ कहा गया है उससे विपरीत बर्त्ताव करनेवाले शहर के मनुष्यों को देखिए उनका चेहरा पीला व फीका, शरीर से दुर्बल, वीर्यहीन, रोगग्रस्त और सुस्त होते हैं उनकी आयु भी कम होती है, सन्तान भी निकृष्ट होती हैं, सुख उनको नहीं ही होता, इसलिये पूर्वोक्त कथनानुसार ही, आहार, विहार, निद्रासन, स्थान, स्नान, यान, जलपानादि व्यवहार करने योग्य हैं, ११ मन को स्थिर शोक क्रोधादि से रहित आनन्द में रखना चाहिये क्योंकिः—

यस्मान्न* ऋते किञ्चन कर्म क्रियते ॥ ३ ॥

यजु० अ० ३४।

इस मन के विना कुछ भी काम नहीं कर सकते इसकी

---

*इस विषय को यजुर्वेद अ० ३४ में और ऋग्वेद अ० ८ अ० १ सू० ४८ में देखो।

स्थिरता के बिना मनुष्य शोकाकुल होजाता है उसका परि-णाम यह होता है कि:—

ये शोकमनुवर्त्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम् ।
तेजश्च क्षयते तेषा न त्वं शोचितुमर्हसि ॥१२॥
शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशयः ।१३।
वा० रा० कि० कां० स० ७।

जैसा सुग्रीव ने रामचन्द्र महाराज को हाथ जोड़कर कहा कि जो शोकाकुल रहते हैं उनको सुख नहीं होता और उनके तेज का भी नाश होजाता है इसलिये तुम सीता-वियोग का शोक मत करो क्योंकि शोकाकुल पुरुष के जीने में भी संशय है अर्थात् शोक करनेवाला शीघ्र मर जाता है इसलिए शोक नहीं करना चाहिये, इसी प्रकार क्रोध की भी व्यवस्था है। देखो हनुमान ने अपने-आपको कहा है कि: —

क्रुद्धः* पापं न कुर्य्यात्कः क्रुद्धो हन्यात् गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत् ॥ ४ ॥
वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित् ।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित् । ५
वा० रा० सुन्द० कां स० ५५ ।

---

*आत्मघातं गृहत्यागं धनहानिं सुहृद्वधम् । ज्ञानलोपकरः पुंसांकोपः कारयते न किम् ॥ पुरुषपरीक्षायाम् ।

ऐसा कौन मनुष्य है कि जो क्रोध में आकर पाप न करे, क्रोध आने पर पुरुष गुरु को भी मार डालता है, क्रोध से सज्जन पुरुष को भी दुर्वचन कह देते हैं, क्रोध आने पर मनुष्य एक प्रकार का पागल बन जाता है और अनेक वाच्यावाच्य कहने लगता है, जिससे विद्वेष फैल कर शारीरिक मानसिक तथा सामाजिक हानि होती है, अतः अनुचित क्रोध का त्याग करना योग्य है, एवंः—

लोभात्क्रोधः * प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ।२७।

हि० मित्र० १ ॥

लोभ से ही काम, क्रोध, मोह उत्पन्न होते हैं और लोभ से ही अपनी अनेक हानि होती हैं। यह लोभ ही पाप का मूल है, एवंः—

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् । ७ ।

भर्तृ० वै०।

मोह सुरा के सदृश ऐसा प्रमाद करानेवाला है कि जो मोह में फस जाता है वह उन्मत्त होजाता है। तथाः—

---

* लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च । द्वेषक्रोधादिजनको लोभः पापस्य कारणम् ॥ लोभात् क्रोधः प्रभवति, क्रोधाद् द्रोहः प्रवर्त्तते । द्रोहेण नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः ॥

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम् । लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम् ॥ भोज प्रबन्ध ।

संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ६३ भ० अ० २।

मोह से सब स्मृति नाश होजाने से मनुष्य में मनुष्यत्व नहीं रहता, इसलिए दुष्ट मोह का परित्याग करना योग्य है, इसी प्रकार अहङ्कारादि अन्य सब मन के रोगों से शरीर की हानि होती है। देखो—

ईर्ष्या भयक्रोधपरिक्षतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीड़ितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिणाममेति,

सुश्रु० सू० अ० ४६।

इसी प्रकार सुश्रुत शारीरस्थान अ० में भी लिखा है ईर्षा, भय, क्रोध, लोभ, रोग, दीनता, द्वेष इन सब से पुरुष को खाया हुआ अन्न ठीक नहीं पचता, अन्न के ठीक परिपक्व न होने से मनुष्य थोड़े ही दिन में संसार से विदा हो जाता है, इसलिये इन सब दुर्व्यसनों से तथा दुर्व्यसनजन्य आगन्तुक * रोगों से बच के अपनी पूर्ण आयु भोग करने का प्रयत्न करे, अरे, अनेक भोले मनुष्य यही जानते और मानते हैं कि आयु तो जितनी कपाल में लिख दी है उतनी ही होती है किन्तु घट बढ़ नहीं सकती परन्तु यह उनका कथन शास्त्रविरुद्ध और उनको हानिकारक है; क्योंकि आयु बढ़ाने से बढ़

---

*आनेवाले रोगों से बचने का उपाय चरक सूत्रस्थान अ० ८ तथा ११ में देखो, एवं सुश्रुतचिकि० स्था० अ० २४ में देखो।

सकती है घटाने से घट सकती है, देखो चरक में मृत्यु २ दो प्रकार का लिखा है एक तो अकाल मृत्यु और द्वितीय कालमृत्यु है जैसे:—

यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः । सर्व गुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षया, देवावसानं गच्छेत् ।

तथाऽऽयुः शरीरोपगतं प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणम् । स्वप्रमाणक्षयादेव अवसानं गच्छति स मृत्युः काले । यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्र भङ्गाद्वाह्यवाहकदोषादनिर्मोक्षात्पर्य्यसनादनुपाङ्गाच्चान्तरा व्यसनमापद्यते ।

तथाऽऽयुरप्ययथाबलमारम्भादयथाऽग्न्यभ्यवहरणाद्विषमाभ्यवहरणाद्विषमशरीरन्यासादति मैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहाद्विधार्य्य * वेगाविधार-

---

* इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च । साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम् ।। लोभशोकभयक्रोधमा नवेगान् विधारयेत् । परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च । वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम्—देहप्रवृत्तिर्या काचित् वर्त्तते परपीडया, स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्यावेगान् विधारयेत ॥ चर० सू० अ० ७ ।

णाद्ध भूतविषाग्न्युपतापादभिघातादाहारविवर्ज्जना-
च्चान्तरा व्यसनमापद्यते स मृत्युरकाले ॥ १ ॥

चर० वि० अ० ३।

जैसे एक गाड़ी का अच्छा धुरा यदि ठीक चला जाय तो जितनी उस धुरे की मज़बूती होगी उतने समय तक वह चलेगा फिर टूटेगा, इसी प्रकार आयु भी जैसी शरीर की मज़बूती है उस के अनुसार ही रहेगा और पुनः नाश होय तो यह काल-मृत्यु है, परन्तु जैसे वही गाड़ी का धुरा गाड़ी में अधिक भार लादने से वा ऊटपटाङ्ग मार्ग में चल के ऊँचे नीचे स्थान से अथवा चलानेवाले के प्रमाद से, मार्ग से इधर उधर गढ़े आदि में गिर पड़ने से तथा और प्रकार की जो उसकी सम्हाल रक्खी जाती है, वह न रखने से धुरा टूट जाता है ऐसे ही आयु भी शरीर के बल से बाहिर व्यवहार करने से व जितना भोजन जठराग्नि को अपेक्षित है उतना न मिलने से विषम कुभोजन व असमय पर भोजन के न करने से शरीर को विपरीत दशा में फसाने से अति मैथुन करने से, दुष्ट मनुष्य के संसर्ग से, पूर्वोक्त वेगों के रोकने से और जिन वेगों को धारण करना चाहिये उनके न धारण करने से, जलाग्नि वायु आदि से, किंवा मनुष्य पशु पक्षी आदि से तथा विषाग्नि के ताप से किसी पदार्थविशेष के आघात से और लंघन उपवास के करने आदि से जो मनुष्य की मृत्यु होजाती है, इसको अकाल

मृत्यु कहते हैं, यदि जिस प्रकार मनुष्य को संयम से रहने का वैद्यक ग्रन्थों में विधान किया है, उस प्रकार से रहै, किंवा योगाभ्यासादि करे तो मनुष्य की आयु अवश्य ही बढ़ै और इससे विपरीत बर्त्ताव करने से आयु न्यून होती है, आयु का न्यूनाधिक होना शरीर की प्रौढ़ता दृढ़ता व शरीर के मिथ्या आहार-विहारादि से बचाकर ठीक नियम में रखने पर निर्भर है, कपाल में आयु लिखने आदि की बातें सब मिथ्या हैं बस पूर्वोक्त रीति से भोजनादि करके पुनः आजीविका के लिये जितने समय की आवश्यकता हो उतने समय को आजीविका के अर्थ व्यय करे, तदनन्तर पुनः आवश्यक कार्य तथा भोजनादि को करके कुछ समय स्वसन्तान के रक्षण व शिक्षण के लिए लगावे पुनः कुछ समय सार्वजनिक देशहित के काम में लगावे फिर कुछ समय विश्रान्ति व मनोरञ्जन व्यायामादि में व्यय करै, पुनः कुछ गृहकार्य्यविशेष हो उसको करके सायंकाल का भोजन करै, तदनन्तर कुछ पुस्तकावलोकनादि कार्यों में प्रवृत्त होवे, तदनन्तर शयन करे, निद्रा का समय भी रात्रि के दस बजे के समीप ही होना चाहिये, निद्रा करने की आवश्यकता मनुष्य को इसलिये है कि दिन-भर कार्य करने से मनुष्य के ज्ञानजनक व क्रियाजनक तन्तु थक जाते हैं उनको विश्रान्ति देने के लिये शयन करना अत्यावश्यक है, यदि मनुष्य न सोये तो थोड़े ही दिनों में रोगग्रस्त होजांय,

इसलिये मनुष्य को अवश्य ही सोना चाहिये परन्तु मनुष्य ८ घण्टे से अधिक और ५ घण्टे से कम न सोवे। क्योंकि पूर्वोक्त समय से न्यूनाधिक सोने से भी बहुत से रोग उत्पन्न होते हैं जैसे:—

विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च। तत्प्रकोपाच्च काशश्वासप्रतिश्यायशिरो गौरवाङ्गमर्दाऽरोचकज्वराग्निदौर्बल्यानि भवन्ति ॥

रात्रावपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्तास्त एवोपद्रवा भवन्ति। तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ज्ञात्वा दोष करावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत् ॥ सु० शा० अ० ४।

दिन का सोना निश्चित विकार करता है और दिन में सोने में अधर्म व रक्तादि सर्व दोषों का प्रकोप भी होता है, और रक्तादि के प्रकोप (बिगड़ने) से खाँसी, श्वास, नाक से पानी का बहना और शिर भारी रहना, हस्तपादादि अङ्गों में पीड़ा होनी, किसी वस्तु पर रुचि न होनी शरीर में ज्वर (तप) का होना, जठराग्नि का मन्द होना इत्यादि अनेक रोग दिन के सोने से होते हैं। और जो रात्रि में जगते हैं उनके भी वही पूर्वोक्त व्याधियें उत्पन्न होती हैं, अतएव

पूर्वोक्त रोगों से बचने के लिए मनुष्य रात्रि में जागरण और दिवस में शयन कदापि न करें। रात्रि का जागना और दिन का सोना ये दोनों ही रोगों के करनेवाले हैं इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यों को नियम से शयन व जागरण करना चाहिये बहुत से निरुद्यमी मनुष्य दिन भर सोते रहते हैं और रात्रि में उल्लू की तरह इधर-उधर फिरा करते हैं, परन्तु बुद्धिमान् को ऐसा कदापि न करना चाहिए। हाँ, किसी निमित्त विशेष से पूर्वोक्त नियम के विरुद्ध करने से यदि शरीर आरोग्य होता हो तो करना उचित ही है, परन्तु निद्रा के व्यसन से दिन को सोने से अनेक हानियें होती हैं, यथा:-

अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता ।
सुखायुषी पराकुर्य्यात्कालरात्रिरिवापरा ॥५४॥

अष्टां० सू० अ० ७

बेवक्त सोने से, अधिक सोने से और सर्वथा न सोने से मनुष्य के सुख व आयु का नाश होता है। इसलिए:—

बुधः स्वाप्नं मितं चरेत् ॥

इस पूर्वोक्त सुश्रुत के वचन को ध्यान में रखकर युक्तिपूर्वक शयन जागरण करना चाहिये, यद्यपि शयन नाम सोने का है परन्तु यहाँ शयन शब्द से निद्रा का ग्रहण है जिसका लक्षण यह है कि—

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।
विषयेभ्यो निवर्त्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥

सुश्रुतटीकाडल्लनकृ० शा० अ० ४।

जिस समय में मन और इन्द्रियें अपने-अपने कार्य्य करते हुए थकित होकर विषयों से निवृत्त होते हैं उसका नाम निद्रा अवस्था है, एवं योगशास्त्र में भी लिखा है:—

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा । १० यो० पा० १

इन्द्रियादि के द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान न होना यही निद्रा का स्वरूप है । निद्रा के समय पर निद्रा को करने से मनुष्य नीरोग रहता है, अतः युक्तिपूर्वक निद्रा का सेवन किया करें । हम पूर्व लिख आये हैं, कि मनुष्य का तृतीय कर्त्तव्य अपत्यसंगोपन है (अपने लड़के लड़किओं का पालन करना) उस अपत्यसंगोपन का प्रारम्भ गर्भाधान * से ही होता है क्योंकि जिस वृक्ष का बीज अच्छा न हो व भूमि अच्छी कमाई हुई न होय, व बोने की रीति को बोनेवाला न जानता हो तथा वह रीति जानने पर भी किसी निमित्त-विशेष से उस रीति के विरुद्ध बीज को बोये अथवा जिस समय में बीज बोना चाहिये उस समय में बीज न बोये एवं बीज बोने के पश्चात् रक्षा न करने आदि से वह वृक्ष

* शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः । प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ॥ १ ॥ सु० शारी० अ० ४

उत्तम नहीं होता। जब वृक्ष उत्पत्ति से ही बिगड़ा हुआ है, तो पुनः रक्षा करनेवाला उसकी कितनी ही रक्षा क्यों न करे, परन्तु वह वृक्ष उत्तम फलदायक नहीं हो सकता। ऐसे ही यदि गर्भाधान से ही अपत्य का संगोपन न किया जाय तो उसका संगोपन (रक्षण) नहीं हो सकता। इस कारण से प्रथम मनुष्यों को गर्भाधानसंस्कार के योग्य दम्पति का वय अवश्य जानना चाहिये, गर्भाधान संस्कार का वय कम-से-कम स्त्री-पुरुषों के लिये यह है कि:—

पञ्चविंशे * ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोड़शे,
समत्वागतवीर्यौं तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ।१

सुश्रु० सू० अ० ३५

पुरुष पच्चीस वर्ष का हो और सोलह वर्ष की स्त्री हो इस अवस्था में दोनों का वीर्य्य पक्व होने से इसी समय में उक्त संस्कार योग्य स्त्री पुरुष होते हैं।

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते।
जातो या न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥२॥

सुश्रु० शा० अ० १०।

---

* वर्षेऽथ पञ्चविंशे नरः समन्वितबलः षोड़शे नारी ॥ सु० टी० डल्लन कृ०।

सोलह वर्ष से पूर्व स्त्री का और पच्चीस वर्ष से पूर्व पुरुष का वीर्य्य अपक्क होने से गर्भाधान न करे। यदि अज्ञानवशात् करेंगे, तो यही दशा होगी कि वह गर्भ गिर जायगा यदि दैवसंयोग से गर्भ न गिरा तो वह सन्तान होते ही मर जायगा, यदि कुछ काल जीता भी रहा तो वह दुर्बलेन्द्रिय होगा इस कारण से धन्वन्तरिजी कहते हैं कि सोलह वर्ष से न्यून अवस्था की स्त्री और २५ वर्ष से न्यूनावस्था का पुरुष गर्भाधान करने के योग्य नहीं होते इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह में भी लिखा है कि:—

तस्यां षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिवर्षः पुरुषःपुत्रार्थं प्रयतेत तदा हि तौ प्राप्तवीर्यौ वीर्य्यान्वितमपत्यं जनयतः। ऊनपञ्चविंशतिवर्षेणोनषोडशवर्षायामाहितो गर्भः कुक्षिस्थएव विनाशमाप्नुयादल्पायुर्बलारोग्यविभवोया स्याद्विकलेन्द्रियो वा। अष्टाङ्गसंग्रह शारीरस्थान अ १

सोलह वर्ष की स्त्री और पच्चीस वर्ष का पुरुष पुत्र के लिये यत्न करें वे दोनों वीर्यवान् होने से उनसे उत्पन्न हुआ सन्तान भी वीर्यवान् होता है और यदि सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री और २५ वर्ष से कम अवस्था के पुरुष गर्भाधान में प्रवृत्त होंगे तो गर्भ गिर पड़ेगा यदि सन्तान हो भी गया तो अल्पायु, दुर्बलेन्द्रिय, निर्बल और

विभवरहित होगा, अतः सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री और पच्चीस वर्ष से न्यूनावस्था का पुरुष उक्त क्रिया में प्रवृत्त न होवें, जो कच्चा बीज हो और बुरी पृथ्वी में लगाया जाय तो उस से बुरा वृक्ष और बुरा ही फल होता है ऐसे ही न्यूनावस्था की स्त्रीरूप भूमि में न्यूनावस्था के पुरुष के अपक्व (वीर्य) रूप बीज से जो बालक रूप वृक्ष होता है उसका फल भी बहुत ही बुरा संसार को हानि-कारक होता है, इसलिये इन धन्वन्तरी आदि महानुभावों के वचन से विरुद्ध वर्त्ताव करने से वर्त्तमान समय में जो इस मनुष्यजाति की दशा हो रही है उसको देखिये। प्रतिशतक (फ़ी सैकड़ा) दस व वीस स्त्रियों का गर्भ न गिरता होगा, शेष स्त्रियों की यही दशा है, गर्भ गिरने से स्त्री का शरीर बिगड़ जाता है, तथा अनेक स्त्रियें इस न्यूनावस्था में गर्भ धारण करने से मर जाती हैं, अनेक आजन्म रोगी हो जाती हैं, इसका परिणाम इस से भी अधिक भयङ्कर यह होता है कि जो उन से सन्तान होती है वह भी रोगी और अल्पायु दरिद्र और अनेक कुलक्षणयुक्त होती है। इतना ही नहीं किन्तु इस कुसमय के गर्भाधान से मनुष्य जाति ही बिगड़ती चली जाती है यदि विचार से देखिये तो स्त्रियें-एक मनुष्यजाति का (मूष)साँचा है। जितना बड़ा और जिस प्रकार का साँचा होगा उतना ही बड़ा और उसी प्रकार का ढला हुआ पदार्थ भी होगा। सोलह वर्ष से न्यून अव-

स्था में स्त्री का गर्भाशय* छोटा होने के कारण उसमें उत्पन्न होनेवाली सन्तति बड़े शरीर की कैसे हो सकती है? इसी से छोटी (अवस्था के गर्भाधान से छोटे) क़द के मनुष्य होते हैं यदि स्त्री बड़ी और पुरुष छोटा होगा तो भी संतति निकृष्ट होगी और:—

अतिबालो ह्यसम्पूर्णसर्वधातुः स्त्रियो व्रजन्।
उपतप्येत सहसा तड़ागमिव काजलम् ॥

चरक चि० अ० २

पुरुष का वीर्य्य अधिक क्षय होकर उसका शरीर थोड़े जल के तालाब के सदृश सूख जायगा और यदि स्त्री छोटी और पुरुष बड़ा होगा तो भी सन्तति निकृष्ट और स्त्री को हानिकारक होगी जैसा चरक ने लिखा है:—

मैथुनादतिबालायाः पृष्ठजङ्घोरुवङ्क्षणम्।
रुजयन्दूषयेद्योनिं वायुः प्राक्चरणात्तु सा ॥

चर० चि० अ० ३०।

सोलह वर्ष से न्यून अवस्था की स्त्री पूर्वोक्त क्रिया में प्रवृत्त होय तो उस स्त्री के पीठ, जङ्घा आदि अवयव रोग-

---

* पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता। शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुद्धेऽनिले हृदि ॥ ८ ॥ वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः। रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥ ६ ॥ अष्टांगाहृदय शारीरस्थान अ० १।

युक्त होजाते हैं और उसका गुह्यस्थान दूषित होकर स्त्री के शरीर की सर्वथा हानि होती है और प्रसूत के समय में स्त्री को बड़ा दुःख होता है अनेक रोग होजाते हैं और अनेक रोग होजाते हैं और इसी दुःख से अनेक विचारी अबलाओं के प्राणहरण भी होते हैं इसी लिये १६ वर्ष से न्यूनावस्था को स्त्री उक्त कार्य में प्रवृत्त न होवे इस विषय में संसोर भर के वैद्य, डाक्टर और हकीमों ने तजरबा (अनुभव) करके यह सिद्ध किया है कि यदि सोलह वर्ष की अवस्था के उपरान्त स्त्री के सन्तति होगी तो पूर्वोक्त रोग नहीं होंगे। न्यूनावस्था में जिन स्त्रियों का ब्रह्मचर्य्य नष्ट होजाता है वे हो स्त्रियें व्यभिचारिणी और बन्ध्यायें होती हैं, इस लिये बालिका स्त्री से सम्बन्ध न करे, एवं वृक्ष के अपक्व बीज के दृष्टान्त से स्त्री-पुरुष के अपक्व रज-वीर्य से भी सन्तति महा अधम और पूर्वोक्त दूषणयुक्त होती है इसलिये बाल्यावस्था* में स्त्री-पुरुष गर्भाधान-संस्कार से सर्वथा बचे रहें—कोई ऐसा न समझ ले कि बाल्यावस्था

---

* वयस्तु त्रिविधं बाल्यं मध्यं वृद्धमिति तत्रो न षोडशवर्षा बालास्तेऽपि त्रिविधाः क्षीरपाः क्षीरान्नादाः अन्नादा इति तेषु संवत्सरपराः क्षीरपा द्विसंवत्सराः क्षीरान्नादाः परतोऽन्नादा इति, षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयस्तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति, तत्रा विंशतेर्वृद्धिरा त्रिंशतो यौवनमाचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसम्पूर्णता अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत्-सप्ततिरिति, सुश्रु० सू० अ० ३५ ।

की स्त्री से संसर्ग करने का निषेध केवल वैद्यक ग्रन्थों में ही किया है, किन्तु अन्य ग्रन्थों में भी है देखो:—

न्यूने वै रेतः सिक्तं मध्यम स्त्रियं प्राप्यस्थविष्ठं भवति ९ ऐ० ब्रा० पं० ६ अ० २

पुरुष से छोटी और तरुणावस्था की स्त्री में गर्भाधान करने से जो बालक उत्पन्न होता है वही बालक (स्थाविष्ठ) अर्थात् हृष्ट-पुष्ट और दीर्घजीवी होता है, ऐसे ही गोपथ में भी लिखा है कि—

आसां प्रथमे वयसि रेतः सिक्तं न सम्भवति मध्यमे वयसि रेतः सिक्तं सम्भवति ॥ ९ ॥

गो० ब्रा० पू० प्र० ३ ।

स्त्रियों की प्रथम व्यय अर्थात् छोटी अवस्था में बीज प्रजोत्पत्ति करने में सामर्थ्य नहीं होती और स्त्रियों की मध्यम वयस् अर्थात् युवावस्था में वपन किया हुआ बीज सन्तानोत्पत्ति करने में सकर्म होता है इन वाक्यों से यह बात सिद्ध हुई है कि तरुणावस्था में ही स्त्री-पुरुष सन्तानोत्पत्ति के योग होने से उक्त समय में ही एतत्कार्य्य करें* एवं प्रयोजन

---

*गोभिलीय गृह्यसूत्र व कात्यायन स्मृति में लिखा है कि— नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत् ॥३॥ गोभिलीय गृह्य सू० प्रपा० ३ कां० ४ ।

जब तक स्त्री युवावस्था को प्राप्त ना हो तब तक उससे समागम न करे, एवम्—

यह है कि जब स्त्री कम-से कम ३६ बार स्त्री-धर्म को प्राप्त होकर स्त्री-धर्म द्वारा उष्ण रज निकल जाने पर जो सन्तति होती है, उस सन्तति के शीतला चेचकादि अनेक प्रबल रोग नहीं होते, प्रजोत्पत्ति विषय को सुश्रुत शारीरस्थान अ० २ में व सू० अ० १४ में देख लो, जो माली (वृक्षवपन) वृक्ष लगाने की विद्या को जानता है वही ठीक वृक्ष को लगा सकता है ऐसे ही मनुष्यरूप वृक्ष के बोने की विद्या भी मनुष्यों को अवश्य आनी चाहिये। जो मनुष्य इस रीति को नहीं जानते वे इस कार्य्य के अधिकारी नहीं हैं, इसलिये चरक शारीरस्थान अ० २ में ऐसे* पुरुषों को व स्त्रियों को एतत्कार्य्य से रोका है वहाँ देख लो, तथा चरक शारीरस्थान अ० ८ में भी है, इस विषय में श्री कृष्णचन्द्र जी ने युधिष्ठिर से कहा है कि:—

यं गङ्गा गर्भविधिना धारयामास पार्थिवम् ॥१६॥

भा० शा० प० अ० ४६।

जिस भीष्मपिता को गङ्गा ने गर्भाधानसंस्कार की रीति

अजातव्यञ्जनालोम्नी न तया सह संविशेत् ॥ ४ ॥ कात्यायन स्मृ० खं० २७।

जब तक युवावस्था के चिन्ह न हों तब तक उस स्त्री से समागम न करे—

*मन्दाल्पबीजावबलावहर्षौ क्लीबौ च हेतुर्विकृतिद्वयस्य ॥ च० शा० अ० २।

से ही धारण किया इत्यादि। देखिये गर्भाधान की विधि से गर्भाधान करने से कैसे-कैसे जितेन्द्रिय शूर-वीर धर्मात्मा पुरुष होते थे और गर्भाधान-संस्कार की रीति से विरुद्ध गर्भाधान करने से आज-कल के अनेक मनुष्य दुराचारी, व्यभिचारी, अनेक नारि, अब्रह्मचारी, भिखारी, परधनहारी, दुर्गुणकारी, अविचारी, मांसाहारी, अनारी पशुओं के भी पशु होते हैं जिससे कि प्रतिदिन संसार की हानि होती जाती है अतः सब संस्कारविधि के अनुसार विधिपूर्वक करने चाहियें, पूर्वोक्त क्रिया के पूर्व और पश्चात् उभय स्त्री-पुरुष सुन्दर और उत्तमोत्तम भोजन करें क्योंकि सुश्रुत में लिखा है कि:—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः सु० शा० अ० २

स्त्री-पुरुषों का जैसा आहार, आचार व चेष्टा होगी वैसा ही उनके सन्तान भी होगी, इस हेतु से गर्भाधान करने से प्रथम ही दिव्य-पुरुष अपने आहारादि की व्यवस्था ठीक करें और यह वार्त्ता भी ध्यान में रक्खें कि पुरुष व्यर्थ कुचेष्टा न करे। यदि ऐसा करेगा तो सन्तान निर्बल और ऐसा न करने से बलिष्ठतादि अनेक गुणयुक्त होगी अस्तु गर्भास्थापनानन्तर स्त्री-पुरुष दोनों ही पशुधर्म न करें क्योंकि गर्भधर्त्ता, धारयिता और गर्भ इन तीनों की हानि होती है, देखो चरकः—

भर्ता न च मिश्रीभावमापद्येयाताम् चर० शा० अ० ८।

एवं जब से स्त्री गर्भिणी हो, तब से उसको ऐसा वर्त्ताव करना चाहिये जैसा सुश्रुत में लिखा है कि:—

तदा* प्रभृत्येव व्यायामं व्यवायमपतर्पणमतिकर्षणं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानावरोहणं भयमुत्कुटकासनं चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणञ्च न सेवेत ।सुश्रु० शा० अ०३।

जिस दिन से स्त्री गर्भवती होवे उसी दिवस से निम्नलिखित वस्तुओं का सेवन न करे। शरीरसे अधिक श्रम,कुचेष्टा कदन्न व कोयला मट्टी आदि व मिरची आदि अति तीक्ष्ण व अति उष्ण वस्तु का भोजन, दिन में सोना, रात्रि में जागना, शोक (सोच) करना, बुरी सवारी पर चढ़ना, भयभीत होना, पर्वत वृक्ष, उच्चस्थान आदिपर चढ़ बैठना प्रतिदिन तेल आदि से शरीर मर्दन करना, समय के बिना रुधिर का गिराना, मल मूत्रादि का निरोध करना इत्यादि, यदि गर्भिणी प्रमाद से व अज्ञानता से पूर्वोक्त कार्य्यों को करे तो:—

गर्भो म्रियते अन्तः कुक्षेर्वा अकाले स्रंसते शोषी भवति वा

च० शा० अ० ८।

---

*यह विषय चरक शारीरस्थान अ० ८ में देखो।

गर्भ का मर जाना, गर्भ का गिर जाना, व गर्भिणी के सोजा आ जाना अनेक हानियें होती हैं, एवम्—

विवृतशायिनी नक्तञ्चारिणी चोन्मत्तं जनयत्यपस्मारिणं पुनः कलिकलहशीला विवायशीला दुर्धपुषमहीकं स्त्रैणं वा शोकनित्या भीतमपिचतमल्पायुषं वा अभिध्यात्री परोपतापिनमीर्ष्युं स्त्रैणं वा स्तेनान्वायासबहुलमतिद्रोहिणमकर्मशीलं वा अमर्षणा चण्डमौपधिकमसूयकं वा स्वप्ननित्या तन्द्रालुमबुधं अल्पाग्निं वा मद्यनित्या पिपासालुमनवस्थितम्वेत्यादि ॥१॥

चर० शा० अ० ८।

नित्य दिन को पसरकर (चित्त) सोनेवाली व रात्रि को घूमनेवाली के पागल और अपस्मार रोगवाली सन्तान होती है, लड़ाई, विवाद व पशुधर्म प्रिया से दुर्बल निर्लज्ज और (स्त्रैण) स्त्री के आधीन रहनेवाला, सोच करनेवाली से डरपोक, दुर्बल और अल्पायु सन्तति होती है, भोगार्थ पुरुष व धनादि पदार्थों को अधिक आकांक्षा व चिन्तवन करनेवाली से दूसरों को दुःख देनेवाली व ईर्षा करनेवाली व स्त्रैण सन्तति होती है, चोरी करनेवाली से आलसी, कुकर्मी या द्रोही सन्तान होती है, क्रोधयुक्ता स्त्री से क्रोधी व छली और निन्दक सन्तान होती है, अधिक सोनेवाली से (तन्द्रालु) बैठी-बैठी झपकियाँ खानेवाली व मूर्ख

मन्दाग्निवाली सन्तान होती है, मद्य पीनेवाली से अधिक प्यासवाला व गाफ़िल सन्तान होती है, इसी प्रकार इस अध्याय में बहुत कुछ लिखा है। प्रयोजन यह है कि गर्भवती स्त्री का जैसा आचरण, जैसे उसके मन के संकल्प-विकल्प होंगे वैसी* ही उसकी सन्तति होगी और उसके आचरणादि भी वैसे ही होंगे। इस हेतु से स्त्रियों को प्रथम से ही उत्तमोत्तम शिक्षायें मिलनी चाहियें ताकि बुरे आचरण व दुष्ट सङ्कल्प उत्पन्न न हों तथा स्त्री जब गर्भवती हो तब बहुत करके इस वार्त्ता को ध्यान में रक्खे कि वह बुरी बातें न सुनने पावे उसको किसी प्रकार शोक, मोह, लोभ, ईर्षादि उपद्रव न होने पावें:—

प्रियहिताभ्यां गर्भिणीं विशेषेणोपचरन्ति कुशलाः ॥

च० शा० अ० ४।

उस गर्भिणी को सर्वदा प्रसन्न रक्खे और गर्भिणी हानिकारक, कटु, कषाय, तिक्त, अत्युष्णाम्ल, अतिक्षार, रूक्ष, दाहक, अतिगरु, भोजनादि का परित्याग करे, यदि खटाई आदि खाय तो अनार, नीबू, नमक सेंधा,

* जिस समय में गर्भवती स्त्री होती है, उस समय में जैसी कुछ माता की दशा होती है, वैसी ही बालक की दशा आजन्म रहती है, यह वार्ता सिद्ध होचुकी है। फ्रान्स पर जर्मनी ने चढ़ाई करके फ्रान्स को जीता उस समय की गर्भिणी स्त्रियों के चित्त में भय ही बना रहता था, इसलिये उस समय के बालक सब के सब भयभीत (डरपोक) हुए, देखो तवारीख़ यूरोप की।

श्याम मिरच, एवम् अन्यान्य पदार्थों को भी जान लो, अजीर्ण न होने पावे, जल भोजन के साथ न पीवे और पीवे तो थोड़ा पीवे और भोजन करके शीघ्र जल न पीवे और जैसा कि पूर्व सर्व साधारण के लिये जल लिख आये हैं वैसा शुद्धोदक पिये, भोजन करके शीघ्र ही कार्य करने में प्रवृत्त न होवे, मिताहार करे, प्रातःकाल उठते ही जो मचलावे तो खाट पर से उठने के पूर्व ही उष्ण किया हुआ गुनगुना दूध पीले। फिर जी न मचलावेगा।

सा* यद्यदिच्छेत्तत्तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघात-करेभ्योभावेभ्यः। चर० शा० अ० ४।

गर्भघातक पदार्थों को छोड़कर* वह गर्भिणी जैसे-जैसे खान पानादि की इच्छा करे वह पदार्थ उसको देवे, वे पदार्थ ये हैं:—

मृदु मधुर शिशिर सुख सुकुमार प्रायैरौषधाहारो-पचारुरैपचरेत। चर० शा० अ० ८।

नरम, मीठा, शीतल, सुखप्रद, कोमल ऐसे औषधि भोजन गर्भिणी को देने चाहियें जो कि परिणाम में थोड़े

---

*जिस चीज़ पर गर्भिणी की बहुत इच्छा हो वह चीज़ गर्भ को हानिकारक हो तोभी थोड़ी-सी उसको अवश्य दे दे क्योंकि वांछित पदार्थ न देने से गर्भ बिगड़ जाता है, देखो च० शा० अ० ४।

हों और शीघ्र पाचन होजायें और पुष्टिकारक हों, जैसा सुश्रुत में लिखा है कि:--

हृद्यं द्रवं मधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयं संस्कृतञ्च भोजनं भोजयेत् सामान्यमतदाप्रसवात्। सुश्रु० शा० अ० १०।

गर्भवती स्त्री को ऐसा भोजन करना चाहिये, जो प्रिय हो, व पतला, नरम, मिष्ट, प्रायः सचिक्कन क्रान्तिकारक तथा शुद्ध पका हुआ हो यह भोजन जब तक प्रसूता न हो, तब तक बराबर खूब चबाकर खाया करे, प्रतिमास के पृथक् पृथक् भोजन भी सुश्रुत शारीरस्थान अ० १० व चरक शारीरस्थान अ० ८ में देखो, एवं इसके वस्त्र शय्यासनादि सब शुद्ध, पवित्र और मनोहर उत्तमोत्तम रखने चाहियें। तथा वस्त्र गीला, मलीन और कसके न पहिनें, एव कब्ज़ (मलनिरोध) न होने दे, गर्भिणी को कब्ज़ी बहुधा होती है इसका उपाय न करने से गर्भसहित गर्भिणी को हानि पहुँचती है, इसलिये कब्ज़ न होने दे, कब्ज़ दूर करने की दवा यह है कि गर्भिणी एरण्ड ककड़ी खाये तो इससे कोठा शुद्ध हो जायगा वा एरण्डी का तेल छटाँक भर छटाँक गर्म दूध के साथ पी लेवे इससे कोठा साफ़ हो जायगा और इससे शरीर की कुछ क्षति नहीं होगी, एवं मूत्र भी बन्द होजाता है। उसको ठण्डे जल वा वार्लिवाटर से (जव का पानी) वा दुग्ध जल मिलाकर यथावश्यक पीले, वा अन्यान्य मूत्रद्रावक औषधियों से मूत्राशय को भी अवश्य शुद्ध

रक्खे, एवं रोग होने पर तीक्ष्ण ओषधि को छोड़कर मृदु ओषधि अवश्य देवे, कुछ थोड़ा-सा श्रम अवश्य करती रहे, अन्न पाचनादि ठीक-ठीक हो परन्तु अधिक व्यायाम न करे जो कि पूर्व लिख आये हैं, एवं शीत से बचे, पसीना शरीर से निकले ऐसा साधन करे, पसीने के निकलने से बहुत लाभ है, पसीना गरम ऊनी वस्त्रादि पहिनने से आ जाता है, गर्भिणी के नीरोग रहने से बालक नीरोग तथा बलवान् होता है. अतः गर्भिणी जिस प्रकार नीरोग रह सके, वह-वह उपाय अवश्य करे, यदि पेट ढीला होय तो नारियर के तेल से मालिश करे और नरम कपड़ा बाँध दे, अकेली न जावे, भयस्थान में न जाय, भय होने से हानि है, रोगी मनुष्यों के समीप न जाय* धर्म्म होने के प्रतिमास के समय में युक्ति वर्त्ताव करे, उस समय गर्भ गिर जाने का अधिक सम्भव है, प्रदर रोग से बचने का पूरा-पूरा उपाय करे गर्भ स्थापन होने से तीन मास तक गर्भ गिरने का अधिक भय है इससे युक्ताहार† विहार से रहे, हमारे इस देश में सूतिकागृह के अपराध से बहुत-से शिशुओं की मृत्यु होजाती

*प्रसूता होते समय प्रसूता को गर्भिणी न देखे क्योंकि उस प्रसव के दुःख को देखकर घबरा जाने से गर्भिणी को भी स्वप्रसव समय दुःख होता है।

† तस्मादहिताहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ति स्त्री विशेषेण वर्जयेत्। साध्वाचारा चात्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्याम्॥ च० शा० अ० ८।

है। जिस समय में गर्भवती प्रसूता होती है, उसी समय में एक स्थान लीप-पोतकर उसमें प्रसूता को रखते हैं परन्तु इससे प्रसूता को बहुत हानि होती है; क्योंकि माता के उदर की तीव्र उष्णता से निकला हुआ बालक एक-साथ ऐसे शीत को नहीं सह सकने से रोगी होजाता है वा मर जाता है। अतः इसके दुःख से बचने के लिये चरक के सिद्धान्तानुकूल बर्ताव करना चाहिये, तद्यथाः—

प्राक् चैवास्या नवमान्मासात् सूतिकागारं कारयेत अपहृतास्थिशर्कराकालदेशप्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ प्राग्द्वारमुग्दग्द्वारं वा ॥ च० शा० अ० ८।

गर्भिणी के नवें महीने से प्रथम ही सूतिकागार अर्थात् जच्चा के रहने का मकान बनाना चाहिये और वह स्थान ऐसी भूमि में बनावे कि जिसमें हड्डी व कंकर पत्थर न होवें और जिसमें सब ऋतु अच्छी रहें अर्थात जिसमें शीत उष्णादि से बाधा न होवे और जिसकी ऊँची-नीची ज़मीन न होवे, देखने में मनोहर होवे, दुर्गन्धि आदि दोषों से रहित जिसके समीप भी दुर्गन्धि न हो और चौतरफ़ मैदान हो, ऐसी भूमि में वह गृह होना उचित है। जिसका पूर्व उत्तर की ओर द्वार (दरवाज़ा) हो, वह अनुमान बारह तेरह हस्त लम्बा व ६ सात हस्त चौड़ा हो, प्रसूता होने के बहुत काल पूर्व से उसको लीप-पोत कर सुन्दर शृङ्गारित

कर रक्खे; क्योंकि तुरत का लीपा हुआ स्थान गीला रहता है, अतएव उसमें शीत दुर्गन्धि आदि अनेक दोष होने से प्रसूता व बालक को अनेक रोग हो जाते हैं उससे कितने प्रसूता व बालकों के प्राण भी चले जाते हैं इसलिये इस गृहादि सर्व पदार्थों का सम्यक् प्रबन्ध करे, एवं बालक होने पर:—

अनेन विधिना अध्यर्द्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहारा-चारा विगतसूतका विधाना स्यात् सुश्रु० शा० अ० १०

तथा उद्ध्वर्श्चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं परिहारयेत् ॥१॥

१॥ डेढ़ मास तक और विशेषत: ४ मास तक नियमानुसार प्रसूता की अच्छी प्रकार से रक्षा करो, एवं प्रसूता नियमानुसार ही वर्त्ताव करे जिससे कि प्रसूता का शरीर न बिगड़ने पावे, एवं १० दिन के बाद क्रमशः प्रसूता को पौष्टिक पदार्थ खिलावे जिससे उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ हो जाय, यदि इस विषय को अधिक जानने की इच्छा हो तो वैद्यक डॉक्टरी के ग्रन्थों द्वारा वैद्य-डॉक्टरों से जानिये, यदि माता रोगी हो वा उसके स्तनों में दूध न हो तो बालक को धात्री के समीप रक्खे, वह धाय ऐसी होनी चाहिये कि:—

समानवर्णां यौवनस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसना मविरूपामविजुगुप्सामजुगुप्सितदेशजातेयामक्षुद्रामक्षुद्र-

कर्ममणां कुले जातां वत्सलां जीवितवत्सां पुंवत्सां दोग्ध्रीमप्रमत्तामशायनीं कुशलोपचारां शुचिमशुचिद्वेषणीं स्तनस्तन्यसम्पदुपेतामिति॥ चर० शा० अ० ८

जो लड़के के सदृश (वर्ण) रङ्गवाली, युवावस्था वाली रोगरहित हो (हीनाङ्गी) लूली लँगड़ी न हो, अव्यसन वाली अफ़ीम मद्य तमाखू आदि किंवा व्यभिचारादि व्यसनों से रहित हो, कुरूपा न हो, निन्दित न हो, ख़राब देश की न हो, नीच, कृपण, दरिद्रा, क्रूर न हो, कूर कर्म से रहित हो; कुलीन हो, बालक से प्रीति करने वाली, जिसके लड़का हुए को थोड़े ही दिन हुए हों और वह पुत्र जीता हो, दुग्ध जिसके अधिक हो, (अप्रमादिनी) गाफिल न हो, बहुत सोनेवाली न हो, जो सब बातों में चतुर (होशियार) हो अर्थात् बालक को पालन करने में व सामान्यतः उसके ओषधि आदि करने में, उसको खिलाने पिलाने में व उसको प्रसन्न रखने आदि में निपुण हो, जो शुद्धता से प्रीति और मलीनता से वैर रखनेवाली हो, जिसके स्तन लम्बे दुबले बहुत मोटे बुरे न हों, जिसका दुग्ध बहुत उत्तम सब रोगों से रहित हो, जैसेः—

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सुन्स्तमेकीभावं गच्छतेफेनिलमतन्तु मन्नोत्प्लवते न सीदति वातच्छुद्धमिति विद्यात् ॥

सु० शा० अ० १०।

दूध को जल में डालकर इस रीति से परीक्षा करे कि जिस स्त्री (धायी) का दूध जल में डाला हुआ शीतल (ठण्डा) रहे जो जल में डालने से मलिन दुर्गन्धित न हो, जल में डालने से जिसका रँग न बदले अर्थात् जो काला पीला आदि न हो, जल में डालने से जिसका स्वरूप शङ्ख के समान (शुक्ल) सफ़ेद रहे, जो जल में एकरूप होजाय, जिसमें झाग न आवें, जिसमें धागे धागे से न हों, जो न तो जल के ऊपर तरे न जल के नीचे बैठ जाय इस प्रकार का दूध होना चाहिए, जो उपरोक्त गुणयुक्त धायी हो वह युक्ताहार-विहारादि से उत्तम नियम में रहे क्योंकि यदि वह नियम से विपरीत वर्त्ताव करे तो बालक को अनेक रोग होजाते हैं देखो:—

धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा ।
दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततस्तन्यं प्रदुष्यति ॥
मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः ।
दूषयन्ति पयस्तेन शरीरंव्याधयः शिशोः ॥

सु० शा० अ० १० ।

जब धायी (गुरु) भारी, कठोर व विषम अर्थात् देश-काल प्रकृति के विरुद्ध दोषयुक्त भोजन करती है तब उसके शरीर में रोग उत्पन्न होकर दूध को बिगाड़ देते हैं और मिथ्याहार विहार से बिगड़े हुए धायी के दूध के पीने से

(शिशु) बालक को अनेक रोग हो जाते हैं, किम्बहुना बदपजरहेज़ी धायी के मिथ्या आहार-विहार से अनेक बालक मर जाते हैं। बालक को जो कुछ रोगादिक होते हैं बहुधा वे सब धायी के प्रमाद से होते हैं, अतः धायी को बहुत युक्ति से रहना चाहिए, एवं धायी उस बालक को कुमारागार में रक्खे। वह कुमारागार इस प्रकार का होना योग्य है, जैसा चरक में लिखा है कि:—

वास्तु विद्याकुशलं प्रशस्तं रम्यतमस्कं निवातं प्रवातैक-देशं दृढमपगतपशुदंष्ट्रिमूषिकापतङ्गं सुसंविभक्तस-लिलोलूखलवर्चस्कस्थानस्नानभूमिं महानसमृतुसुखं यथर्त्तुशयनाशनास्तरणसम्पन्नं सुविहितरक्षाविधान-बलिमंगलहोमप्रायश्चित्तंशुचिवृद्धवैद्यानुरक्तजनसम्पूर्ण-मिति। चरक शारी० अ० ८।

निवास करने के योग्य भूमि के जाननेवाले कारीगरों (शिल्पियों) का बनाया हुआ प्रशस्त उत्तम सुविस्तृत गृह हो जिसमें क्रीड़ा के साधन अर्थात् खेलने-कूदने की चीज़ें भी हों, तथा वह स्थान मनोहर हो, जिसमें वायु के झोंके न लगते हों किन्तु खिड़कियों से वायु आता हो, तथा वह गृह बड़ा (दृढ़) मज़बूत हो, जिसमें पशु, सर्प, बिच्छू, मूषे, पतंग, कीड़े आदि दुष्ट जन्तु न हों, जिसमें खेलने, बैठने, सोने, पढ़ने, लिखने, जल रखने, औषध रखने,

औषध बनाने, स्नान करने व (वर्चस्क) पाखाना, रसोई आदि के स्थान पृथक्-पृथक् हों और पुष्पवाटिकादि भी जिसमें हों, जो सब ऋतुओं में सुखदायक हो, जिसमें किसी प्रकार का भय न हो और हवन सन्ध्योपासनादि का स्थान भी अलग बना हो, उसमें वृद्ध वैद्य होशियार डाक्टर आदि भी रखना चाहिये, ये संक्षेप से कुमारागार का वर्णन् किया, ऐसे कुमारागार में धायी के सहित उस बालक को रक्खे। यदि धायी न रख सके और ऐसा गृह न हो सके तो स्वगृह और माता तो है ही, अस्तु माता का दुग्ध बालक को बहुत गुणकारक है, इसलिये माता ही दुग्ध पिलावे, माता के दुग्ध न होने पर धायी की आवश्यकता है; क्योंकि माता के समान धायी का दुग्ध बालक को कदापि गुणकारक नहीं हो सकता, माता के दूध पिलाने से बालक का पोषण भी होगा और उससे उसको (मलोत्सर्ग) दस्त भी आ जावेगा, यदि उससे दस्त न आवे तो ३ तीन माशे एरण्ड का शुद्ध किया हुआ तेल शहद में मिलाकर डेढ़ दो घण्टे के पश्चात् दे, इससे दस्त* आ जावेगा, जिस दिन बालक उत्पन्न हुआ है उस दिन यदि उसको दस्त न आवे तो उसको तसंज का रोग होता है, इस रोग में बालक का शरीर अकड़ जाता है। सब शरीर में बाँयटे चलकर

* जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाय वैसे-वैसे एरण्ड के तेल को अधिक युक्ति से यथोचित बढ़ाते जाना उचित है।

नाड़ियें खिंचकर हाथ-पैर सुकड़कर बालक (ऐंठ) अकड़ जाता है उसको अठराए का रोग भी कहते हैं, इस रोग से बालक को बचाने के अर्थ दस्त का कराना आवश्यक है। साफ़ दस्त होने से बालक ऐसे-ऐसे अनेक रोगों से बच जाता है, अतः पूर्वोक्त औषधि से बालक को दस्त (विरेचन) अवश्य करा देवे। इस औषधि से नवप्रसूता शिशु की कुछ भी हानि नहीं होती। बालक के दस्त साफ़ आने की आवश्यकता सर्वदा है, इसलिये जब ४ घण्टों में दस्त न आये तो एरण्डी का तेल शहद मिला हुआ अवश्य ही दे देवे वा सेंधा लूण और बड़ी हरड़ें घिसकर अग्नि पर गुनगुना करके दे दे, इससे भी दस्त आ जायेगा, धायी व मायी के दुग्ध के सिवाय और दूध बालक को हानिकारक है, अतः जहाँ तक हो सके दूसरा दूध न देवे। यदि दूसरा दूध देवे तो गौ के ताज़े दूध में तीसरा हिस्सा ताज़ा जल मिलाकर थोड़ा बूरा डालकर देवे। वैद्यकशास्त्र न जाननेवालों के सम्मुख हमारा नीचे का लेख हास्यास्पद होगा परन्तु हम उस हास्य की परवाह न करके यह बात यहाँ पर लिख ही देते हैं कि छोटे बालक को माता का दूध न मिलने पर धायी का दुग्ध पिलावे और धायी का दूध भी न मिले तो गधी (गर्दभी) का दूध देवे इस दूध से बालक के शरीर की कुछ भी क्षति नहीं होती और गौ आदि का दूध बालक को ठीक-ठीक पाचन नहीं हो सकता, इससे

बालक रोगी होकर काल का कलेवा बन जाता है, इसलिये जिस माता के स्तन में दूध नहीं हो उसके स्तनों में दुग्ध आने के लिये घृत शर्करा गोधूम मोदकादि उत्तमोत्तम पदार्थ खवा वे व एरण्ड के पत्ते जल में खूब उबालकर उसके निवाये-निवाये सुहाते-सुहाते जल से आध घण्टे तक स्तनों को धोवे, और वे ही पत्ते उबले हुए स्तनों पर बाँध दे। ऐसे करने से दस-बारह दिन में अवश्य-अवश्य पुष्कल दुग्ध स्तनों में आ जावेगा। दुग्ध की रक्षार्थ माता वा धाय को क्रोध, व्यायाम, कलह, शोकर्षादि व रुष्क शुष्क मादक भोजनादि से बचना चाहिये, यदि क्रोध, कलह, शोकादियुक्त हुई-हुई माता बालक को दुग्ध पिलाये तो वह दुग्ध बालक को पच नहीं सकता, इससे उसको दस्तें लगतो हैं वा वमन 'उलटी' होजाती हैं, और बालक के हाथ-पैर सूखने लगते हैं, और पेट बढ़ने लगता है। इसलिये ऐसी-ऐसी कुचेष्टा व कुव्यवहार से माता को सर्वथा व सर्वदा बचना उचित है, तथा बालक को जब-जब दूध पिलावे तब स्तन को उष्ण जल से धो लिया करे। यदि ऐसा न कर सके तो रात में, दिन में दो बार तो अवश्य ही स्तनों को धोवे, एवम् बालक को दूध पिलाने का समय नियत कर ले। बालक का जिस दिन* जन्म हो, उस दिन एक बार, दूसरे

* सुश्रुतोक्त औषध तो ३ दिन तक बराबर देवे। देखो सु० शा० अ० १०।

दिन दो बार, तीसरे दिन तीन बार, चौथे और पाँचवें दिन चार बार, छठे और सातवें दिन ६, आठवें और नवमे दिन ७ बार, दसवें दिन से आठ बार, रात दिन में नियत समय पर दो घण्टे के बाद दुग्ध पिलावे। रात्रि को पहर रात्रि के ऊपर दूध पिलावे; क्योंकि पहर रात्रि के उपरान्त बालक को दूध पिलाने में उसका पाचन व स्वभाव बिगड़ता है। रात्रि को माता-पुत्र को जगना पड़ता है। इससे अनेक हानियें होती हैं। जब नियत समय पर दूध पिलाओगे तो बालक का आठ-दस दिन में स्वभाव पड़ जायगा, पुनः रात्रि को बालक दूध न माँगेगा, परन्तु सोते समय में बालक को ज़रा दूर सुलावे। अर्थात बालक और माता के बीच में एक वस्त्र की आड़ कर दे, ताकि रात्रि को बालक दूध न पी सके। अधिक दूध पिलाने से माता दुर्बल और लड़का रोगी होजाता है। यदि युक्ति से बालक की रक्षा करे तो रोगग्रस्त नहीं होता और जहाँ तक हो सके बालक को रोग से बचाने का उपाय करे। बालक के रोग से बचने का उपाय यही है कि उसको नियमानुसार दूध पिलावे व दस्त साफ़ आता है या नहीं, इसका ध्यान रक्खे, यदि दस्त साफ़ न आता हो तो पूर्वोक्त प्रकार से एरण्डी का तेल शहद में मिला देवे, एवं शिशु के—

शयनास्तरप्रावरणानि कुमारस्य मृदुलघुशुचिसुगन्धीनिस्युः स्वेदमलजन्तुमन्तिमूत्रपूरीषोपसृष्टानि च

वर्ज्यानि स्युः असति सम्भवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपवनोपधूपितानि सुशुद्धशुष्कान्युपयोगं गच्छेयुः

चर० शा० अ० ८

वस्त्र ऋतु के अनुकूल नरम हलके पवित्र सुगन्धित हों, पसीने के मैले जुँए, लीखें, खटमल, पिस्सू आदि जीव जिसमें न हों व मलमूत्र के लगे हुए न हों, एक बार जो वस्त्र मलमूत्र में भर गया होय, तो पुनः उस वस्त्र को धो सुखाकर के भी बालक को बिछाने-ओढ़ने के काम में न लावें, यदि दूसरा वस्त्र न मिल सके तो लाचारी है। वही वस्त्र खूब शुद्ध धो करके घाम (तावड़े) में सुखाकर बालक के बिछाने आदि के कार्य में लावै, यदि हो सके तो:—

बालं क्षौमपरिवृत्तं क्षौमवस्त्राऽऽस्तृतायां शाययेत् ।

सु० शा० अ० १० ।

बालक के ओढ़ने, पहिरने, बिछाने को रेशम के वस्त्र ही रक्खे, माता, धायी आदि बालक को शीतादि लगती रहती है। इस शीत के लगने से बालक की बड़ी हानि होती है। वस्त्र न होने पर शीत लगने से शरीर की (उष्णता) गरमी बाहिर निकल जाती है। इससे उसकी क्षुधा का नाश होजाता है। अन्न का पाचन ठीक-ठीक नहीं होता, शरीर में उष्णता न रहने से शरीर के अवयव बढ़ते नहीं, और न शरीरावयव प्रौढ़ होते हैं और (श्लेष्म) जुकाम

सरदी, ज्वर, पीड़ा आदि अनेक बीमारियें होजाती हैं। इस हेतु से बालक को शीतकाल में वस्त्रादि ओढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न रखना चाहिये, परन्तु उष्णकाल में बहुत वस्त्रों की आवश्यकता नहीं, सब काम ऋतु के अनुसार करना योग्य है। शीतकाल में गुनगुने उष्णोदक से और उष्ण काल में ताजे कूपोदक से दिन में एक बार बालक को स्नान* अवश्य करा देवे, स्नानादि के गुण हम दिनचर्या में वर्णन् कर चुके हैं। बालक को स्नान भी हलके हाथ से करावे और उसके शरीर में मैल न रहने पावे, एवम्:—

बालं पुनर्गात्रसुखं गृह्णीयान्न चैनं तर्जयेत्सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात् सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयान्नोपवेशयेत् कौब्ज्यभयान्नित्यं चैन-मनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः एवमनभिहतमनास्त्वभि-वर्द्धते नाशुचौ विसृजेद्बालं नाकाशे विषमे न च। नो-ष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च ॥सु० शा० अ० १०॥

बालक को इस प्रकार उठावे कि उसके कोमल गात्र में पीड़ा न हो, जैसे मूर्ख माँ-बाप लड़के का हाथ पकड़कर वा और प्रकार से उठा लेते हैं। ऐसा करने से उसके पैर

*यदि लड़का निर्बल होय तो आँख को बचाकर गरम जल में निमक डालकर लड़के को स्नान करावे तो बालक पुष्ट हो जाता है।

उतर जाने की वा टूट जाने की सम्भावना है। अतएव ऐसा न करें, एवं उसके शरीर के झटका न लगावे व ज़ोर से उस को कुछ न कहे और एक साथ उसको धकेल के अलग न करे और न उसको एक साथ बल से उठावे और शिशु को सीधा बहुत देर तक न बैठावे, क्योंकि कमर नरम होने से कुब्ज (कुबड़ा) हो जाने का भय है, प्रतिदिन बालक को माता, धाय आदि सब मनुष्य पूर्ण प्रीति से प्रसन्न रक्खें, कभी इसके मन में क्षोभ न हो, ताकि इसका शरीर बल-बुद्धि-वीर्य पराक्रम बढ़ता जाय, बालक को मैली जगह से, ऊँचे-नीचे स्थान से, मैदान से, पानी से, वायु से, पत्थर से व हिमकारक (पानी के पत्थरों) से, धूली से, बिजुली से, (घर्म्म) खाम से व शीतादि इसको अवश्य बचावै, इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य बालकों की रक्षा किया करे, एवं-

क्रीडनकानि* खल्वस्य तु विचित्राणि घोषवन्त्य-भिरामाणि अनुरुण्यतीक्ष्णाग्राणि अनास्यप्रवेशीनि अप्राणहराणि वित्रासनानि स्युः न ह्यस्य वित्रासनं साधु तस्मान्न तस्मिन् रुदत्यभुञ्जानेवान्यत्र वा विधेय-तामागच्छति राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामान्याहूय-तासां कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं कार्यं स्यात् ।

चर० शा० अ० ८

*खिलौने सब अवस्था के भिन्न भिन्न होने चहियें।

बालक के खेलने के लिये खिलौने भी चाहियें, वे ऐसे हों कि तरह-तरह के रङ्ग-बिरङ्ग (चित्र-विचित्र) जिनमें से अनेक प्रकार के शब्द निकलते हों, व देखने में बहुत ही सुन्दर-सुडौल, हलके हों, भारी न हों, व तीखे, पैने, अणीदार न हों, जो मुख में आयँ-जायँ ऐसे न हों, जिसके लग जाने से बालक के प्राण को दुःख पहुँचे, व उठाने में त्रास हो ऐसे न हों किन्तु पूर्वोक्त प्रकार के उत्तमोत्तम खिलौने हों, कितनेक मूर्ख माता-पिता-भ्राता बालकों को (हउद्दा) भूत-भूतनी डाकन आदि के नामों से डराते हैं। परन्तु चरक में इसका निषेध किया है। देखो चरकाचार्य महर्षि कहते हैं, कि लड़कों को डराना बहुत ही बुरा है, चाहे वह रोने से बन्द न हो किन्तु रोता ही रहे परन्तु बालक को रोने से रोकने के वास्ते वा कुछ खिलाने-पिलाने के लिये व और किसी प्रयोजन के लिये बालक को भूत-प्रेत, राक्षस, भूतनी, डाकिनी, पिशाच आदि से न डरावे, महर्षि आत्रेयजी कहते हैं, कि कल्पित भूतादि दुष्ट शब्दों का बालकों के सम्मुख नाम मत लो, ऐसे कल्पित (फ़रज़ी) नामों के लेने से बालकों के संस्कार बिगड़ते हैं, भय उत्पन्न होता है, इससे उनके शरीर, मन, बुद्धि, ज्ञान आदि के बढ़ने में बाधा पड़ती है और वास्तव से देखिये तो जैसे कि भूत-पिशाचादि* लोग मानते हैं, वैसा कोई पदार्थ नहीं हैं

* ये पिशाचादि दुष्ट मनुष्यों के नाम है। देखो भारत

किन्तु हउआ के सदृश केवल बालकों को व मूर्खों को भय दिखाने के अर्थ अदूरदर्शी लोगों ने कल्पित भूतादि मान लिये हैं, परन्तु ऐसा मानना व मनाना बहुत ही बुरा है, क्योंकि इन भूतादि के धोखे से अनेक बालकों के प्राण चले जाते हैं। बालकों ही नहीं, किन्तु बड़े-बड़े स्त्री-पुरुषों के भी प्राण चले जाते हैं। जब कुछ किसी को रोग हुआ तो झट झाड़ा-फूँका करते हैं और मन्त्र-जन्त्र जादू-टौनेवालों को बुलाते हैं और सिर धुना-धुनाकर रोगी के प्राण ले लेते हैं, एवं सर्प-बिच्छू के काटने पर भी करते हैं। परन्तु ये महामूर्खता का चिन्ह है। ऐसी-ऐसी झूँठी बातों में फँसकर औषध न करके स्वार्थी अपने स्वार्थ के लिये और मूर्ख लोग अपनी मूर्खता से प्राणों का हरण करा लेते हैं। परन्तु बुद्धिमानों को समुचित है कि ऐसे मिथ्या जाल में कदापि न फसें और बालकों की सर्व प्रकार से रक्षा करें, बाल्यावस्था में रोग बहुत ही होते हैं। उन सब को न होने देने का उपाय करें, कोई-कोई रोग तो ऐसे दुष्ट हैं कि बालकों के प्राण लिये बिना नहीं छोड़ते, जैसा कि (विस्फोटक) शीतला एक देवी है। जब वह निकले तो शीतला की पूजा करे व शीतलास्तोत्र का पाठ करावे और शीतला के वाहन गधे (गर्दभ) को गोद में चारा-दाना चरावे, इससे शीतला

भीष्म प० अ० ९० श्लो० ९० में पिशाच राजा ने पाण्डवों की सहायतार्थ कौरवों से युद्ध किया।

राजी होकर लड़के को न मारेगी, परन्तु ये भी उन अज्ञानी लोगों की बड़ी भूल है। शीतला एक रोग है, इसी को लोग चेचक कहते हैं। इस रोग का नाम मूर्खों ने शीतला रक्खा है। इसी लिए इस रोग का नाम चरक सुश्रुतादि सब वैद्यक ग्रन्थों में विस्फोटक लिखा है, तथा चरक सूत्र० अ० २० में व सुश्रुत निदा० अ० १२ में व भावप्रकाश भाग ४ में यह विस्फोटक रोग बहुत प्रकार का होता है इसके लक्षण भेद साध्या-साध्य कृच्छ्रसाध्य और इसके औषध भी वही लिखे हैं जिसकी इच्छा हो वह वहाँ देख ले हम इसकी यही एक औषधि लिखते हैं जो कि सब मनुष्यों को प्राप्त हो सकती है वह चेचक खुदवाना है इस चेचक के खुदवाने से बहुधा यह रोग ही नहीं होता यदि हो भी जाय तो बालक के मरने अंधे होने आदि का भय नहीं रहता। वर्त्तमान् के मूर्ख माता-पिता बालक को चेचक खुदवाने नहीं देते जब हमारी कृपालु ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के भेजे हुए चेचक के खोदनेवाले डॉक्टर आते हैं तो बालकों को माता-पिता झट छिपा देते हैं कितनी मूर्खता है यदि चेचक खुदवाने में कुछ भी हानि होती तो अँग्रेज लोग उनके छोटे छोटे बालकों के चेचक क्यों खुदवाते * उचित तो यह है कि शीतकाल में बालक

* हमारी दयालु ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने बालकों को इस भयंकर रोग से बचाने के लिए ग्राम-ग्राम और शहर-शहर में

उत्पन्न (पैदा) होय तो शीतला (विस्फोटक) निकलने के जो महीने फाल्गुन चैत्र वैसाख हैं इन महीनों के पूर्व ही चेचक खुदवानेवाले परन्तु एक मास से छोटा लड़का होय तो न खुदवावै, चेचक एक बार तो बरस भर के अन्दर खुदवाले पुनः पाँच छः वर्ष का बालक हो तब खुदवावै यदि डाक्टर कहे तो १० वर्ष की अवस्था में एक बार और टीका लगवा दे पुनः यह भयङ्कर रोग बालक का कुछ भी नहीं कर सकता, एवं डाढ़ दाँतादि के अन्यान्य रोगों से भी बालक की वैद्य व औषधिद्वारा रक्षा करनी चाहिए जब दाँत निकलने का समय होय तब बालक के मसूड़ों पर नमक घिस देवे कि जिसमें मसूड़ों को शीघ्र फोड़कर दाँत बाहिर निकल जाँय, जब बालक ६ मास का होता है तो उनके बहुधा दाँत निकल आते हैं जब दाँत निकल आवैं, तब उसका अन्नप्राशन-संस्कार संस्कारविधि के अनुसार करना चाहिये प्रथम खीर (पायस) मिष्टान्न आदि थोड़ा-थोड़ा देना चाहिये। पुनःलवणतिक्तादि भोजन भी खिलावै, बालक को

चेचक खोदनेवाले डाक्टर नियत किये हैं परन्तु मूर्ख लोग इस उपकार को न समझकर यह कहते हैं कि लड़के के चेचक खोदने का प्रयोजन यह है कि जिसके चेचक खोदने से शरीर में दूध निकलेगा वह अंग्रेज़ी राज्य का नाश करनेवाला होगा, उस को ये अंग्रेज़ देख रहे हैं इत्यादि अहह हमारे देश में कितनी मूर्खता भरी हुई है भला कभी रुधिर के स्थान में किसी शरीर में दूध भी हुआ है वा हो सकता है यह बात सर्वथा महा झूठी है।

एक साथ दूध छुड़ाकर केवल अन्न न खिलावै किन्तु माता का दूध भी पीता रहे और थोड़ा-थोड़ा अन्न भी खाना सिखावे तथा अधिक ठूँस-ठूँसकर इतना अन्न न खिलावे कि जिससे बालक को अजीर्ण हो जाय और इतना थोड़ा भी अन्न न खिलावै कि जिससे बालक भूख का मारा दुर्बल होजाय. एवं बालक जब कुछ बड़ा होय और बैठने योग्य उसके शरीर में शक्ति आजाय तब बैठना सिखलावै, यदि विचार से देखिये तो जब गर्भ में ही बालक चार-छै मास का होता है तभी से ही वह अपने आप कुछ सीखना प्रारम्भ करता है और मरण-पर्य्यन्त वह कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। वैसे चेतनता तो इसमें जबसे गर्भस्थापन होता है, तभी से होती है परन्तु चार मास का गर्भ होता है तब से उसके ज्ञानशक्ति का प्रादुर्भाव होजाने से माता के पेट में वह प्रथम करवट लेना सीखता है फिर जन्म होते ही श्वास लेना, रोना, दुग्ध पीना, बैठना, खड़ा होना, शरीर को पाँवों पर ठहराना, फिर चलना और बोलना सीखता है इसी प्रकार जिस-जिस पदार्थ को बालक देखता है उस-उस पदार्थ का ज्ञान कर लेता है। छोटा बालक जब रोता है तो उसके चुप करने के अर्थ उसकी माता कुछ बजा देती है तो बालक झट चुप होकर शब्द सुनने लगता है और सोचता है कि यह क्या है, इसी प्रकार जब युवा पुरुष और छोटे बालक के सम्मुख दीपक आता है तो युवा

पुरुष दीपक को टकटकी लगाकर इसलिये नहीं देखता कि उसको दीपक की असलियत का ज्ञान हो चुका है परन्तु छोटा बालक नहीं जानता कि यह क्या वस्तु है इसलिये वह टकटकी लगाकर बड़े ध्यान से देखता है और उसके वास्तविक स्वरूप (असलियत) को जानना चाहता है, एवं जब वह बोलने फिरने लगता है तब किसी नवीन वस्तु को देखते ही झट लाकर माता को दिखाता है और पूछता है कि माता यह क्या वस्तु है ? यदि माता काम में लगी हो और कार्य्य-निमग्नता से बालक के प्रश्न का उत्तर नहीं देती तब वह बालक बार-बार हठ करके माता से पूछता है कि यह क्या वस्तु है जब माता उसको बता देती है कि यह अमुक पदार्थ है तब वह चुप तूष्णींभाव को प्राप्त होता है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि बालक अपने आप ज्ञान की वृद्धि करना चाहता है परन्तु उसको जब तक माता आदि का साहाय्य न मिले तब तक लड़के की शारीरिक, मानसिक व आत्मिक उन्नति नहीं हो सकती, बालक का आरोग्य व भावी सुख दु:ख माता पिता आचार्य्य भ्राता भगिनी आदि सम्बन्धियों के ऊपर निर्भर है और इन सब सम्बन्धियों से भी विशेष करके मुख्यत: माता के ऊपर ही निर्भर है क्योंकि बाल्यावस्था में बालक का पिता आचर्य्यादि से संसर्ग बहुत ही थोड़ा होता है किन्तु मुख्य करके माता से ही उसका बहुत सम्बन्ध रहता है, जिस माता के ऊपर बालक का

वर्त्तमान तथा भावी सुख-दुःख निर्भर है वह माता कैसी होनी चाहिये इस बात का आप ही विचार करें, इस सम्पूर्ण संसार में देख लीजिये, आप को यही दिखाई पड़ेगा कि जैसी बालक की माता होगी वैसा ही उसका बालक होगा यदि माता विदुषी होगी तो उसके बालक भी विद्वान् होंगे, यदि माता मूर्खा होगी तो उसके बालक भी मूर्ख होंगे इसलिये महाभारत में लिखा है कि:—

नास्ति मातृसमो गुरुः ॥६५॥ भा० अनु० प० अ० १०

माता के सदृश बालक का कोई भी गुरु नहीं है, यदि विचार से देखिये तो:—

उपाध्यायान्दशाचार्य्या आचार्य्याणां शतं पिता ।
सहस्रन्तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

मनु० अ० २

इस मनुवाक्य के अनुसार माता दस हज़ार मास्टरों से भी बढ़कर है परन्तु वह माता बालक की शारीरिक व आत्मिक उन्नति करनेवाली हो तब वह दस हज़ार मास्टर (पढ़ानेवालों) से बढ़कर हो सकती है। यदि ऐसी नहीं है तो उस माता से आचार्य्य उत्तम है देखो इसी श्लोक के आगे का श्लोक, हमारी सम्मति में तो बालक को जो विदुषी माता से लाभ हो सकता है, वैसा लाभ किसी मनुष्य मात्र से बालक को नहीं हो सकता क्योंकि

बाल्यावस्था में बालक को जो कुछ उपदेश होता है अथवा जो कुछ वह श्रवण करता है वह उसके पिघली हुई धातु सदृश कोमलान्तःकरण पर मोहर-छापवत् जम जाता है। वे संस्कार उस बालक के अन्तःकरण में से आजन्म नहीं जाते, आपने देखा होगा कि बड़े-बड़े संस्कृत और इङ्गलिश के विद्वान् जिन्होंने वेदाचार्य्य व एम० ए० पद की प्राप्ति की है उस विद्या के प्रताप से उन्होंने जान लिया है कि भूत प्रेत कोई पदार्थ नहीं है, परन्तु जब वे अकेले रात्रि के समय में स्मशान भूमि में जाते हैं तो झट उनको भूत का स्मरण हो कर वे भयभीत होजाते हैं यद्यपि वे जानते हैं कि भूत कोई वस्तु नहीं है परन्तु बाल्यावस्था के कल्पित भूत के संस्कार से भूत को सर्वथा मिथ्या जानने पर भी उनके अन्तःकरण से उस भूत का भय दूर नहीं होता इसी कारण से बाल्यावस्था में बालकों को उत्तमोत्तम शिक्षण मिलना चाहिये। वर्त्तमान काल में एतद्देशीय बहुधा पढ़े पशु होते हैं। इसका भी यही कारण है, जैसा कि महर्षि धन्वन्तरिजी ने स्पष्ट दर्शा दिया है कि:—

कारणानुरूपं कार्य्यमिति ॥ सु० शा० अ० १

कारण के सदृश ही कार्य्य होता है। जब बालक का कारणभूत माता मूर्खा है, तो उसका कार्य्य बालक कब विद्वान् हो सकता है ? जब तक बालक की माता विदुषी न होगी, तब तक सम्भव नहीं कि बालक विद्वान् होवेगा,

इस हेतु से स्त्री-शिक्षण की बड़ी भारी आवश्यकता है। अस्तु वर्त्तमान समय में मनुष्य विमोहवश से पशु-धर्मद्वारा अपत्योत्पत्ति कर लेते हैं, परन्तु यह उनका कर्त्तव्य हास्यास्पद है; क्योंकि जब तक मनुष्य द्विविध सन्तान-संरक्षण में समर्थ न हो, तब तक वे सन्तानोत्पत्ति के अधिकारी नहीं हैं, जैसे जो पुरुष डॉक्टरी नहीं पढ़ा है, वह पुरुष किसी रोगी के अङ्गच्छेदन करने का अधिकारी नहीं है। यदि वह (हठात) मूर्खता से रोगियों का अङ्गच्छेदन करे, तो वह संसार का हानिकारण हैं। ऐसे ही स्वसन्तानों की शारीरिक व आत्मिक उन्नति न करनेवाले माता-पिता को भी जानो, जिन पशु-पक्षियों में मनुष्य की अपेक्षा बहुत ही कम ज्ञान है, परन्तु वे भी अपने सन्तानों की कितनी रक्षा करते हैं। जब चिड़िया (चटका) गर्भवती होती है, तभी से (दम्पति) दोनों चिड़ा-चिड़िया (नीड़) बनाते हैं। अण्डा होने पर चिड़िया अपने (पक्षों) परों में उसको हलके भार से दबाकर बैठती है। जिससे उसकी गर्मी से अण्डा पककर उसमें से बच्चा निकल आता है। पुनः (चटका) चिड़िया चूँगा चुनकर अपनी चोंच से चबाकर बच्चे की चोंच में देती है। बच्चे को घोंसले से गिरने नहीं देतीं, अन्यान्य हिंसक जीवों से उसकी रक्षा करती है। बड़े होने तक सब प्रकार से उसका पालन करती है। इसका फल वह बच्चा स्वमाता पिता को कुछ भी नहीं होने देता,

प्रत्युत बड़ा होने पर माता से चूँगा झपट कर छीन लेता है, परन्तु मनुष्यों के सन्तान तो बड़े होने पर माता-पिता की सेवा करते हैं। जिन पक्षियों में मनुष्यों की अपेक्षा बिल्कुल ज्ञान कम है वे अपने बच्चों का ऐसा पालन करते हैं और मनुष्य बुद्धिमान् होने पर भी अपने बच्चों का ठीक-ठीक पालन नहीं करते, यह बड़े शोक की वार्त्ता है, अपने माता-पिता बालकों को यथोचित भोजन-वस्त्र नहीं देते, जिन दोनों के पास भोजनादि नहीं है, वे तो बालकों को कहाँ से दें, परन्तु जिनके पास है वे भी इस बात की ओर ध्यान नहीं देते। कितने ही गृहस्थ ऐसे हैं कि जिनको घोड़ों का (व्यसन) शौक़ है, कितनेक गृहस्थों को कुत्तों का, कितनेक को चिड़ियें-कबूतरों का, कितनेक को तोतर-बटेर व बाज़ों का व घोड़े-कुत्ते, तीतर, बटेर आदि चिड़ियाओं का खिलाने-पिलाने, नहाने-धुलाने और औषध आदि से पालन पोषण ख़ूब करते हैं और जिन साईसादि के सुपुर्द घोड़े आदि पशु-पक्षी हैं। यदि वे उनकी ठीक-ठीक रक्षा न करें, तो उन पर अप्रसन्न होकर कुछ दण्ड भी देते हैं और अपने आप उन जानवरों को देखते हैं, और घोड़े-कुत्ते व पक्षियों के पालनेवालों से पूछते भी हैं, कि ये जानवर मोटे हृष्ट-पुष्ट कैसे हों। इसका उपाय बताओ, उपाय ज्ञात होने पर यथाशक्य वे उपाय भी करते हैं, इन पशु-प्राणियों की रक्षा के अर्थ तो वे इतना श्रम

करते हैं, परन्तु जो मनुष्यों के बालक प्राणीमात्र से उत्तम जिन बालकों का आश्रय भी केवल माता-पिता ही हैं। जो बालक मनुष्य जाति का पाया (नींव) जिसके सुधरने से संसार का सुधार और जिनके बिगड़ने से संसार का बिगाड़ उन बालकों की रक्षा की ओर माता-पिता का बिल्कुल ध्यान नहीं होता है। यह बड़े भारी आश्चर्य्य और खेद की बात है, कितने ही माता-पिता, बालकों को पेट भर खाने से बालक रोग हो जायगा परन्तु यह वार्त्ता मानव* धर्म्म-शास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है। जितना उस बालक को अन्न पचै उतना, उसको खाने को अन्न अवश्य देना चाहिये बाल्यावस्था में भूख अधिक लगती है। यदि बालक को पेट भरकर खाने को न दिया जाय, तो बालक के शरीर की वृद्धि व पुष्टि ठीक नहीं होती एवं बालक को बलात्कार से ठूँस-ठूँसकर खिलाने से भी बालक की शारीरिक वृद्धि व पुष्टि नहीं होती। अतः बालक को यथायोग्य भोजन खिलाना चाहिए, परन्तु यह बात ध्यान में रहे कि बालक को थोड़ा खिलाने से जितनी हानियें हैं उतनी अधिक खलाने से भी होती हैं, अस्तु बहुत छोटे बालक को

---

*मानवधर्मशास्त्र से मनुस्मृति को यहाँ नहीं समझना चाहिए किन्तु जिस शास्त्र में मनुष्यों के धर्म (स्वभाव) का वर्णन् किया है उसका नाम यहाँ पर मानवधर्मशास्त्र है जो कि वैद्यक का भाग विशेष है।

मिष्टान्न फल व कठोर अन्न बहुत कम देने चाहियें। परन्तु तीन-चार वर्ष के बालक को मिठाई ऋतुफल और कुछ-कुछ गुरु (भारी) अन्न अवश्य खिलाना चाहिये, बहुधा बालक मिठाई खाने को बहुत ही तरसा करते हैं। परन्तु रोग होने के भय से माँ-बाप उनको मिष्टान्न नहीं खाने देते, यह माता-पिता की बड़ी भारी भूल है। क्योंकि जो बालक को स्वाभाविक मिष्टान्न खाने पर अधिक रुचि होती है इसका लाभ मानवधर्मशास्त्र से सिद्ध हो चुका है, कि मिष्टान्न से बालक की (अस्थि) हड्डी बढ़ती है, और मिष्टान्न व मेदवर्द्धक दुग्धादि पदार्थों के सेवन से प्राण-वायु का संयोग होने से शरीर में उष्णता उत्पन्न होने से अन्नपाचन भी ठीक होता है। इसलिये बालकों को मिष्टान्न अवश्य खिलाना चाहिये, बालकों के खाने-पीने के अधिक नियम रखने भी बहुधा हानिकारक व दुःखदायी होते हैं। जैसे जिन बालकों के शरीर की वृद्धि ठीक नहीं होती, एवं ऋतुफलों के खाने बिना बालक नीरोग भी नहीं रहते, बालकों को मिष्टान्न व ऋतुफल माता-पिता नहीं खाने देते इससे बालकों की उक्त पदार्थों के खाने में बहुत लालसा होती है। जब कभी दैव-संयोग से उनके हाथ पैसा लग जाता है, तो वे मिठाई फलादि पदार्थों को खूब खाते हैं। इससे वे रोगी हो जाते हैं। तब माता-पिता जानते हैं कि मिठाई व फलों के खाने से बालक रोगग्रस्त हुए हैं। परन्तु

यह बात वे नहीं जानते कि हमारे रोकने से बालक मिठाई फलादि को नहीं खा सके और अब इन का दाव लगने पर इन्होंने एक साथ बहुत-सी मिठाई खाकर सब दिन की कसर निकाली है। उसका यह फल है, आप निश्चय जानिये कि बालकों को यथेच्छा खाने-पीने न देने से ऐसे-ऐसे अनेक दुष्ट परिणाम होते हैं। इसलिये दो वर्ष के उपरान्त बालको कों सचिक्कण गुरु (भारी) मिष्टान्न फलादि पदार्थ अवश्य खिलाने चाहियें और भोजन भी अदल-बदल करके ही खिलाना चाहिये, यथायोग्य खान-पान से बालकों की रक्षा करना यह माता-पिता का मुख्य कर्त्तव्य है, क्योंकि बालक सात वर्ष तक तो केवल माता-पिता के और सोलह-सतरह किम्वा १८ वर्ष तक माता और पिता इन दोनों के आधीन रहता है। इसमें भी बहुधा पिता गृहकार्यों को नहीं देखता किन्तु गृहकार्य्य माता के आधोन होने से माता से बालक का सम्बन्ध अधिक रहता है, जब माता से कोई पदार्थ पुत्र माँगता है तो वह मूर्ख माता उसको नहीं देती, प्रत्युत एक-दो थप्पड़ लगा देती है। फिर तो बालक बिचारा उदास हतोत्साह होजाता है। जब तक बालक बहुत छोटा होता है तब तक तो वह विचारा चुपचाप रहता है। परन्तु जब दस बारह वर्ष का होता है, फिर तो वह माता के ऐसे क्रूर व्यवहारों को देखकर पिता से कहता है, जब पिता भी बेपरवाही से उसके निवेदन पर

ध्यान नहीं देता, तब बालक पिता की ओर से भी निराश होजाता है, और लाचार होकर और-और चेष्टायें करने लगता है। जैसे भूख लगने पर खाने को कोई वस्तु माँगी और माता ने न दी, तो घर में से अन्न-वस्त्र वर्त्तन आभूषण पैसा जो कुछ मिला चुरा कर ले जाता है और यथेष्ट पदार्थ खाता है। यदि और कुछ उसको न मिला, तो माता का घघरा वा पिता की पगड़ी ही ले भागता है, यदि घर में कुछ हाथ न लगा तो अड़ोसी-पड़ोसी की चोरी करता है। जिसका परिणाम बहुत बुरा होता है। यदि ऐसा न किया तो खाने के वास्ते किसी कुसंग में जाकर बुरे व्यसन में फँस जाता है। जब माता-पिता ऐसी व्यवस्था देखते हैं, तो बालक को मारते-पीटते हैं। इससे बालक को दुःख होता है। उसकी शारीरिक व मानसिक वृद्धि में हानि होती है, मारने-पीटने से बालक का स्वभाव भी बिगड़ जाता है स्वभाव बगड़ने से बालक बिलकुल बिगड़ जाता है, मारने से बालक का भय छूट जाता है। पुनः वह माता-पिता को कुछ भी नहीं समझता किन्तु वह जान लेता है कि बहुत करेंगे, माँ-बाप मार लेंगे और मेरा क्या कर लेंगे, बस ऐसे संस्कार बालक के अन्तःकरण में जम जाने से बालक ढीठ होजाता है। पुनः वह किसी अर्थ का नहीं रहता, बहुत से लड़के मार-पीट के दुःख से घर से भगकर किसी बाबाजी की वा मौलवी की वा पादरी साहब की शरण को प्राप्त हो-

जाते हैं फिर तो माता-पिता सहोदरादि रोया करते हैं और अदालत को भागे चले जाते हैं परन्तु पादरी साइब की शरण से बालक उनको फिर नहीं मिल सकता, फिर तो जो कुछ बालक को पालापोशा बड़ा किया सेवा की वह सब निरर्थक चली जाती है और कुल को कलङ्क लग जाता है, बस बालक को मारने से ऐसी-ऐसी अनेक हानियें होती हैं, यदि बालक मारने पर न भगा तो भी उसको बड़ा दुःख होता है, उसकी मानसिक-शारीरिक वृद्धि ठीक नहीं होती और माता-पिता से उसका वैरभाव होजाता है। बड़े होने पर वह माता-पिता को दुःख दिया करता है और उसके दुःख से माता-पिता सर्वदा दुःखी बने रहते हैं, बालक को मारना-पीटना बालक माता-पिता और कुटुम्बादि सब को हानिकारक है, बालक को मारने के मुख्य-मुख्य कारण बहुधा यही ज्ञात होते हैं। प्रथम तो यह है कि जब बालक को कोई-सा काम करने को कहा और उसने न माना इससे बालक को मारते हैं, २ किसी दूसरे के बालक से लड़ाई करने से, ३ किसी खेल कूद से बालक के कुछ चोट लग जाने से, ४ किसी खाने-पीने पहनने ओढ़ने खिलौने आदि के माँगने पर न मिलने पर हठ करने से, ५ माता-पिता किसी स्थान पर घर से बाहिर जाने के समय बालक साथ चलने की हठ करने से, ६ पढ़ने को न जाने पर, ७ घर की वा पर की किसी वस्तु के चुराने पर, ८ घर की

कुछ वस्तु तोड़ने-फोड़ने पर, ९ बालक अपने वस्त्र खेल-कूद से फाड़ डालने पर, वा पुस्तक स्याही, काग़ज़, चाकू, कलम आदि बिगाड़ने खोने पर, १० अन्यान्य किसी विशेष कारणों से माता, पिता, भ्राता, बालक को मारते हैं परन्तु हमारी सम्मति में जिन पूर्वोक्त कारणों से बालक को मारते हैं और जिस मार पीट में अनेक हानियें होती हैं यदि इस प्रकार वर्त्ताव करें तो बालक को बिना मारने से भी कार्य्य की सिद्धि हो सक्ती है जैसे १ जब बालक से कुछ कार्य्य कराना होय तो बड़ी प्रीति से उस को काम बतावे ताकि वह उसी समय कर देगा और कभी काम करने से इन्कार न करेगा, एवं उस बालक को काम करने में दुःख भी मालूम न होगा तथा आपको भी खेद न होगा परन्तु मूर्ख माता पिता बालकों से इस प्रकार प्रीति से काम नहीं कराते किन्तु वे तो बालकों पर हुक्म चलाते हैं, यद्यपि पराधीन बालक बहुधा हुक्म से भी काम कर देते हैं परन्तु इस हुक्म का फल माता पिता को बुढ़ापे में बालक चखाते हैं, २ जब बालक को माता उत्तम शिक्षा देगी तो बालक दूसरों के बालकों से कभी न लड़ेगा यदि लड़ भी पड़े तो अपने आप बालक को कभी न मारे किन्तु जिस बालक को मारा है उस से वा उसके माता पिता से ही उस बालक को तिरस्कृत कराना चाहिये ताकि बालक का स्वमाता-पिता से वैरभाव न हो, ३ जब

खेलने कूदने से बालक के कुछ लग जाय तो उसको मारे नहीं किन्तु उसको वैसे क्रूर खेल कूद के दोष दर्शा के कहे कि ऐसा पुनः मत करना नहीं तो यही दशा फिर होगी खेल कूद से चोट लगने पर मारने से बालक खेल कूद की चोट को तो भूल जाता है और माता की दी हुई मार ही उसको याद (उपस्थित) रहती है इससे माता से बालक का वैर हो जाता है जो माता पिता बालक को खेलने नहीं देते हैं उन माता-पिता का यह बड़ा भारी प्रमाद है बालक की जो नैसर्गिक प्रवृत्ति है वह बहुत ही लाभदायक है बाल्यावस्था में बालकों के क्रीड़ा करने (खेलने कूदने) से शरीर के अवयव अच्छे बढ़ते हैं और उसका शरीर भी दृढ़ होता है अनेक समय में बालक भोजन परित्याग करके भी खेलने को चले जाते इसका कारण यह है कि जैसे भोजन बालक की शरोरिक वृद्धि का हेतु है वैसे ही खेलना भी शारीरिक वृद्धि का हेतु है। उस सर्वान्तयोमी जगन्नियन्ता ने बालकों में खेलने का भी स्वभाव निर्माण किया है। यदि बालकों में खेलने का स्वभाव परमात्मा उत्पन्न न करता तो विज्ञ माता पिता की शिक्षा होने पर भी इस कार्य की सिद्धि होनी दुःसाध्य होती परन्तु शोक तो इस बात पर है कि उस सर्वान्तर्यामी के सृष्टिक्रम की ओर मूर्ख माता पिता ध्यान न देकर बालकों को खेलने से रोकते हैं यह बड़े भारी आश्चर्य और खेद की बात है, आप निश्चय करके

जानिये कि जो मनुष्य सृष्टिक्रम के अनुकूल वर्त्ताव करेगा वही इस संसार में सुखी होगा जो इसके विपरीत चलेगा वह सर्वदा दुःख का भागी होगा इस कारण से माता पिता को देखना चाहिये कि बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति कैसी है उन प्रवृत्ति को देख कर सृष्टिक्रम के अनुसार वर्त्ताव करना यह माता-पिता का परम कर्त्तव्य है, ४ खाने पीने खिलौने आदि माँगने पर उसको ले देना उचित है यदि न ले दे सके तो बालक को युक्ति से समझावे समझाने पर न समझे तो और और चुप करने के उपाय करे यदि किसी उपाय से रोने से चुप न होय तो उसको रोने देवे परन्तु उसको मारे नहीं कुछ देर के बाद वह स्वतः रोने से बन्द हो जायगा, ५ यदि माता पिता के बाहिर जाने पर बालक साथ चलने की हठ करे तो जहाँ तक सम्भव होय साथ ले जाय यदि न लेजा सके तो युक्ति से बच कर चला जाय ताकि वह न जाते देखेगा और न रोवेगा, ६ पढ़ने को न जाता हो तो युक्ति से उसका आश्वासन करके उस को पढ़ने को भेजे यदि आश्वासन करने पर भी बालक* पढ़ने को न जाय तो उसको हठात् उस दिन पढ़ने को न

---

* जब माता-पिता बालक को खेलने से रोकते हैं तो कोई बुद्धिमान् बालक उनको कह देता है कि अब हमको तुम खेलने से रोकते हो परन्तु तुम भी तो बाल्यावस्था में खेलते थे परन्तु उन मूढ़ माता पिता को इस कथन से कुछ ज्ञान नहीं होता।

भेजे किन्तु छुट्टी दिवा दे और उसको समझा दे कि बिना पढ़े मनुष्य मूर्ख, दरिद्री, पराधीन, धर्म्मरहित रहते हैं, ७ घर की वस्तु चुराने से उसको ऐसी शिक्षा करे कि वह समझ जाय और जिस खाने पीने के लिये वस्तु चुराता है वह खाने पीने को दे दे ताकि चोरी न करे, बाहिर की वस्तु चुराने पर भी उसको शिक्षा देवे इस पर न माने तो जिनकी वस्तु चुराई है उन से ही उसको फल मिलना चाहिये, ८ घर की वस्तु तोड़ने फोड़ने पर वह वस्तु उसके रख देवे कि ले अब इसको तुमने तोड़ा है तो तुम्हीं इसको बना दो, उसके टुकड़े-टुकड़े दिखाकर उसके फोड़ने पर जो हानि हुई है वह उसको अच्छी प्रकार समझा देवे ताकि फिर ऐसा न करे और ऐसी वस्तु को वैसे ठिकाने पर ही क्यों रखे जिसको बालक फोड़ डाले, ९ जब बालक स्ववस्त्र वा स्याही कलम काग़ज़ (मसी लेखनी पत्र) को तोड़ फोड़ डाले तो उसको समझावे कि भाई तुम यदि अह-र्निश (हर रोज़) ऐसे ही तोड़ते रहोगे तो हम नित नये वस्त्रादि कहाँ से लावेंगे, इत्यादि शान्त मिष्ट शब्दों से समझावे, कितनेक माता पिता बालक को काग़ज़ (पत्र) आदि के लिये तर्साया करते हैं परन्तु बालक को काग़ज़ स्याही से कभी न तरसावे, १० अन्य किसी निमित्त होने पर भी इसी प्रकार बालक को समझा दे परन्तु उसको कभी न मारे हाँ यदि कभी किसी विशेष कारण से बालक

को घुड़काने धमकाने से वह सुधर जाय तो युक्ति से धमका दे, अनेक मूर्ख माता पिता बालकों को प्रति दिन मारते हैं और कितनेक तो दिन में दो चार बार बालकों को मारते हैं और कितनेक मूर्ख बिना अपराध भी बालकों को मार बैठते हैं, जैसे एक गृहस्थ के एक लड़के के हाथ से एक मिट्टी का घड़ा फूट गया उसके देखते ही उसने उस लड़के को इतना मारा कि वह अधमरा होगया जब वह अचेत होकर गिर पड़ा तब दूसरे लड़के को पीटने लगा उसको भी खूब मार पीट कर तीसरे को मारा फिर चौथी लड़की को भी मारा फिर लड़के की माता को मारा, जब उसका क्रोध शान्त हुआ और उससे पूछा गया कि घड़ा तो एक लड़के ने फोड़ा था फिर आपने इन सब को क्यों मारा तब आप हँसकर कहने लगे कि आज इस बालक ने घड़ा फोड़ा है ऐसे ये बाकी के भी तो कभी कुछ अपराध करेंगे ही उसका अभी कुछ दण्ड दे दिया है कुछ उस समय में देदेंगे, अब देखिये ऐसे मूर्ख दुष्टात्माओं का तो मानों बालक स्त्री आदिकों को पीटना ही परम कर्त्तव्य है ऐसे कुव्यसनों से बालकों पर अत्याचार करने से बालक भी बड़े होने पर माता पिता की अच्छी प्रकार: दण्ड (लकड़ी) से सेवा करते हैं, अतः माता पिता आदि सब मनुष्यों को उचित्त है कि बालकों को कभी न मारे बालकों को मारने से बहुत हानियें उठानी होती हैं वे कुछ हमने

पूर्व दर्शाई हैं शेष स्वबुद्धि से जान लीजिये, एवं यह बात भी ध्यान में रहै कि मूर्खता का लाड़ लड़ाकर लड़कों को बिगाड़ भी न देवें।

माता पिता को समुचित है कि बालकों को अपने प्राणों से भी प्रिय समझकर उनका देश काल प्रकृति आदि के अनुसार तन मन और धन से प्रीतिपूर्वक पालन करें कितनेक माता-पिता यही अपत्यसङ्गोपन समझते हैं कि बालकों को खान पान वस्त्राभूषण से आनन्दित रखना, परन्तु खान पान आदि से बालकों को प्रसन्न रखने का नाम ही बालसंरक्षण नहीं है किन्तु बालक की वर्त्तमान शारीरिक आत्मिक उन्नति के सहित भावी शारीरिक व आत्मिकोन्नति जिससे हो उसको अपत्यसंरक्षण कहते हैं और जो लोग आभूषण को अपत्यसंरक्षण में गिनते हैं उनका बड़ा भारी प्रमाद है क्योंकि छोटे-छोटे बालकों को आभूषण पहिनाने से उनके हाथ पैरों की वृद्धि ठीक-ठीक नहीं होती और आभूषण के कारण से अनेक बालकों के प्राण भी चले जाते हैं इसलिये इन धातु के आभूषणों से बालकों को भूषित नहीं कराना चाहिये किन्तुः—

वाग्भूषणम् भूषणम् ॥ १९ ॥ किं वा शीलं परम्भूषणम् ॥ ८३ ॥ भर्तृ० नी।

संस्कृत वाणी व शील ही मनुष्य का भूषण है, अतः

माता पिता को उचित है कि विद्या और नीतिरूप भूषण से अपने सन्तानों को सुभूषित करे, इस विषय को यद्यपि सच्छास्त्रों में अनेक स्थलों में स्पष्ट प्रतिदान किया है कि पुत्रसङ्गोपन माता पिता का परम कर्त्तव्य है परन्तु शोक यह है कि वर्तमान समय में एक दो सन्तान होने तक तो बालक के माता पिता भी बालक ही होते हैं जब माता पिता स्वयं बालक हैं तो फिर वह बालसंरक्षण व शिक्षण कैसे कर सकते हैं, ये आप निश्चय जानें कि जो स्वयं योग्य है वही अन्य को योग्य बना सकता है जिसने खुद संस्कृत वा इङ्गलिश नहीं पढ़ी वह दूसरों को क्या पढ़ावेगा, ऐसे ही छोटी अवस्था के माता-पिता स्वयं ही शिक्षा पाने के योग्य होते हैं पुन: वे स्वसन्तानों को किस प्रकार शिक्षा दे सकते हैं जब ऐसी दशा है तो फिर अपत्यसंरक्षण कैसे हो सकता है, हाँ यद्यपि वर्त्तमान दम्पति (स्त्री पुरुष) की दशा ऐसी ही है तथापि हमारा कथन ऐसे बालक दम्पति के लिये नहीं है किंतु पूर्वोक्तलक्षणविशिष्ट सुशिक्षित युवा दम्पति के लिये है, अस्तु पूर्वोक्तगुणविशिष्ट माता पिता को उचित है कि वे अपनी सन्तान को अहर्निश शारीरिक व मानसिक रक्षण तथा शिक्षण करें, शारीरिक रक्षण के विषय में हम पूर्व लिख आये हैं और विशेषत: शारीरिक रक्षण प्राणिधर्म-शास्त्र, शारीरशास्त्र, रसायनशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, मानसशास्त्र, व जीवनशास्त्रादि से करै, शारीरिक रक्षण यही है कि

भोजनाच्छादन नीरोगतादि के लिये बालकों के रक्षण का सम्यक् यथोचित प्रबन्ध करै और मानसिक रक्षण यह है कि बालक को भय, शोक, क्षोभ, त्रासादि न होने पावैं, इसी प्रकार बालक को शारीरिक व मानसिक शिक्षण भी किया करें, ये दोनों शिक्षण सृष्टिक्रमानुसार होने चाहियें, शारीरिक शिक्षण यह है कि बालक की शरीर रक्षा का जो उपाय अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, उत्तम भोजन, शुद्ध जल, वस्त्रासनादि का सेवन, मादकद्रव्यनिषेध और देश कालानुसार बर्त्ताव, दुष्ट प्राणी आदि से बचाना आदि शारीरिक रक्षण और सोधा चलाना फिराना, सीधा बैठाना, सोवाना, दौड़ाना, यथायोग्य वस्तु खिलोने आदि का युक्तिपूर्वक उठाना, सिखाना आदि शारीरिक शिक्षण को भी करै, इसी प्रकार मानसिक शिक्षण भी बालकों को होना चाहिये, मानसिक शिक्षण में विद्या और नीति इन दोनों का शिक्षण करना चाहिये, पूर्वोक्त रक्षण शिक्षण बालक को मुख्यतः प्रथम माता ही से होता है इसलिये माता सृष्टिक्रम के अनुसार बालक को शिक्षण करै क्योंकि जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध कार्य करना चाहता है वह मनुष्य कदापि कृतकृत्य नहीं होता, जैसे कोई पुरुष नेत्र से शब्द का श्रवण करना चाहै और श्रोत्र से रूप देखना चाहे तो यह सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से नहीं हो सकता ऐसे ही बालक को भी सृष्टिक्रम से विरुद्ध शिक्षण नहीं करना चाहिये किन्तु

सृष्टिक्रम के अनुसार ही बालक को मानसिक शिक्षण देवे बालक की जैसी-जैसी शारीरिक शक्ति बढ़ती जाती है वैसे-वैसे मानसिक शक्ति भी बढ़ती जाती है, जब कुछ मानसिक शक्ति बढ़ जाय तब बालक को माता प्रथम स्थूल (मोटे) पदार्थ का ज्ञान करावे जैसे हाथ, पैर, कान, आँख आदि, पीछे से सूक्ष्म (बारीक) पदार्थ का ज्ञान करावे मन, बुद्धि, जीव, परमेश्वर प्रकृति आदि, बालक जिस-जिस पदार्थ को जानना चाहता है उस-उस पदार्थ को माता प्रीतिपूर्वक बताती जावे, जैसे बालक ने एक पुष्प अथवा फल उठाकर माता से पूछा कि माता यह क्या पदार्थ है ? उसी समय में माता उस पदार्थ के सम्पूर्ण अवयवों को दिखाके पुनः उसके रूप, रंग, सुगन्धि आदि को दिखाकर फिर कहे कि देख अब इसके (विभाग) टुकड़े होते हैं। पुनः टुकड़े करके बता देवे कि यह अमुक फल है, इस प्रकार से इसका इस पृथ्वी में इस बीज को बोने से देख इस प्रकार से अंकुर निकलकर जल डालने से सूर्य्य की गर्मी और सर्दी तथा वायु आदि से सूर्य्य की गर्मी शनैः शनैः शाखा-प्रशाखा पत्रादि के सहित बढ़ता-बढ़ता ऐसा बड़ा वृक्ष होकर इसके ऐसे पुष्प लगे, फिर देख इसमें इस प्रकार से छोटा सा फल निकल आया, फिर पुष्प सूखकर गिर गया और फल शनैः-शनैः बढ़ता-बढ़ता इतना बढ़कर ऐसे सूर्य्य के घाम (गर्म) उष्णता व शीतलता आदि से इतने समय

में पककर ऐसा मिष्ट हुआ और देख इसमें ये बीज भी है और इनको अमुक प्रकार से बोने से पुनः फूल और फूल से फल और फल से बीज, बीज से वृक्ष एवं यह सृष्टि-क्रम यथाशक्य बालक को बतावे, इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थों को भी, जैसे-जैसे बालक में जानने की योग्यता बढ़ती जाय, वैसे-वैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, वन, पर्वत, पृथ्वी, जल, अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का ज्ञान करावे जब बालक को गुणी का ज्ञान होजाय पुनः शनैः-शनैः इनके गुणों का भी ज्ञान कराती जाय, इसी प्रकार शनैः शुद्ध वर्णोच्चारण भी सिखावे, एवं अक्षरों के स्वरूप का ज्ञान भी इस क्रम से करावै कि जिसमें उसकी मानसिक शक्ति का व्यय न हो जैसे बालक नाना प्रकार के तासादि खिलौनों से खेला करते हैं। उन खिलौनों के ऊपर अका-रादि वर्ण लिखकर उन खिलौनों का नाम भी अकारादि ही रख देवै, जैसे यह [अ] है, एवं अकारादि सब वर्णों तथा मात्राओं के स्वरूप का ज्ञान बालक को खेल ही खेल में करा देवें तथा बालक स्वयं खेल में लकीरें (रेखायें) खेंचा करते हैं। जब वे लकीरें खेंचें तब उनसे अकारादि बड़े-बड़े वर्ण लिखावें और स्वर व्यञ्जन ह्रस्व दीर्घादि का ज्ञान कराके अक्षरों का परस्पर-सम्बन्ध बताकर खेल-ही-खेल में नाम लिखाना सिखा देवैं, तथा बालोद्यान शिक्षण के पुस्तक से उसको पशु पक्षी आदि दिखाकर उस का नाम

भी वहाँ ही बता देवैं, एवं उस नाम का उल्लेख भी क्रीड़ापूर्वक ही करा देवैं, इसी प्रकार जैसे जैसे बालक की मानसिक शक्ति बढ़ती जाय, वैसे-वैसे इस मानसिक शिक्षण की वृद्धि भी करैं विद्या पढ़ने को ही मानसिक शिक्षण कहते हैं, संक्षेपतः मानसिक शिक्षण का क्रम हमने दर्शाया है, विशेष शिक्षण भी माता-पिता इसी क्रम से बालक को करते रहें, एवं बालक को नीति शिक्षण भी अवश्य ही करें, नीति शिक्षण के बिना बालक दुराचारी दुष्ट स्वभाववाले निकम्मे होजाते हैं, बालकों को नीति शिक्षण करना बड़ा कठिन है, क्योंकि जैसे वर्त्तमान समय में विज्ञ माता-पिता बालकों को नीति शिक्षण करते हैं कि हे पुत्र झूँठ बोलना बहुत बुरा है, एवं छल-कपट दुराचारादि अन्यान्य व्यसन भी बुरे हैं, इसलिये इन से सर्वदा बचना चाहिये, इत्यादि परन्तु बालकों को केवल शब्दद्वारा ऐसा उपदेश करने से बालक नीतिज्ञ नहीं होते क्योंकि हम प्रथम लिख आये हैं कि बालकों को जो कुछ सिखावै वह उनको प्रत्यक्ष उदाहरण देकर बतावै, बालकों को केवल शब्दमात्र सुना देने से यथेप्सित शिक्षण का लाभ कदापि नहीं हो सकता क्योंकि सुनने से जो ज्ञान होता है, उस से आँख का देखा हुआ ज्ञान बहुत ही दृढ़ होता है, एतदर्थ बालकों को प्रत्यक्ष नीति का उदाहरण देकर नीति का उपदेश करैं, बालकों के लिए नीति का उदाहरण मुख्य बालक के माता-

पिता ही हैं। क्योंकि जैसे-जैसे माता-पिता के आचरण बालक देखते हैं वैसे-वैसे आचरण बालक भी करते हैं, जैसे जिस बालक का पिता आप हुक्का पीता है, और बालक को कहता है कि बेटा हुक्का नहीं पीना चाहिये, हुक्का पीना बहुत बुरा है। इत्यादि परन्तु इस पिता के कथन का असर (प्रभाव) बालक पर बिल्कुल नहीं होता किन्तु पिता का हुक्का पीना बालक को उदाहरणरूप से पिता की ओर से हुक्का पीने का उपदेश करता है। क्योंकि बालक देखता है, उसी का अनुकरण करता है। जिस समय में पिता किसी कार्य्य के लिये गृह से बाहिर जाता है उसी समय में बालक छिपकर हुक्का पीना आरम्भ करता है। पुनः थोड़े बड़े होने पर अच्छी प्रकार से हुक्का पीने लग जाता है, बाल्यावस्था में बालक को श्रोत्रादि इन्द्रियों से ज्ञान बहुत ही थोड़ा (न्यून) होता है किन्तु बालक जो पदार्थ नेत्र से देखता है, उसी पदार्थ का बालक को पूरा-पूरा ज्ञान होता है, जैसे लड़कों के सामने से कोई लँगड़ा [खोड़ा] पुरुष निकलता है, तो वे सब-के-सब लड़के लँगड़ाने लगते हैं, इस हेतु से माता, पिता, भगिनी आदि को सर्वथा समुचित है कि बालक के सम्मुख किसी प्रकार का अनिष्ट व्यवहार वा कुचेष्टा न करें क्योंकि बालकों को जो कुछ उपदेश किया जाता है, वह उनके नवनीतवत् कोमलान्तःकरण पर मोहर छाप के सदृश जम जाता है, यद्यपि सङ्ग का फल

मनुष्यमात्र को (किम्बहुना प्राणीमात्र को) ही होता है तथापि अन्य मनुष्यादि प्राणियों की अपेक्षा बालक को सङ्ग का फल बहुत ही शीघ्र होता है, जिस भूमि में घास-फूस आदि कुछ उगा हुआ विद्यमान होता है उस भूमि में द्वितीय पदार्थ बहुत परिश्रम से उगता है, ऐसे ही जिन तरुण मनुष्यों के अन्तःकरणरूप भूमि में अनेक पदार्थों के ज्ञान के संस्काररूप घास-फूस आदि विद्यमान होने से उनके अन्तःकरण में सङ्ग के प्रभावरूप वृक्ष का प्रादुर्भाव शीघ्र नहीं होता परन्तु सर्वसंस्काररहित बालकों के शुद्ध अन्तः-करणरूप भूमि संग के प्रभावरूप वृक्ष की शीघ्र ही उत्पत्ति हो जाती है, आप ने विचारा होगा कि जिस देश में बालक उत्पन्न होते हैं उस देश की भाषा उनको स्वतः आ जाती है, जैसे दस वर्ष के बालक को अन्य देश में भेज देवे तो उसको दूसरे देश की भाषा भी शीघ्र आ जाती है, परन्तु यदि किसी वृद्ध पुरुष को वा युवा पुरुष को भेजा जाय, तो उनको भाषा आनी कठिन है, अस्तु इस सम्पूर्ण विश्व में देखिये बालकों के आचरण भी बहुधा माता-पिता के सदृश ही होते हैं, मुसलमानों के बालक जब कभी परमात्मा का नाम लेंगे तो या अल्ला या खुदा ही पुकारेंगे, हिन्दुओं (आर्यों) के बालक जब परमात्मा का नाम लेंगे तो हे परमात्मन् हे परब्रह्म इत्यादि नाम लेंगे, एवं उन बालकों के सब आचरण भी बहुधा उनके माता-पिता के सदृश ही होते

हैं, इस से यह वार्त्ता सिद्ध हुई कि बालकों के नीति शिक्षण के लिये माता-पिता के परम शुद्ध आचरणों की बड़ी भारी आवश्यकता है, माता-पिता को अति उचित है कि वे अपने बालकों को उत्तमोत्तम आचरण करके दिखावें और उत्तमोत्तम आचरणों का उन को शिक्षण करें और उत्तम आचरणों से होनेवाले वर्त्तमान और भावी लाभों को यह दुष्टाचरणों से होनेवाली हानियों को बालकों को सम्यक् दर्शा देवें, बालकों के नीति व अनीति के शिक्षण द्वारा उत्तमाधम आचरणों का फल बालकों को तथा बालकों की माता-पिता, भ्रातादिक को ही नहीं होता, किन्तु बालकों के आचरणों का प्रभाव सम्पूर्ण संसार पर होता है, यदि सब बालकों को उत्तम नीति शिक्षण मिले, और वे सब धर्मात्मा हो जायें, तो मानो सब जगत् ही धर्मात्मा हो गया। जो माता-पिता आचार्य्य बालकों की शिक्षा की ओर ध्यान नहीं देते, वे सम्पूर्ण विश्व के शत्रु हैं, जिन बालकों के सुधरने से सहित कुटुम्ब के संसार का, सुधार जिनके बिगड़ने से संसार का बिगाड़ तथा भावी मानव-समाज के मुख्य कारण उन बालकों के सुधारने की ओर माता-पिता का ध्यान न होना, इससे अधिक और क्या हानि होगी ? वृहदारण्यकोपनिषद् में प्रतिपादन किया है कि:—

पुत्रमनु शिष्टम् लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशास्ति ॥१७॥

वृ० अ० ३ ब्रा० ५

शिक्षित पुत्र अपना व संसार का हितकारक होता है, इसलिये अपनी सन्तति को माता-पिता शिक्षा देतेहैं। अस्तु महाराष्ट्र (मरहठी) भाषा में लड़कों का नाम मूला और लड़की का मूली हैं, ये नाम वास्तव में ठीक हैं, क्योंकि मनुष्य-समाज का मूल कारण यथार्थ में लड़के लड़कियाँ ही हैं। हमारे इस देश के अनेक अविचारी, पक्षपाती, अदूरदर्शी, दयाशून्य माता-पिता लड़कों की तो कुछ सेवा करते हैं, परन्तु लड़कियों को तो वे बहुत ही कुदृष्टि से देखते हैं, उनको भोजन-वस्त्र अच्छे नहीं देते, उनका सर्वथा अपमान करते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु कन्याओं का होना ही वे अपना दुर्भाग्य समझते हैं। अत: कन्याओं को एक अक्षर भी नहीं पढ़ाते। इन कन्याओं पर जो अत्याचार हुआ, वा होता है, इसके लिखने से हृदय विदीर्ण होता है, और लेखनी कम्पायमान होती है। हा! हिंसक मनुष्यों ने तो सहस्रों कन्याओं का वध कर दिया, एवं अनेक प्रकार के दुःख इन बिचारियों को दिये हैं, और अब भी अविचारी पुरुष इनको दु:ख देते हैं। किंबहुना यथोचित् भोजन वस्त्र का भी पुत्र के समान इनका हक़ नहीं मानते, एवं पक्षपात से अनेक प्रकार के दु:ख इनको देते हैं, जिन का वर्णन नहीं हो सकता, परन्तु कन्याओं का अनादर करने और सेवा न करने से इस देश की बड़ी हानि हुई है, क्योंकि बालिकायें मनुष्य-समाज की खानें (आकर)

हैं, इनका प्रीतिपूर्वक पालन-पोषण, शिक्षण पुत्रवत् न होने से मनुष्य-समाज की उन्नति कदापि नहीं होगी। मन्वादि धर्मशास्त्रों में पुत्र और पुत्री इन दोनों की अनेक अंशों में समानता मानी हैं। देखो:—

*-यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ॥१३०

मनु० अ० ९।

जैसा पिता अपने आत्मा को समझे, ऐसे ही पुत्र को समझे, और जैसे पुत्र को समझे, वैसे ही दुहिता (कन्या) को समझे। मनुष्यों को उचित है, कि पुत्र और पुत्री को समान मानें और इन दोनों में किसी प्रकार की भेदबुद्धि न करें, किन्तु दोनों का समान रक्षण-शिक्षण, आदर-सत्कारादि करें। बालकों को नीति-शिक्षण न मिलने से भी बालक बिगड़ जाते हैं, और सृष्टिक्रम के विरुद्ध नीति-शिक्षण मिलने से भी बालक बिगड़ जाते हैं। शिक्षण न मिलने से बालकों के बिगड़ने का उदाहरण अनाथ बालक व जंगली लोगों के बालक हैं, एवं सृष्टिक्रम के विरुद्ध शिक्षण से बिगड़े हुए बालकों के उदाहरण धनाढ्य लोगों में व अन्यान्य लोगों में भी होते हैं—जैसे किसी बालक के माता-पिता अपने बालक को, जैसा वह भोजन कराना

---

* यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ॥ २ ॥ भा० अनुशा० प० अ० ४४।

चाहता है, वैसा रोग होने के भय से वा अन्य किसी निमित्त विशेष से उसको भोजन खाने को और कपड़ा पहिनने को नहीं देते, एवं खेलने-कूदने बाहर जाने-आने और किसी वस्तु को देखने भी नहीं देते। प्रयोजन यह है कि जो बालक करना चाहता है, माता-पिता उसको कुछ भी नहीं करने देते, किन्तु एक प्रकार की क़ैद (कारागार) में उसको रखते हैं। उस बालक के मन में खाने-पीने, ओढ़ने-पहिनने, खेलने-कूदने, देखने-भालने-आदि की जो-जो उमंगें उठती हैं, वे-वे भूमि में पिघली हुई धातु की वाष्प (भाफ) के समान सब उसके मन की मन में ही एकत्र होतीं जाती है। धातु की भाफ जब बहुत बढ़ जाती है, तब अवकाश पाकर एक साथ भूमि को फाड़कर बाहर निकल आती है, और उस स्थान के नगर, उपवन, वाटिका-आदि का नाश कर देती हैं, ऐसे ही उस बालक के उमंग (मनोर्थ) रूप भाफ इकट्ठी होतो-होती, जब वह बालक कुछ बड़ा होता है और उसको स्वाधीनरूप अवकाश मिलता है, तब एक साथ मन की उमंग बाहर निकालता है, और घर के रुपये-पैसे, गहना-गांठा (आभूषण) जमीन, जगह, जायदाद सब बेच-बाच उड़ाकर अपने मन की उमंग पूरी करता है, उसको देखकर माता-पिता रोते हैं, और छाती पीट-पीट के कहते हैं, कि हाय! हमने इसको इतनी शिक्षा दी, परन्तु इसको कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ, किन्तु शिक्षा

से उल्टा लड़का बिगड़ गया, और उसका फल यह हुआ, कि सब माल-दौलत लुटाकर घर का सत्यानाश कर दिया बस ऐसी दशा होने से वे अड़ोसी-पड़ोसियों के आगे शिक्षा की निन्दा करते हैं, और रो-रोकर छाती पीटते हैं, और दुःखित होते हैं, परन्तु वे अपने उस दोष को नहीं जानते, जो कि सृष्टिक्रम के विरुद्ध लड़के को खेलने-आदि से रोक कर उसको एक प्रकार की क़ैद की थी उसका यह फल है, अस्तु हमारा कथन यह है कि सृष्टिक्रम से विरुद्ध शिक्षण होने से ऐसे-ऐसे भयंकर दुष्ट परिमाण होते हैं।

मर्यादे पुत्रमाधेहि तं त्वमागमयागमे ॥ २ ॥

अथर्व० कां० ६ अनु० ८ व० ८१।

परमात्मा आज्ञा देता है। कि हे मनुष्यो ! तुम उत्तम वेदादि सद्विद्याओं की शिक्षा से अपने पुत्र को नीतिनिपुण करके मर्यादा * में नियुक्त करो।

इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि बालकों को ईश-मर्यादा, स्वात्ममर्यादा, राज्यमर्यादा, भूतमर्यादा आदि सब प्रकार की मर्यादाओं का उपदेश कर देवै जिससे बालक सर्वदा सुखी रहें, वे मर्यादा ये हैं जैसे १ ईशमर्यादा वेदद्वारा परमात्मा ने मनुष्यों को जो-जो आज्ञायें दी हैं उनका

---

* सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षु ॥ ६ ॥ ऋ० अष्ट० ७ अ० ५ व० ३२ मं० ६, तथा निरुक्त पू० ष० अ० ६ पाद ४ खं० ४ में देखो।

सृष्टिक्रम के अनुकूल पालन करना आदि, २ स्वात्ममर्यादा यह है कि:—

> यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
> तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतन्तु वर्जयेत् ॥१६१॥
>
> मनु० अ० ४ ।

जिस कर्म के करने में आत्मा को सन्तोष हो अर्थात् जिस कर्म को आत्मा सत्य समझता है और जिसके करने से आत्मा का कल्याण होवे उस कर्म को करना और आत्मा से विरुद्धाचरण कदापि न करना चाहिये, ३ राज्य के जो जो नियम अर्थात् कायदे कानून हैं उसके विरुद्ध आचरण न करना व सद्राज्यद्रोही न होना आदि, ४ जो जो सत सामाजिक नियम हैं उनके अनुकूल वर्त्ताव करना, ५ जो भूत प्राणी हैं उनके गुण कर्म स्वभाव को जानकर उन से उत्तम कार्य लेना और उन दीन प्राणियों को दुःख न देना आदि, एवं झूठ, कपट, छल, फरेब, ईर्ष्या, रागद्वेष असूया, मानमद, म्दभाहङ्कार, हिंसा, व्यभिचार, स्तेय, द्यूत, मद्य, माँस, भाँग, तमाखू, गाँजा, अफीम, चरस, दुर्व्यसन, कुसङ्गादि को परित्याग कर और उत्तमोत्तम नीति की शिक्षा देना आदि अनेक प्रकार की मर्यादायें हैं वे सब बालकों को सिखा देवें तथा बैठना, उठना, चलना, फिरना, खना, पीना, वार्त्तालाप करना, व माता-पिता, गुरु, आचार्य, भ्राता-भगिनी व अन्यान्य छोटे-बड़ों के साथ

यथोचित वर्त्ताव करना आदि अच्छी प्रकार सिखा देवें, तथा जो मनुष्यों के ६ कर्त्तव्य हैं वे भी सम्यक् बता देवें, तथा देशाभिमान देशहित की बातें बालकों के चित्त में जमा देवें और ये संस्कार बालकों के अन्तःकरण में दृढ़ जमा देवें कि जगत् में जितने पदार्थ हैं वे सब उद्योगसाध्य हैं, आलसी बनकर प्रारब्ध के भरोसे पर बैठने से कोई भी पदार्थ नहीं मिल सकता, बालकों के मन में कर्त्तव्यबुद्धि उत्पन्न कर देना यह माता-पिता का मुख्य कर्त्तव्य है, कर्त्तव्यबुद्धि उत्पन्न कर के पदार्थों के गुण, उनका परस्पर साधर्म्य वैधर्म्य तथा आपेक्षित पदार्थों की प्राप्ति का उपाय आदि भी यथावत् दर्शा देवें तथा आपत्ति पड़ने पर किस प्रकार निर्वाह करना व जिस से कदापि आपत्ति मनुष्य पर न आवे किन्तु निरन्तर विजय ही प्राप्त होती जाय आदि सर्व व्यवहार बालक को सिखा देवें तथा धूर्त्त दुष्ट मनुष्यों व क्रूर प्राणियों से बचने का उपदेश अच्छी प्रकार से कर देवें, एवं बालक स्वार्थी, निर्दयी, कृतघ्नी, निर्लज्ज, दुराचारी और संसार के हानिकारक न होवें ऐसा उपदेश व अन्यान्य आवश्यक शिक्षण भी उनको कर देवें यह सब शिक्षण मानसिक शक्ति की योग्यतानुसार करना समुचित है, जिन बालकों के माता-पिता बालकों को शिक्षण नहीं देते वे बालक भी सुशिक्षित नहीं हो सकते, चाणक्य नीति में प्रतिपादन किया है कि:—

पुत्राश्च विविधैः शीलैर्नियोज्याः सततं बुधैः ।
नीतिज्ञाः शीलसम्पन्ना भवन्ति कुलपूजिताः ॥१०॥
चा० नी० अ० २ ।

माता पिता बालकों को नाना प्रकार के सुशिक्षणों से शीलयुक्त करें जिससे वे कुल में पूज्य हों, एवं हितोपदेश में भी लिखा है कि:—

मातृपितृकृताभ्यासो गुणितामेति बालकः ।
न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः ॥३७॥
माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥३८॥
हि० प्र० ।

माता-पिता के शिक्षण देने से ही बालक सुशिक्षित होता है गर्भ से बाहिर आने मात्र से बालक गुणी नहीं हो सकता, जिन माता-पिता ने बालक को नहीं पढ़ाया वे माता-पिता उस बालक के शत्रु हैं तथा जैसे हंसों में बक शोभा को प्राप्त नहीं होता ऐसे ही विद्वानों में अनपढ़ बालक शोभा को प्राप्त नहीं हो सकता, वास्तव में बालक की माता वह है किः—

पुत्रापराधान् क्षमते या पुत्रपरिपोषिणी ।
सा माता प्रीतिदा नित्यं कुलटान्यातिदुःखदा ॥२५४॥
शु० नी० अ० ३।

जो पुत्र के अपराधों को क्षमा करके शारीरिक व मानसिक रक्षण व शिक्षण द्वारा बालक का पोषण करती है, वही माता है और जो माता अपनी सन्तान को उत्तम शिक्षा नहीं देती, वह माता कहाने योग्य नहीं, एवं:—

विद्यागमार्थं पुत्रस्य वृत्यर्थं यतते च यः ।
पुत्रं सदन्साधु शास्ति प्रीतिकृत् स पिताऽनृणी ॥२५५

शु० नी० अ० ३ ।

पिता वह है कि जो पुत्र को विद्या पढ़ाने के लिये व जीविका के लिये निरन्तर प्रयत्न करता है और जो उत्तमोत्तम पुत्र को शिक्षण देता है वही पिता अनृणी है अर्थात् वही पिता के कर्त्तव्यों से उत्तीर्ण होता है और जो पिता बालकों को पढ़ाता नहीं उसके बालक उस माता-पिता को सर्वदा दुःखदा होते हैं, जैसे पञ्चतन्त्र में लिखा है कि:—

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रप्रशासितः ।
तद्गृहं क्षयमायाति भार्गवो हीदमब्रवीत् ॥६३॥

पञ्चतन्त्र ५ ।

जिस घर में स्त्री और बालक पढ़े हुए नहीं हैं और जिस घर में जुआरी (जुआ खेलनेवाला) रहता है वह घर शीघ्र ही नष्ट होजाता है, किम्बहुना (पुत्रः शत्रुरपण्डितः २१ हि० प्र०) अविद्वान पुत्र माता-पिता का शत्रु होता है, जो माता-पिता अपने बालकों को नहीं पढ़ाते वे जन्म-भर

दुःखी रहते हैं और उनके बालक भी आजन्म दुःखी रहते हैं, अतएव माता-पिता को समुचित है कि अपना और बालकों का मनुष्य-जन्म सुधारने के लिये बालकों को शिक्षा अवश्य देवें, हम प्रथम लिख आये हैं कि जैसे-जैसे माता-पिता के आचरण व बर्त्ताव बालक देखते हैं वैसे-वैसे आचरण व बर्त्ताव बालक भी करते हैं इस कारण से माता-पिता आदि सब मनुष्य बालकों के साथ तथा गृह के सब मनुष्य परस्पर सत्शास्त्रोक्त उत्तम बर्त्ताव करें, जैसेः—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शांतिवान् ॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥

अथर्व० कां० ३ अनु० ६ व० ३० ।

परमात्मा उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! तुम सब माता, पिता, पुत्र, भाई, बहिन, पति, पत्नी, आदि सब परस्पर एक दूसरे के अनुकूल बर्त्ताव करो तथा प्रीतिपूर्वक आपस में मधुर कल्याणप्रद सम्भाषण करो, और प्रेम-पूर्वक आपस में बर्त्तो, परस्पर विरोध कदापि मत करो, क्योंकि स्त्री-पुरुष का परस्पर कलह होने से बड़ी हानि होती है, इसलिये वेद में कहा है किः—

यथा सूर्य्यो नक्षत्राणामुद्यं स्तेजांस्याददे ।

एवा स्त्रीणाञ्च पुंसाञ्च द्विषतां वर्च आददे ॥ १ ॥

अथ० कां० ७ अनु० १ व० १३।

जैसे उदय होता हुआ सूर्य्य नक्षत्र (तारों) के प्रकाश को हरण कर लेता है, ऐसे ही परस्पर विरोध व द्वेष करते हुए स्त्री-पुरुषों के तेज को आपस का विरोध नाश कर देता है।

समितथ्ंसंकल्पेथाथ्ंसंप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ।
इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ ५७ ॥

य० अ० १२।

विवाहित स्त्री-पुरुषों को चाहिये, कि परस्पर समान बर्त्ताव रक्खें, तथा परस्पर विभित्सित वचनादि कुव्यवहारों को त्यागकर प्रेमभाव से बर्तें, एवं विषयाशक्ति आदि निन्दित कर्मों को छोड़कर शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि-आदि से दम्पति को देदीप्यमान रहना चाहिये, और परस्पर वैमनस्य आदि से रहित होकर मैत्री-भाव रक्खा करें। विद्या व स्वच्छ वस्त्रादि से सुशोभित हुए अपनी उत्तम इच्छा और पराक्रमों को समर्थ अर्थात् वृद्धिङ्गत करते रहें; एवं मनुजी ने भी कहा है कि:—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरौ ॥१०२॥

मनु० अ० ९।

स्त्री-पुरुष ऐसा यत्न करें, कि जिसमें आपस में किसी प्रकार का द्वेष न होने पावे। जो-जो द्वेष होने की बातें हों, उनको सर्वथा परित्याग करें, और परस्पर मिलकर धर्मादि कार्यों को सिद्ध करते रहें, इस देश में बहुधा अज्ञ मनुष्य बहुत ही दुःख देते हैं, और उनको अपने पैर की जूती के समान समझते हैं, परन्तु यह बात शास्त्र-विरुद्ध और महा हानिकारक है, जैसा स्त्री के ऊपर पुरुष का जितना सत्व (हक) है, उतना ही पुरुष के ऊपर स्त्री का हक़ है। जो पुरुष स्त्री के सत्व की अपेक्षा स्त्री पर अपना अधिक सत्व समझता है वह सर्वथा अन्यायी है, क्योंकि न्याय हमको यह वार्ता दर्शाता है कि स्त्री-पुरुषों का परस्पर समान हक़ है, और वेदादि सत्शास्त्रों ने भी स्पष्ट आज्ञा दी है कि:—

गृहपत्नी यथासौ ॥ ७५ ॥

अथर्व० कां० १४ अनु० व० १४।

जैसे पुरुष गृह का पति है, ऐसे ही स्त्री भी गृह-पत्नी अर्थात् गृह की स्वामिनी है, तथा मन्वादि ❀ धर्मशास्त्रों से भी यही ज्ञात होता है कि स्त्री-पुरुष दोनों ही समान हैं, जैसे:—

यो भर्त्तासा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥ मनु० अ० ९।

❀ मनुस्मृति में प्रक्षिप्त श्लोकों द्वारा स्त्रियों के हक़ छीने गये हैं, परन्तु मनुजी का आशय स्त्रियों के हक़ छीनने का नहीं हो सकता।

जो भर्त्ता है वही स्त्री है, अर्थात् स्त्री-पुरुष दोनों एक ही हैं, एवं जैसे स्त्रियों के लिये पुरुष पूजनीय हैं, ऐसे ही पुरुषों के लिये स्त्रियें भी पूजनीय हैं, जैसेः—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥५५॥
मनु० अ० ३।

पिता, भ्राता, पति और देवर-आदि सर्व पुरुष स्त्रियों का भोजन वस्त्राभूषणादि से सर्वदा पूजन* अर्थात् सत्कार किया करें—

शोचन्ति जामयो† यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥५७॥
मनु० अ० ३।

जहाँ स्त्रियें चिन्ता से व्याकुल रहती हैं, उस कुल का नाश हो जाता है, और जहाँ स्त्रियें प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता जाता है, इसलिये स्त्रियों ‡ का सदा

---

* स्त्रियों का पूजन गन्धाक्षत से करना नहीं लिखा है, किन्तु उनको सदा सर्वदा सर्व पदार्थों से प्रसन्न रखना ही स्त्री का पूजन है।

† जामि नाम भगिनी, पुत्री, पत्नी, पुत्रवधू-आदि स्त्रियों का है।

‡ पत्नीमूलं गृहं पुंसां यदि छन्दोऽनुवर्तिनी।
गृहाश्रमसमं नास्ति यदि भार्य्या वशानुगा॥
तयाधर्मार्थमोक्षाणां त्रिवर्गफलमश्नुते ॥१॥ दक्ष० स्मृ० अ० ४

ही सन्मान करना चाहिये। इनको कभी दुःख न देवे, क्योंकि:—

प्रजानार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥२६॥
मनु० अ० ९ ।

सन्तानोत्पत्ति स्त्री से ही होती है, इस कारण से स्त्री बड़ी उपकार करनेवाली होने से यह पूजनीय है, और स्त्री गृह की शोभा है, लक्ष्मी में और स्त्री में कुछ भी भेद नहीं है, जैसे लक्ष्मी (धन) गृह की शोभा का हेतु है, ऐसे ही स्त्री भी गृह की शोभा की हेतुभूत है, तथाः—

अपत्यं धर्मकार्य्याणि सुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा* स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥२८॥
मनु० अ० ९ ।

पुत्रोत्पत्ति, धर्मकार्य्य, सेवा-सुश्रूषा, सुख व प्रीति ये सब स्त्री के आधीन ही हैं, इसलिये स्त्री को सर्वता प्रसन्न रक्खे, जैसे स्त्रियों से पुरुष निष्कपट प्रीतिपूर्वक बर्त्ताव करें, ऐसे ही स्त्रियें भी पति से निष्कपट भाव से प्रीति-पूर्वक बर्त्ताव करें। यद्यपि माता, पिता, भ्राता, पुत्र-आदि कुटुम्बी सभी स्त्रियों के हितकारक हैं, परन्तु इन सब से

---

* दाराधीनाः क्रियाः सर्वा, दाराः स्वर्गस्य साधनम् ॥१॥
कश्य० स्मृ० ।

स्त्री को पति अधिक सुखदाता है, जैसे सीता ने कौशल्या से कहा है, कि:—

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य तु दातारं भर्त्तारं का न पूजयेत् ॥३०॥

बाल० रा० अयो० कां१ स० ३९

पिता, भ्राता, सुत-आदि सब थोड़ा-थोड़ा सुख दे सकते हैं, परन्तु भर्त्ता तो स्त्री को अनन्त सुख देता है। जो अनन्त सुख देने वाले भर्त्ता की सेवा नहीं करती, उसके सदृश और कौन दुर्भागिनी स्त्री होगी ? इस विषय में हितोपदेश में लिखा है कि:—

सा भार्य्या या गृहे दक्षा सा भार्य्या या प्रजावती ।
सा भार्य्या या पतिप्राणा सा भार्य्या या पतिव्रता १९६

हि० प्र० १।

स्त्री उसको कहते हैं, जो गृह-कार्य्यों में दक्ष (चतुर) हो, व अबन्ध्या, पति को प्रिय और पतिव्रता हो। स्त्री का मुख्य कर्तव्य यह है, कि पति की इच्छा व धर्म से विरुद्ध कुछ भी न करे, एवं पति भी पत्नी की इच्छा तथा धर्म के विरुद्ध कुछ भी न किया करे, तथा:—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्य्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्ययं चामुक्तहस्तया ॥१५०॥

मनु० अ० ५

स्त्री सदा ही प्रसन्नता से गृह के कार्य्यों को प्रीतिपूर्वक करे। धनिक पुरुषों को छोड़कर अन्य सर्व साधारण पुरुषों के गृह में स्त्रियें ही भोजन (पाक) बनाती हैं, वे ही पात्रमंजन करती हैं, वे ही दाल-चावलादि अन्न में से कङ्कर मिट्टी-आदि निकालती हैं, इसलिये इन सब कार्यों को बड़ी चतुरता से किया करें, व जैसे कोई स्त्री उड़ाऊ-खाऊ होती है, ऐसा न होना चाहिये, किन्तु सर्व पदार्थों का व्यय युक्ति से किया करे। स्त्री-पुरुषादि सर्व गृह-निवासियों को उचित है, कि:—

सांवत्सरिकमायं संख्याय तदनुरूपं व्ययं कुर्य्यात् ३१

वा० कामसूत्र अ० २१।

संवत्सर (साल) भर का आय (आमदनी) देख कर व्यय (ख़र्च) करना चाहिये। अनेक मूर्ख मनुष्य बिना समझे-बूझे ऐसे आराम के लिए अपने पर ऋण कर लेते हैं। कितनेक लड़के-लड़कियों के विवाह-आदि के लिये, कितनेक माता-पिता के द्वादशा आदि के लिये, एवं अन्यान्य निमित्तों से भी ऋण कर लेते हैं, परन्तु जब ऋण का ब्याज (कुसीद) बढ़ने लगता है, तब उससे गृह के सर्व पदार्थों को बेचकर अन्त में घर भी बेच देते हैं और जब ऋण (कर्ज़) से ऐसी दशा हो जाती है, पुनः वे लड़के आदि को कहते हैं, कि यह दुःखदाई है इसका विवाह करने से हमारी ऐसी दुर्दशा हुई, ऐसे-ऐसे कटु-वाक्यों से वे आप

भी दुःखी होते हैं, और पुत्रादि को भी दुःखी करते हैं, परन्तु वे अपनी इस मूर्खता को नहीं जानते हैं कि हमने अपने हाथ से कर्जा निकाल कर लड़के के विवाह में रुपये खर्च किये हैं किन्तु लड़के ने अपना विवाह करने को नहीं कहा था क्योंकि वह तो ग़रीब छोटा होने के कारण जानता ही नहीं कि विवाह किस वस्तु का नाम है, केवल माता पितादि स्वमूर्खता से ऋण निकाल कर ऐसे-ऐसे कुकर्म कर बैठते हैं कि जिससे आजन्म दुःखी * बने रहते हैं, मनुष्य के लिये ऋण (कर्जा) लेना ऐसा दुःखदायक है कि जैसे कोई निर्बुद्धि मनुष्य स्वयं अपना मस्तक छेदन करे वा जान कर कूप में गिर पड़े अथवा जैसे कोई मूर्ख पुरुष तमाशा देखने के वास्ते कुचेष्टा कर के कैद में फँस के अपनी आज़ादी (स्वतन्त्रता) को खो बैठता है, ऐसे ही ऋण लेनेवाला मूर्ख भी अपनी स्वतन्त्रता व अपने पवित्र जीवन को दूसरे के हस्तगत करके असंख्य दुःखों का अनुभव करता है और सुकर्मजन्य सांसारिक भोगों से सर्वदा के लिये वंचित रहता है। जो मनुष्य दूसरे से ऋण लेता है वह तेज, मान्य, स्वातन्त्र्य, गौरव तथा सुखादि से रहित होकर निरन्तर दूसरों का दास बना रहता है और किसी प्रकार का संसारोपयोगी कार्य भी वह नहीं कर

---

* लोकेषु निर्धनो दुःखी ऋणग्रस्तस्ततोऽधिकम् ।। सु० भा० प्र० ३ ।।

सकता। ऋण से क्या-क्या हानियें होती हैं, इसको कौन अनुभवी पुरुष न जानता होगा? इस दुष्ट ऋण के प्रभाव से किसी का घर नीलाम होता है, किसी के आभूषण और किसी का राज्य नीलाम होता है। इसी निन्दित कर्म से सहस्रों के दिवाले निकलते हैं, अदालत में मारे-मारे फिरते हैं, कागज़ (इष्टाम्प) वकील साक्षी आदि खर्च भी ऋणी को ही देना पड़ता है इससे प्रतिदिन मनुष्य दीन होते जाते हैं और देश में दरिद्रता बढ़ती जाती है जिससे मनुष्य सर्वदा दुःखी बने रहते हैं, इस दुःख से बचने के लिये ईश्वर ने आज्ञा दी है कि:—

परं ऋणा सावीरधमत्कृतानि
माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्। ९ ऋ० अ० २ अ० ७ व० १०

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ३ अथ० कां० ६ अनु० १२ व० ११७

मनुष्यों को इस लोक और परलोक में निरन्तर अनृणी रहना चाहिये अर्थात् किसी का कर्ज़दार न होना चाहिये, ऐसा ही गोपथ ब्रा० में भी लिखा है कि: –

अनृणी भूत्वा स्वर्गं लोकमेति ८॥ गो० प्र० ४३।

अनृणी (कर्ज़ को न लेनेवाला) ही मनुष्य सुख को प्राप्त होता है, ऋण केवल ऋण लेने वाले को ही दुःख का हेतु नहीं होता है किन्तु उसकी सन्तति को भी दुःखित

करता है, इसलिये नीतिकारों का कथन है कि:—

ऋणकर्त्ता पिता शत्रुः ॥११॥ चाण० नी० अ० ६।

ऋण (कर्ज) करने वाला पिता शत्रु के समान है, इस कारण पिता को उचित है कि ऋण को न लेकर वेदानुसार:—

पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत ॥४३॥

अथ० कां० १८ अनु० ३ व० १७।

अपने पुत्रों को कुछ धन अवश्य देवें और ऋण से सर्वदा बचे रहें, इस ऋणरूप महारोग की परमौषधि यही है कि मनुष्य को अपनी आय (आमदनी) से खर्च (व्यय) कम (न्यून) करना चाहिये। ऋणी प्रायः वे ही लोग होते हैं जो अपनी आय से अधिक व्यर्थ व्यय किया करते हैं, मनुष्यों को अपने साधारण अन्न वस्त्रादि से निर्वाह करना अति उत्तम है परन्तु दूसरे से कर्ज लेकर जगत् को लिफाफा (भभका) दिखाना व पर द्रव्य पर आनन्द करना नीच प्रकृति के मनुष्यों का कार्य है और प्रत्येक व्यक्ति को उचित है कि वे भविष्य वार्त्ता का भी विचार किया करें, जैसे कि कोई मनुष्य नौकरी वा व्यापार करता है परन्तु कोई समय ऐसा आ जाय कि वह नौकरी वा व्यापार न कर सके अथवा कोई रोग ऐसा हो जाय कि जिससे सर्व कार्य छोड़कर खट्वा का ही आश्रय लेना पड़े उस समय में अपना व कुटुम्ब का पोषण किस रीति से होगा व और

ऐसी ही कोई आपत्ति आ पड़ी तो मेरे पास क्या साधन है कि जिससे मैं उन आपत्तियों को दूर कर सकूँगा इत्यादि भविष्यत् बातों का विचार करके इसका प्रबन्ध भी अवश्य करें, संसार में जितने उत्तम कार्य देखने में आते हैं वे उन ही मनुष्यों के किये हुए हैं कि जो अपनी आमदनी (आय) से कुछ द्रव्य बचाते रहे हैं। जो मनुष्य जितना कमाते हैं उतना उड़ा देते हैं, वे मनुष्य कभी भी अधम स्थिति से उन्नति की दशा में नहीं आ सकते, इसलिये प्रत्येक को उचित है कि अपनी आय से अधिक व्यय* कभी न करके भावी सुख के लिये अन्नादि पदार्थों का सञ्चय करें, जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषत् में लिखा है कि:—

तस्माद्यया कया चापि विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् ॥१॥

तै० अनु० ९ भृगुवल्ली।

जैसे हो वैसे ही बहुत अन्न एकत्र करें, इसी प्रकार मनुस्मृति में भी लिखा है कि:—

कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ७

अनु० अ० ४।

---

* न विषं विषमित्याहुऋर्णं हि विषमुच्यते। एकाकिनं हन्ति विषमृणं पुत्रप्रपौत्रकान्। विष को विष नहीं कहा है किन्तु ऋण को ही विष कहते हैं, विष केवल खाने वाले को ही मारता है, परन्तु ऋण पिता पुत्र पौत्र आदि सभी का नाश करता है।

गृहस्थ को योग्य है कि भृत्यवर्ग के सहित सब कुटुम्ब का पालन-पोषण तीन वर्ष तक जितना हो सके उतना अन्न (कुशूल) कोठी में अवश्य रक्खे, यदि ३ वर्ष की योग्यता न होय तो एक वर्ष भर के निर्वाहयोग्य धान्य रक्खे, यदि बहुत ही दीन (ग़रीब) हो तो तीन दिन वा एक दिन के भोजनयोग्य अन्न तो घर में अवश्य ही रक्खे, इन सब में उत्तम पत्त यही है कि तीन वर्ष तक निर्वाह करने योग्य धान्य रखने का है और एक वर्ष तक धान्य सञ्चय का मध्य पत्त है, बाकी तीन दिन और एक दिन के निर्वाह करने योग्य धान्य सञ्चय करने का पत्त तो अधम और अधमाधम प्रतीत होता है, इस कारण से गृहस्थ को समुचित है कि जहाँ तक हो सके दो-तीन वर्ष वा एक वर्ष भर निर्वाह योग्य अन्न का सञ्चय अवश्य करें क्योंकि बहुधा दो-दो तीन-तीन वर्ष तक एक साथ दुर्भित्त पड़ जाते हैं उस समय में अन्न के अभाव से अनेक मनुष्य मर जाते हैं, यदि सब मनुष्य ऐसे ही अन्न का सञ्चय करें तो पुनः दुर्भित्तजन्य मृत्यु का भय मनुष्यों को न रहे, जो लोग दीन हैं वे तीन वर्ष के वा एक वर्ष के निर्वाह योग्य अन्नोपार्जन न कर सकें तो लाचारी है, परन्तु जो लोग धनाढ्य हों उनको तो इधर की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये, जैसे धान्य का सञ्चय करें ऐसे ही तृण, काष्ठ, पात्र वस्त्रादि का सर्व आवश्यक पदार्थों का सञ्चय अवश्य करलें और

इन सब का व्यय युक्तिपूर्वक करें, व्यर्थ व्यय (फ़जूलख़र्ची) कभी न करें, एवं:—

सन्तुष्टो भार्यया* भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।६०।
मनु० अ० ३ ।

जिस कुल में दम्पति (स्त्री-पुरुष) आपस में प्रसन्न रहते हैं उसी कुल का कल्याण होता है, इसलिये स्त्री-पुरुष परस्पर सर्वदा प्रसन्न रहा करें, एवं* गृहपति को योग्य है कि:—

ऋत्विक् पुरोहिताचार्य्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।१९।
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ।१८०।
मनु० अ० ४ ।

ऋत्विग् यज्ञादि क्रियाओं का करनेवाला, पुरोहित, आचार्य, विद्यागुरु, मामा, अभ्यागत, महात्मा, अतिथि, अनुजीवी (मातेद) बालक, वृद्ध, रोगी, वैद्य (डाक्टर) ज्ञाति के लोग सम्बन्धी चचाजाद-भाई व माता-पिता सहोदर भ्राता, भगिनी, पुत्र, दौहित्र व नौकर-चाकर आदि

* सम्यग्धर्मार्थकामेषु दम्पतीभ्यामहर्निशम् । एकचित्ततया भाव्यं समानव्रतवृत्तितः ॥१॥ व्यासस्मृ० अ० २ ।

मनुष्यों से कभी कलह न करै तथा दम्पती देशोन्नतिकारक सांसारिक व पारमार्थिक कर्मों को अहर्निश करते रहैं, एवं गृहस्थ प्रतिदिन नित्य नैमित्तिकादि कर्मों को भी करते रहैं, जैसेः—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञञ्च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥
मनु० अ० ४।

ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ इन पाँच यज्ञों को मनुष्यमात्र अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रतिदिन करते रहें—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥
मनु० अ० २

पढ़ना-पढ़ाना तथा सन्ध्यावन्दनादि को ब्रह्मयज्ञ व ऋषियज्ञ कहते हैं, माता-पिता आदि की अन्न-वस्त्र आदि से सेवा करने को पितृयज्ञ कहते हैं, पितृयज्ञ अर्थात माता-पितादि की सेवा करना यह मनुष्यों का मुख्य कर्त्तव्य है क्योंकिः—

यं माता पितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि।२२७।
मनु० अ० २

मनुष्य के उत्पत्ति-समय में जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उस ऋण की निवृत्ति के लिये सैकड़ों वर्ष सेवा करने पर भी मनुष्य ऊर्ण (उत्तीर्ण) नहीं हो सकता, इसलिये:—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते । २२८ ।

मनु० अ० १

उस माता और पिता की आज्ञा पालन तथा भोजनाच्छादनादि से सर्वदा हित करना चाहिये, इसी प्रकार आचार्य्य का भी, क्योंकि माता-पिता और आचार्य्य इन तीनों के प्रसन्न होने से मानों मनुष्य सब तप कर चुका, इसी प्रकार सायंकाल और प्रातःकाल में अग्निहोत्र करने को देवयज्ञ कहते हैं, पाषाणादि पर जल पुष्पादि डालने को नहीं, संसारोपकारी गौ आदि पशुओं का लन करना यही भूतयज्ञ है, विद्वान् धार्मिक व परोपकारादि गुणान्वित श्रेष्ठ मनुष्य का सत्कार करना इसी को नृयज्ञ व अतिथि-यज्ञ कहते हैं, अतिथि सेवा का माहात्म्य वेद में भो बहुत कहा है जैसेः—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनावरुन्धे ॥ १ ॥

अथ० कां० १५ अनु० २ व० १३

जिस गृहस्थ के गृह (घर) में धार्मिक, जितेन्द्रिय, सत्यप्रिय, परोपकाररत, देशहितैषी, सत्योपदेशकर्तृत्वादि गुणभूषित विद्वान् अतिथि एक रात्रि भी निवास करता है, उस गृहस्थ को संसार के उत्तम सु की प्राप्ति होती है अर्थात् विद्वान् अथिति के सत्योपदेशादि द्वारा गृहस्थ उत्तम सुखों का भागी होता है, इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में भी लिखा है कि:—

शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यम् ।

ऐ० ब्रा० पं० १ अ० ३

अतिथि-सेवा यज्ञ का मुख्य भाग है, परन्तु जिनमें अतिथि के लक्षण न हों ऐसा अतिथ्याभासों का वाणी से भी सत्कार न करे, जैसा कि मनु ने कहा है कि:—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकाञ्छठान् ।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् । ३० ॥

मनु० अ० ४ ।

मनुष्यों को ठगने के लिये अनेक प्रकार के भेष (वेश) बनानेवाले, स्तेय व्यभिचारादि निन्दित कर्मों के करनेवाले जिनके अन्तरात्मा छल, कपट, नैर्घृण्य, लोभादि दोषों से पूरित हैं, परन्तु प्रत्यक्ष में लोगों के वञ्चनार्थ अपने को सिद्ध करनेवाले, विद्यादि उत्तम गुणों से रहित, मूर्ख समूह स्वार्थपरायण और शील-सन्तोष व साधुतादि कृत्रिम गुण दिखाकर विश्वासघातपूर्वक अपनी प्रयोजन सिद्ध करने-

वाले मनुष्यों का वचन से भी सत्कार न करें, परन्तु वर्त्तमान समय में हमको विपरीत हो व्यवहार प्रतीत होता है अर्थात् मूर्ख छली, कपटी, स्वार्थी, निरुद्यमी, अनृतवादी आदि अनेक दुष्ट मनुष्यों का मान्य और विद्वान्, धार्मिक सत्यवक्ता, उद्यमी, देशहित में अपने जीवन को समर्पण करनेवाले, ऐसे सत्पुरुषों में उदासीनता देखकर हमको परोपकारप्रिय और विद्योन्नति आदि प्रशस्त गुणों का प्रसार करने वाले ऐसे सत्पुरुषों में उदासीनता देखकर हमको बड़ा शोक होता है, यद्यपि मूर्खमण्डल ऐसा करे तो उसपर इतना शोक नहीं होता है। परन्तु साश्चर्य खेद हमको उन मनुष्यों पर है कि जो विद्वान् होकर भी ऐसा व्यवहार करते हैं, स्मरण रहे कि "टके पनसेरी सर्वधान" यह न्याय जिस देश वा जिस वर्ण में जब तक रहेगा, तब तक उस वर्ण की उन्नति भी नहीं हो सकेगी, एतदर्थमेव भारत में ऐसे व्यवहार को बड़ा पाप माना है, यथाः—

अपूज्यपूजनाच्चैव पूज्यानां चाप्यपूजनात् ।
नृघातकसमं पापं शश्वत्प्राप्नोति मानवः ॥ १७ ॥
भा० शां० प० अ० २८५

अविद्यादि दोषों से कलुषित असत्काराहं मनुष्यों के सत्कार करने से और विद्यादि गुणों से मण्डित सत्कार करने के योग्य उत्तम पुरुषों के सत्कार न करने से पुरुष को मनुष्यहिंसा के तुल्य पाप होता है, जिन मनुष्यों को

अपने देश व जाति को सर्व सम्पत्तियों का आगार और चिरस्थायी करना हो उनको "कार्य्यानुरूपं फलम्" इस न्याय का आश्रय अवश्य लेना चाहिये अर्थात् उत्तम कार्य्य कर्त्ताओं का पारितोषिकादि सत्क्रियाओं से मान और मूर्ख निरुद्यमी, दम्भी आदि दुराचारियों का सतत तिरस्कार करना चाहिये, जब तक ऐसा न किया जायगा, तब तक कार्य्यपंगु (आलसियों) का ह्रास और प्रयत्नशीलों की वृद्धि का द्वार नहीं खुल सकता, अतएव उभय कार्य्य सिद्ध्यर्थ पूर्वोक्त बर्त्ताव को अवश्य कार्य्य में लाना चाहिये, अतः उनके बालक भी स्वतः उत्तम कार्यों में प्रवृत्त होवें, जब बालक गुरुकुल-निवास के योग्य होवें तब उनको विद्याभ्यासार्थ गुरुकुल में भेज देवें, जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, वर्त्तमान समय में दम्पती बिना बिचारे प्रत्येक कार्य्य को कर बैठते हैं परन्तु वैसा न किया करें किन्तुः—

दिवसेनैव तत्कुर्य्यात् येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत्कुर्य्यात् येन वर्षाः सुखं वसेत् ।६७।
पूर्वे वयसि तत्कुर्य्यात् येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत्कुर्य्यात् येन प्रेत्य सुखं वसेत् ।६८।

महा० उद्यो० प० अ० ३६ ।

मनुष्यों को दिन में वह कार्य्य करना चाहिये जिससे कि रात्रि सुखपूर्वक व्यतीत हो, एवं आठ मास में ऐसा

कार्य्य करै जिससे वर्षाऋतु में आनन्दपूर्वक विश्रान्ति लेवै, एवं बाल्यावस्था व युवावस्था में ऐसा पुरुषार्थपूर्वक विद्याधनोपार्जनादि कर्म करे कि जिससे वृद्धावस्था में सुख से वंचित न रहे, एवं अपनी सम्पूर्ण आयु में मनुष्य को ऐसा उद्योग करना समुचित है कि जिस के द्वारा इस लोक व परलोक में निरन्तर आनन्दित रहे, बुद्धिमान् और मूर्ख में यही भेद है कि बुद्धिमान प्रत्येक कार्य्य की भावी हानि-लाभ को देखकर पुनः कार्य्यारम्भ करता है, जैसेः—

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचिंत्य कुर्य्याद्वा पुरुषो न वा ।१९।

भा० उ० प० अ० ३४ ।

इस कर्म के करने से मेरे को क्या लाभ होगा व नहीं करने से क्या हानि होगी ऐसे भाविकर्मजन्य हानि-लाभ का विचार करके मनुष्य को कर्म का करना वा न करना सुयोग्य है, एवंः—

अनुबन्धश्च संप्रेक्ष्य विपाकश्चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ।९।

भा० उ० प० अ० ३४ ।

बुद्धिमान मनुष्यों को कार्य्य के आरम्भ से प्रथम ही ऐसी मीमांसा करनी योग्य है कि अमुक कार्य्य की सिद्धि करने में मेरे पास क्या-क्या साधन हैं और मेरा सामर्थ्य

कियत् (कितना) है और इस कार्य्य का परिणाम क्या होगा ऐसा विचार करके पुनः कार्य्य की हेयोपादेयता में प्रवृत्त होना चाहिये, परन्तु मूर्ख पुरुष हानि-लाभ की ओर ध्यान नहीं देता किन्तु उसके चित्त में जो कुछ आता है वही कर बैठता है इसी हेतु से मूर्ख पुरुष सदा ही दुःखी रहता है, हम प्रथम लिख आये हैं कि गर्भाधान का अधिकारी वही है कि जो बालकों का पोषण कर सके व उनको विद्याभ्यास करा सके परन्तु वर्त्तमान समय में अनेक मूर्ख लोग इसके विरुद्ध वर्ताव करते हैं. अनेक ऐसे दीन मनुष्य हैं कि जिनके निवासार्थ गृह और भोजनाच्छादन को अन्न-वस्त्र नहीं हैं परन्तु उनके सन्तानसंख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है सन्तान अधिक होने तथा धन न होने से उनके अनेक सन्तान भूखे मर जाते हैं, अनेक चोरी आदि कुकर्म करते हैं और अनेक धर्मभ्रष्ट हो जाते हैं, धर्मभ्रष्ट हो जाने से उन दीन माता-पिता को बहुत दुःख होता है, इसलिये महर्षि यास्क ने निरु० पू० अ० २ पा० २ खं० ४ में "य ईश्चकार" इस मन्त्र की व्याख्या में प्रतिपादन किया है कि जिनके बहुत सन्तान होते हैं वे सर्वदा दुःखी * रहते

---

* यद्यपि अधिक सन्तति का होना दुःख का हेतु है ऐसे ही सर्वथा सन्तानोत्पत्ति से उदासीन होना भी शास्त्र और सृष्टिक्रम से विरुद्ध है क्योंकि सृष्टिक्रम से भी ज्ञात होता है कि सन्तानोत्पत्ति होनी चाहिये जैसे वृक्ष अपने सदृश द्वितीय वृक्ष होने के

हैं, अतः इस दुःख से बचने का उपाय करना चाहिये; यद्यपि इस दुःख से बचने के अनेक उपाय होंगे परन्तु हमको तो यही उपाय सर्वोत्तम प्रतीत होता है कि जब तक धनादि पदार्थों से स्त्री पुत्रादिकों का यथावत् पालन न कर सके तब तक ब्रह्मचर्य्य का ही सेवन करे जब अपत्यपालन में समर्थ हो तब इस मनुवाक्यानुसार सन्तानोत्पत्ति में प्रवृत्त होवे, जैसेः—

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते ।
स एव धर्म्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ।१०७।
मनु० अ० ९ ।

जिस पुत्र के उत्पन्न होने से ही मनुष्य पितृऋण से मुक्त हो जाता है और जिस पुत्र से मनुष्यों को अनन्त सुख मिलता है इस लिये यह पुत्र धर्मपुत्र कहाता है और और अन्य पुत्र कामजन्य कहलाता है, अस्तु यदि विचार से देखा जाय तो उत्तम गुणों से भूषित एक ही पुत्र श्रेष्ठ है और मूर्खता, दुष्टता, निठुरता, स्तेय, व्यभिचाराभि-

लिये बीज को पृथ्वी में छोड़ कर आप भी लीन होता है, एवं पशु-पक्षी मृग मातंग मकर मर्कट मनुष्यादि भी अपने सदृश प्राणी को अपने-अपने स्थान पर स्थापन करके पुनः इस असार संसार से बिदा होते हैं और यदि विचार से देखा जाय तो जगन्नियन्ता परमात्मा की सृष्टि में सब सृष्ट पदार्थों के बीज सर्व पदार्थों में विद्यमान है, इस अनपायिनी सृष्टि का बीज-नाश कदापि नहीं होता, बस सुज्ञ पाठक इस विषय को इतने से ही समझ लेंगे ।

चारादि दुष्ट व्यसनों से युक्त अनेक पुत्र भी हानिकारक होते हैं, जैसे नीति-शास्त्र में लिखा है कि:—

पित्रोर्निदेशवर्ती यः स पुत्रोऽन्वर्थनामवान् ।
श्रेष्ठ एकस्तु गुणवान् किं शतैरपि निर्गुणैः ॥१४॥
शु० नी० अ० ४ प्र० १

जो पुत्र अपने माता-पिता की सत्य आज्ञा में रहता है और विद्या सद्वर्त्तन आदि गुणों से युक्त है वही पुत्र वास्तव में पुत्र कहलाने योग्य है और गुण-रहित पुत्र चाहे सैकड़ों क्यों न हों, परन्तु वे निरर्थक हैं, एवं:—

वरमेकोगुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च ॥१७॥
हि० प्र० ।

जैसे एक चन्द्र अन्धकार का नाश कर देता है और तारे सब मिलकर भी तम का नाश नहीं कर सकते, एवं गुणी पुत्र एक ही श्रेष्ठ है और मूर्ख बहुत भी किसी काम के नहीं, ऐसे ही चाणक्य-नीति में लिखा है कि:—

एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन साधुना ।
आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी ॥१६॥
किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः शोकसन्तापकारकैः ।
वरमेकः कुलालम्बी यत्रः विश्राम्यते कुलम् ॥१७॥
चा० नी० अ० ३ ।

जैसे चन्द्रमा के प्रादुर्भाव होने से अन्धकार दूर हो जाता है और रात्रि शोभायमान हो जाती है ऐसे ही सच्चरित्रत् युक्त विद्वान् पुत्र भी अपने कुल को आनन्दित करता है और शोक सन्ताप आदि दुःख देनेवाले बहुत से पुत्र भी किसी काम के नहीं होते, बस इन वाक्यों से स्पष्ट विदित है कि पुत्र विद्वान् ही उत्तम होता है, इसलिये माता-पिता पुत्र को अच्छी प्रकार से शिक्षा देवें, जब बालक बाँचने-लिखने में निपुण हो जाय तब बालक को आचार्य-कुल (बोर्डिङ्गहौस) में भेज देवे, जैसा कि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में लिखा है कि:—

पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः ।
स्वरमात्राविभावज्ञो गच्छेदार्य्यसꣳसदम् ।६।

अ० २४ सू० ६ ।

अक्षर, पद, स्वरों की मात्रा अर्थात् स्वर और व्यञ्जन और उनके मिलने से जो पद बनता है इन सब को घर में ही माता-पिता के द्वारा जानने के पश्चात् बालक विश्व-विद्यालय में जाकर पूर्वोक्त प्रकार से विद्याध्यन करे, इस अपत्यसङ्गोपनरूप तृतीय कर्त्तव्य से निवृत्त होकर चतुर्थ समाज-संस्थारूप कर्त्तव्य में प्रवृत होवे, सामाजिक कार्य भी मनुष्य का आवश्यकीय कर्त्तव्य कर्म है, ऐसा प्रत्येक मनुष्य को जानना चाहिए, सामाजिक कार्य उसको कहते हैं कि जिस कार्य के करने से सर्व साधारण को सुख की

प्राप्ति होवे, इसी को सामाजिक कर्त्तव्य कहते हैं, किसी एक मनुष्य के लाभार्थ अनेक मनुष्यों की हानि करना अथवा स्वार्थवश होकर समाजोन्नति की ओर ध्यान न देकर केवल अपने ही सुख से सन्तुष्ट होना यह सामाजिक कार्य का हानिकारक होने से ऐसे कार्यों में प्रवृत्त न होवे, जो मनुष्य सर्व-साधारण के सुखोपाय में नहीं लगता * किन्तु केवल अपने ही सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करता है वह कदापि सुखी नहीं हो सकता, क्योंकि जब सम्पूर्ण देश के ऊपर किसी प्रकार की राजविग्रहादि आपत्ति आन पड़े तो क्या उस आपत्ति से वह स्वार्थी मनुष्य बच सकता है कदापि नहीं, जैसे किसी समय में दुष्कालविशेष के पड़ने से सब मनुष्य भूखे मरने लगते हैं उस समय में किसी धनिक पुरुष के समीप धन होने पर भी वह सुख-पूर्वक नहीं रह सकता, क्योंकि जिन लोगों के समीप धन नहीं है वे क्षुधातुर लोग उनके धन हरण कर लेते हैं, पुनः उनको भी अन्य मनुष्यों के सदृश दुःख भोगना पड़ता है। इस हेतु से व्यक्ति की उन्नति के अर्थ जाति को हानि करना वा व्यक्त्युन्नति की ओर ध्यान न देना यह महा हानिकारक है। जिस जाति-उन्नति के होने से व्यक्त्युन्नति स्वतः हो जाती है और जिस जात्युन्नति के न होने से हुई-हुई

---

* तृणं चाहं वरं मन्ये नरादनुपकारिणः। घासो भूत्वा पशून् पाति भीरून् पाति रणांगणे ॥४॥ सुभा० प्र० २।

व्यक्त्युन्नति * का भी ह्रास जाता है उस जात्युन्नति † का परित्याग करके केवल व्यक्त्युन्नति की ओर ही लग जाना इससे अधिक और मूर्खता क्या होगी, कितनेक बुद्धिमान मनुष्यों का ऐसा भी कथन है कि व्यक्त्युन्नति से भी जात्युन्नति हो जाती है। जैसे किसी समग्र राष्ट्र के सम्पूर्ण मनुष्य उद्योगशील होने से उन सब मनुष्यों की उन्नति हो जाने से जात्युन्नति [समाजोन्नति] आप-से-आप हो जाती है, यद्यपि यह सिद्धान्त कितनेक अंश में सत्य है। क्योंकि राज्य (राष्ट्र) के सब मनुष्य उद्योगी होने से धनाढ्य होंगे पुनः दरिद्रियों से धनाढ्यों को दुःख होने की सम्भावना न रहेगी, परन्तु विचार से देखा जाय तो सब मनुष्य उन्नतिशील होने पर भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति होने के कारण से वे अपना कार्य्य यथावत् नहीं कर सकते, जैसे किसी राज्य के सर्व मनुष्य (प्रजा) युद्धशील होने पर भी यदि भिन्नत्वेन किसी शत्रु से युद्ध करने में प्रवृत्त होवें तो उनका कदापि जय नहीं हो

* व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिः ॥६९॥ न्याय० सू० अ० आ० २

† आकृतिर्जातिलिंगाख्या ॥७०॥

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥७१॥ न्याय सू० अ० आ० २।

यहाँ जाति शब्द से मनुष्यजाति का ग्रहण करना चाहिए न्यायदर्शनकार महर्षि गौतमजी ने जाति का यही लक्षण किया है, जिनकी सामान्याकृति और समान उत्पत्ति हो उसको जाति कहते हैं, जैसे गौ अश्वादि।

सकता, जो कार्य्य समुदाय (समष्टि) अर्थात् समाज कर सकता है वह कार्य्य एकाकी (व्यष्टि) अर्थात् बिखरे हुए मनुष्य नहीं कर सकते, इस संसार की ओर ध्यान देने से स्पष्ट विदित होता है कि बिना समाज के संसार का कोई भी कार्य्य नहीं हो सक्ता जैसे उस सर्वनियन्ता सच्चिदानन्द परमात्मा ने पृथ्वी के सर्व-परमाणुओं को मिलाकर यह पृथ्वी बनाई है जो पृथ्वी आपके दृष्टिगोचर हो रही है यह केवल पृथ्वी के परमाणुओं का समुदाय (समाज) है, इसी प्रकार जल-वायु आदित्यादि भी अपने-अपने परमाणुओं का समाज (मजमूआ) है, जल के परमाणु परस्पर मिल के समाजरूप * हो जाते हैं तब वे तृषा-निवृत्तिरूप कार्य्य के करने में समर्थ होते हैं, यदि जल के परमाणु आपस में मिले हुए न हों किन्तु भाफ (वाष्प) रूप होवें तो वे तृषा की निवृत्तिरूप स्वकार्य्य को कदापि नहीं कर सकते, ऐसे ही समाज-रहित पृथिवी वायु आदित्यादि के परमाणुओं की व्यवस्था भी जानिए, जैसे शरीर के हस्त-

*पशूनां समजोऽन्येषां समाजोऽथ सधर्मिणाम् ॥४२॥ अमर कोष कां० २ वर्ग ५ जो शास्त्रों में पशुओं के समुदाय को समज और जड़ के समुदाय को राशि आदि संज्ञा उन सब पदार्थों की इसलिए रक्खी हैं कि जिससे समाज कहने से मनुष्यों को सभा का ज्ञान हो और समाज कहने से पशुओं के झुण्ड का और राशि कहने से जड़समुदाय का ज्ञान होवे, परन्तु वास्तव में इन के सम्मेलन से तात्पर्य है ।

पादादि अवयवों का परस्पर सम्बन्धरूप समाज जब-तक है तब-तक मनुष्य सर्व व्यवहार कर सकता है यदि हस्तादि अवयव सब अलग-अलग कर डालें तो इन का समाज न होने से मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता, यदि मनुष्यों में दरजी, खाती, लुहार, सुनार, सिलावट, ठठेरा, तेली, जुलाहा, मोची, बनिया, डाक्टर, मास्टर आदि समाज न होय तो क्या ? एक मनुष्य दरजी, धोबी, तेली, तमोली, आदि सब मनुष्य समाज का कार्य्य कर सकता है कदापि नहीं, जब-तक मनुष्य अपना समाज नहीं बनाते तब-तक मनुष्यजाति की यथावत् उन्नति नहीं हो सकती, देखिए पशु-पक्षी आदि प्राणी भी सब अपना-अपना समाज बनाकर अपनी रक्षा व जात्युन्नति करते हैं, किसी एक वानर पर कोई प्रहार करता है तो उसी क्षण में सब-के-सब मर्कट एकत्र होकर प्रहार करनेवाले विजातीय पर एक साथ आक्रमण करते हैं और अपने सजातीय वानर को दुःख से मुक्त कराते हैं, एवं हस्ता आदि अन्य पशुओं की भी व्यवस्था है, इन पूर्वोक्त दृष्टान्तों से यह सिद्ध होता है कि जो कार्य्य समाज कर सकता है वह कार्य्य व्यक्ति से कदापि नहीं हो सकता, इसी अभिप्राय से नीतिकारों ने लिखा है किः—

बहूनामल्पसाराणां समवायो हि दुर्जयः।
तृणैर्विधीयते रज्जुर्बध्यन्ते दन्तिनस्तया॥ भोजप्रबन्धः।

अल्प व क्षुद्र वस्तु भी बहुत-सी मिलने पर महान् कार्य्य करने में समर्थ होते हैं जैसे तृण (घास) एक ऐसी तुच्छ वस्तु है कि जिसको बालक भी तोड़ सकता है और हस्त्यादि पशुओं का तो यह खाद्य पदार्थ है परन्तु जब इन तुच्छ तृणों का भी परस्पर मिलने से समाज (समूह) हो जाता है तब बड़े-बड़े मदोन्मत्त हस्त्यादि पशुओं को भी बन्धन कर देता है, इसी हेतु से भारत में लिखा है किः—

अथ ये संहिता वृक्षाः संघशः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् संहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥६३
एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥६४

मा० उ० प० अ० ३६ ।

बहुत-से मिले हुए सघन वृक्षों को वायु तोड़ नहीं सकता और न वृक्ष को मूल से ही उखाड़ सकता है परन्तु उन वृक्षों का समुदाय न हो किन्तु अकेला वृक्ष होय तो उस वृक्ष को आँधी एक ही क्षण में मूल से उखाड़ देती है, ऐसे ही पुरुष चाहे कैसा ही बुद्धि व विद्यादि गुणों से भूषित क्यों न हो परन्तु बहुत-सी ऐसी आपत्तियाँ मनुष्य पर आ पड़ती हैं कि जिनको अकेला मनुष्य कदापि निवारण नहीं कर सकता, इन पूर्वोक्त उदाहरणों से स्पष्ट विदित होता है कि जड़ पदार्थों का समाज भी कैसे-कैसे कार्य्य करने में

समर्थ होता है फिर मनुष्यरूप चेतन समाज भला किस कार्य्य को नहीं कर सकता, इसी कारण से महात्माओं ने जात्युन्नति का मुख्य साधन समाज को ही माना है, देखो:-

अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यार्थाश्रयेण च ।
ज्ञातयः संप्रवर्द्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥ ६५ ॥

भा० उ० प० अ० २६ ।

परस्पर मिलने और एक दूसरे के साहाय्य से मनुष्य-जाति की उन्नति ऐसी होती है, जैसे सरोवर (तालाब) में कमल वृद्धिङ्गत होते जाते हैं, अस्तु जो कुछ मनुष्यजाति की उन्नति हुई है वह सब समाज का ही फल है, राज्यादि-व्यवस्था का मूल भी समाज ही है, जिस देश में समाज नहीं होता, उस देश पर अन्यदेशीयजन आक्रमण करके स्वसत्ता स्थापना कर लेते हैं, यह भी चढ़ाई (आक्रमण) करनेवालों के समाज का ही फल है, एवं मनुष्यत्व भी समाज से ही आता है, जैसा कि वेद में प्रतिपादन किया है:—

सभां*सभ्यो भवति एवं वेद । ५ ।

अ० कां० ८ अनु० ७ व० २५ ।

*न स सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धानयेन वदन्ति धर्मम् । नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्वं यच्छलेनाभ्यु-पेतम् ॥ ५८ ॥ भा० उ० प० अ० ३५ ।

मनुष्य समाज से ही सभ्यता को सीख सकता है, परन्तुः—

सभ्य सभां मे पाहि । ६ । अथ० कां० १९ अनु० ७व० ५५

वह सभा सभ्य अर्थात् श्रेष्ठ आर्य्य पुरुषों की होनी चाहिये, जिससे संसार में सभ्यता की वृद्धि हो, उदाहरणार्थ वर्त्तमान में आर्य्यसमाज है, जब से आर्य्यावर्त्त में आर्य्यसमाज का प्रादुर्भाव हुआ है उसी दिन से आर्य्यवर्त्त की उन्नति होने का प्रारम्भ हुआ है, आर्य्यसमाज ने भारतवर्ष की सर्व प्रजा को घोर निद्रा से जगाया और उनमें कर्त्तव्यबुद्धि उत्पन्न करके सज्जनता व देशोन्नति की ओर ध्यान दिवाया, इसी आर्य्यसमाज के प्रताप से सामान्यत: अन्य देशों को और मुख्यत: भारतवर्ष को जो लाभ हुआ है वह हमारी लेखनी से अलेख्य और प्राय: सब विद्वानों पर प्रकट है इसलिए स्वार्थपरता का त्याग करके ऐसे समाज का साहाय्य करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य और संसार की उन्नति का हेतु है; क्योंकि समाज बिना किसी कार्य्य की सिद्धि नहीं होती, जैसे घर पर छप्पर चढ़ाने रूप तुच्छ कार्य्य को भी मनुष्य बिना समाज के नहीं कर सकता पुन: बड़े-बड़े कार्य्यों को बिना समाज के कैस कर सकते हैं, इसी कारण से महाभारत में प्रतिपादन किया है कि:—

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं न वै सुखं प्राप्नु-

वन्तीह भन्नाः । न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयंति ॥ ५६ ॥

भा० उ० प० अ० ३६ ।

समाज के बिना अर्थात् एकता के बिना भिन्न-भिन्न मनुष्य न तो धर्मोन्नति कर सकते हैं न वे सुखी हो सकते हैं, और न वे गौरव और शान्ति की प्राप्ति ही कर सकते हैं, अतः मनुष्यों को समाजोन्नति अवश्यमेव करनी चाहिये, पूर्व काल में एतद्देशनिवासियों में (धर्मऐक्य) एक वैदिक धर्म था, आजकल के सदृश अनेक मतमतान्तर और मतभेद से जो-जो वर्त्तमान समय वैर विरोध है वह नहीं था, (भाषाऐक्य) अर्थात संस्कृत भाषा ही थी। जिसका प्रचार आर्य्यवर्त्त के सब खण्डों में था, अब अनेक भाषाएँ होने से इस देश की बहुत ही हानि है, परन्तु सम्प्रति देवनागरी अर्थात् हिन्दी भाषा होनो चाहिये। जिसका प्रचार भारतवर्ष के सब विभागों में है (जातिऐक्य) पूर्वकाल में मानव जाति ही थी, अब बहुत जातियें हो गई हैं। इससे भी अनेक हानिएँ होती हैं। (भोजनऐक्य) पूर्वकाल में सर्व आर्य्यगण ब्राह्मण-क्षत्रियादि परस्पर एक दूसरे के हाथ का भोजन करते थे, परन्तु अब सजातीय ब्राह्मण के हाथ का भी नहीं खाते हैं। इससे बड़ा :दुख और देश की अवनति हो रही है (सुखदुःखऐक्य) पूर्व-काल में एक के सुख से सब सुखी और एक के दुःख से

सब दुखी होते थे, वर्त्तमान में इससे विपरीत है इसका फल सब भोग रहे हैं, (राज्यऐक्य) पूर्वकाल में एक आर्य्यों का राज्य था, अब अनेकों का राज्य है, इसका फल सब को अनुभव सिद्ध है (न्यायऐक्य) प्राचीन समय में सब मनुष्यों को पक्षपातरहित एक सदृश न्याय मिलता था, किन्तु काले गोरों का भेद नहीं समझा जाता था, जिस समय में सर्व प्रकार की एकता थी। उस समय में यह देश उन्नति के शिखर पर चढ़ा हुआ था। जब से अविद्या के कारण से इस देश में अनेक मतमतान्तर फैलकर आर्य्यों में परस्पर फूट पड़ गई। तब से यह देश अधोगति को प्राप्त हो गया और देशवासी दीन मलीन हो गये, जब तक इन अनेकताओं के जाल से निकलकर पूर्वोक्त एकताओं को न करेंगे तब तक यथाभीष्ट सुख की सिद्धि कदापि नहीं हो सकेगी, अतः एतद्देशनिवासियों को समुचित है कि देशोन्नति के अर्थ तन-मन-धन से समाजोन्नति अवश्यमेव करें, मनुष्यों को समाजोन्नत्यर्थ मानसशास्त्र व शारीरशास्त्रादि अनेक शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता है। उन शास्त्रों को जानकर मनुष्य-समाज-संस्थाशास्त्र जिसको इतिहास कहते हैं (जिसके विषय में हम प्रथम लिख आये हैं) इस इतिहास के जानने से मनुष्यों को यह वार्त्ता ज्ञात हो जाता है, कि अमुक मनुष्य-समाज ने अमुक कार्य्य किया था। उसका परिणाम ऐसा हुआ था,

यदि हम भी इस कार्य्य को करेंगे तो इसका परिणाम भी ऐसा ही होगा, इसलिये ऐसा कार्य्य करना योग्य है वा अयोग्य इत्यादि ज्ञान मनुष्यों को समाज-संस्थाशास्त्र (इतिहास*) से हो सकता है, अतः सदितिहासावलोकन द्वारा समाज की उन्नति अवश्य करें, सामाजिक कार्य से निवृत्त होकर मनुष्य मनोरञ्जन में भी कुछ समय व्यतीत करें। यद्यपि अनेक मनुष्य मनोरञ्जनाभिप्राय को न जानने से मनोरञ्जन की आवश्यकता नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करेंगे, परन्तु यदि विचार से देखा जाय तो मनोरञ्जन की बड़ी भारी आवश्यकता है, जैसे कार्य्य करते-करते मनुष्य का शरीर थक जाता है ऐसा ही मन भी थक जाता है। जब तक शरीर को विश्रान्ति न मिलेगी तब तक शरीर कार्य करने में असमर्थ होता है, ऐसे ही मन की दशा भी जानो, जिस काम के करने को मन नहीं चाहता परन्तु बलात्कार से अथवा किसी निमित्तविशेष से करना पड़ता है, वह कार्य उत्तम नहीं होता और दो-चार बे-मन काम करने से फिर वह कार्य मन से उतर जाता है, पुनः उस कार्य में मन न लगने के कारण फिर वह कभी नहीं हो सकता, बे-मन काम करनेवाले को भी बड़ा दुःख होता है, जिस समय में किसी कार्य के करने को चित्त नहीं चाहता उस कार्य के करने में मन की शक्ति का बहुत नाश

* इति ह आस, ऐसा हुआ था इसका नाम इतिहास है।

होता है, इतना ही नहीं किन्तु मन के न चाहने पर कार्य करने से अनेक हानियें होती हैं जिनकी गणना करना कठिन है, इसलिये जब कार्य करने से मन उकताय (उदासीन होजाय) तब मन को मनोरञ्जन में लगा देवें, जिसको कि मन स्वमेव चाहता है। जगत में मनोरञ्जन भी उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधमभेद से बहुत प्रकार के हैं, जैसे उत्तम सत्सङ्ग, पुस्तक पढ़ना, शिल्प चित्रकला, कौशली खेलन करना, रसायनविद्या,* व्यायाम, शुद्धवायु-सेवनार्थ विहारादि, मध्यम गान, वाद्यत्र, कौतूहल, नाटकावलोकनादि, अधम चौपड़, शतरञ्ज, तास, गंजीफा, हँसी-दिल्लगी, वाहियात फिरना, गाली देना आदि, अधमाधम स्तेय, द्यूत, व्यभिचार, सुरा, मत्त, कलह, हिंसादि। इन मनोरञ्जनों में उत्तम, मध्यम इन दो प्रकार के मनोरञ्जन में मनुष्य की हानि नहीं होती। परन्तु इनमें भी पर की अपेक्षा पूर्व उत्तम होने से पूर्व का ही सेवन करना अधिक श्रेयस्कर है और जो निकृष्ट, अधम और अधमाधम ये तो दोनों ही बुरे हैं, इनमें भी अधम की अपेक्षा अधमाधम बहुत बुरा है। अधम और अधमाधम ये दोनों मनुष्य के महाहानिकारक होने से इनको मनोरञ्जन नहीं कह सकते, यद्यपि कोई मनुष्य ऐसा कह सकता है कि जिस-जिस कार्य के करने में मन को आनन्द हो उसी को मनोरञ्जन कहते

* जिससे रंग आदि बनाये जाते है।

हैं तथापि जिस कार्य का परिणाम बुरा हो, जिससे मन, शरीरादि की हानि होती हो, जो अवसान में मन को आनन्द (रञ्जन) के बदले दुःख (रंज) पहुँचाये उसको बुद्धिमान् पुरुष मनोरञ्जन नहीं कहते। अस्तु कितनेक मनुष्य प्रातःकाल उठते ही मनोरञ्जन में लग जाते हैं पुनः दूसरे किसी कार्य की ओर ध्यान नहीं देते परन्तु रात-दिन मनोरंजन में ही निमग्न रहते हैं, परन्तु यावत्पर्यन्त आत्म-रक्षण जीविका, अपत्यसङ्गोपन, सामाजिकोन्नति व ईश्वराराधना कार्य न करलें तावत्पर्यन्त मनोरञ्जन में प्रवृत्त होने का किसी को अधिकार नहीं है। यद्यपि अनेक मनुष्यों का मनोरञ्जन और जीविका अथवा मनोरञ्जन और अपत्यसङ्गोपन किंवा मनोरञ्जन और समाजसंस्था एक ही होता है, जैसे एक पुरुष की शिल्पकला कौशली में वा गानविद्या में अधिक रुचि है और वही उसका मनोरञ्जन है और वही उसकी जीविका भी है। ऐसे ही किसी सामाजिक कार्य को करने से मन प्रसन्न होने से वही उसका मनोरञ्जन और सामाजिकोन्नतिरूप कर्त्तव्य भी है। अस्तु हमारे कथन का तात्पर्य यही है कि जीविकादि कार्यों के समय में मनोरञ्जन में प्रवृत्त होना मूर्खता का काम है, हाँ जिनका मनोरञ्जन और जीविका एक है उनको 'एका क्रियाद्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' इस दृष्टान्त के अनुसार एक ही कार्य जीविका और मनोरञ्जन का हेतु होने से उस कार्य

में वे प्रवृत्त होवें तो कुछ हानि नहीं, परन्तु जो मनोरञ्जन जीविकारूप होता है, वह मनोरञ्जन बहुधा मनोरञ्जन का काम नहीं देता। यदि जीविका और मनोरञ्जन दोनों ही एक क्रिया से सिद्ध होंय तो अत्युत्तम है। एवं अपत्य-सङ्गोपन में वा सामाजिकोन्नति में भी मनोरञ्जन की व्यवस्था को जानिये। इन पूर्वोक्त कर्त्तव्य कर्मों को तथा वक्ष्यमाण कर्मों को मनुष्य अपनी पूर्ण उन्नत्यर्थ यथावत् नियमपूर्वक किया करें। संसार में प्रत्येक कर्म के करने में मनुष्य को स्वतन्त्रता की आवश्यकता है, यदि मनुष्य स्वतन्त्र न होय तो कुछ भी नहीं कर सकता। इसी अभिप्राय से पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में प्रतिपादन किया है कि—

स्वतन्त्रः कर्त्ता ॥ ५४ ॥ अष्टा० अ० १ पा० ४

जो कार्य्य करने में स्वतन्त्र होता है वही कार्य्य कर सकता है, जैसे घड़े (घट) के करने में कुम्हार (कुलाल) आजाद (स्वतन्त्र) होने से घड़ा बना सकता है, प्रत्येक काम के करने मे मनुष्य को स्वतन्त्रता की आवश्यकता होने से मनुष्यों को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण उन्नतियों का कारण स्वतन्त्रता है और संस्कृतग्रन्थावलोकन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पूर्वकाल में इस देश के मनुष्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता थी, इसी से एतद्देशीय परम सुखी थे। इतना ही नहीं किन्तु हमारे महर्षि लोगों का यही सिद्धान्त है कि—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥
मनु० अ० ४।

परवशता अर्थात् पराधीनता ही दुःख का मूल है और स्वतन्त्रता अर्थात स्वाधीनता ही सुख का मूल होता है, सुख और दुःख का यही लक्षण जानना चाहिये। अब आप जान सकते हैं कि आर्य्य लोग कितने स्वतन्त्रताप्रिय थे, जिन्होंने स्वतन्त्रता को सुख और परतन्त्रता को दुःख माना है। अस्तु आर्य्य लोग केवल अपनी ही स्वतन्त्रता को नहीं चाहते थे किन्तु--

समं* सर्वेषु भूतेषु ॥ ६६ ॥ मनु० अ० ६।

जैसे अपने को स्वतन्त्रता से सुख होता है ऐसे ही अन्य पुरुषों को भी स्वतन्त्रता से सुख होता है इसलिये मनुष्यमात्र को स्वतन्त्रता होनी चाहिये। स्वतंत्रता का कारण विद्या, बुद्धि, न्याय, विचार, दयालुता, समदर्शिता, सभ्यता, पक्षपात-राहित्य, सुराज्यादि हैं। इन विद्या आदि की वृद्धि से स्वतन्त्रताकी वृद्धि और इनके ह्रास होने से स्वतन्त्रता का ह्रास होता है। संसार में स्वातन्त्र्य बहुत प्रकार का है जैसे १ जीवितस्वातन्त्र्य, २ उद्योग-स्वातन्त्र्य, ३ प्रवास-स्वातन्त्र्य, ४ वाक्स्वातन्त्र्य, लेख-स्वातन्त्र्य, ६ धर्म-

---

* यथैवाऽऽत्मा परस्तद्वद् द्रष्टव्यः सुखमिच्छता। सुखदुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे ॥ १ ॥ दक्षस्मृ० अ० ३।

स्वातन्त्र्य आदि। इनमें से जीवितस्वातन्त्र्य उसको कहते हैं कि जो जीने (आयु) में कोई भी बाधा न डाल सके। जैसे अनेक विदेशी राजाओं ने व मूर्ख देशवासियों ने भी जिसको चाहा उसी को एक क्षण में वध कर दिया। महाभारत के पश्चात् और बृटिशराज्य से पूर्व मनुष्य को वध करना तो मूर्ख लोग साधारण वार्त्ता मानते थे, परन्तु जब से ब्रटिश गवर्नमेंट का इस देश में राज्य हुआ है तब से मनुष्यों को अखण्ड पूर्ण जीवितस्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई जैसी कि अन्य समाजों के राज्य में होनी दुःसाध्य है यद्यपि ब्रिटशराज्य के प्रभाव से मनुष्यों को जीवितस्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई है परन्तु गवादि* पशुओं को जीवितस्वतन्त्रता की प्राप्ति किंचन्मात्र भी नहीं है, जो जंगली मनुष्यों के समय में किंवा अन्यायी क्रूर राजाओं के राज्य में जैसे पशुओं के प्राणहरण किये जाते थे वैसे ही ब्रटिश राज्य होने पर भी गवादि पशुओं के प्राण लिये जाते हैं, यह बड़े ही शोक आश्चर्य व खेद की वार्ता है। हम शुभचिन्तकता से ब्रटिश सरकार को यह निवेदन किये बिना नहीं रह सकते कि ब्रटिश राज्य में गौहिंसारूप अत्याचार ऐसे ही होता जायगा तो किसी समय में दुग्ध घृतादि के अभाव से

---

* गौरक्षा से लौकिक व पारमार्थिक अनेक लाभ है, इस विषय को देखना चाहो तो गोकरुणानिधि पुस्तक का अवलोकन करो।

तथा बैल (वृष) आदि की न्यूनता से कृषि के अभाव द्वारा राजा और प्रजा इन दोनों की ही महा हानि होगी। इस गोहिंसा से राज्य और प्रजा की अनेक हानिएँ होनी सम्भव हैं। हम नहीं जान सकते कि ऐसी बड़ी हानि को हमारी बुद्धिमती गवर्नमेंट ने अभी तक कुछ भी न विचारा हो, यदि विचारा हो तो विचार का फल तो यही है कि वह काम में लाया जाय। हम आशा करते हैं कि हमारी ब्रटिश सरकार इस गौहिंसारूप अत्याचार को इस देश से शीघ्र ही दूर करके यश की भागी होगी। अस्तु, उद्योग-स्वातन्त्र्य उसको कहते हैं कि जिस मनुष्य की जिस उद्योग में रुचि हो उस उद्योग के करने में किसी प्रकार की मनाई (प्रतिबन्धकता) न हो, क्योंकि उद्योगपराधीनता अन्याय-मूलक होने से महा निकृष्ट और देश की अवनतिकारक है इसलिये जैसा हमने वृत्तिविषय में पूर्व प्रतिपादन किया है, वैसा ही मनुष्यों को धर्म्मयुक्त स्वेच्छानुसार उद्योग करना चाहिये। उद्योग-स्वातन्त्र्य के विनाशक जो-जो जातिकृत ❀ व राज्यकृत बन्धन हों उन-उन सब बन्धनों को राजा व जाति के मनुष्य तथा मुख्य करके उद्योगी समाज के सभासद् दूरकर देवें, प्रवास-स्वातन्त्र्य की भी मनुष्यों को अत्यावश्यकता है क्योंकि प्रवास-स्वातन्त्र्य के

❀ राज्यकृत उद्योगपरतन्त्रता जैसे इनकमटेक्स आदि, जातिकृत पारतन्त्र्य जातिबहिष्करणादि।

बिना उद्योग-स्वातन्त्र्य नहीं हो सकता तथा प्रवास अर्थात् देशाटन के बिना मनुष्य दयालु बुद्धिमान* अनुभवी व उद्योगशील भी नहीं हो सकता, एवं गमनागमन करना मनुष्य को स्वभवसिद्ध होने से प्रवास अर्थात् गमनस्वातंत्र्य की आवश्यकता तथा इच्छा प्रत्येक मनुष्य को होती है परन्तु इस स्वातन्त्र्य के विरोधी जगत् में अनेक चोर सिंह व्याघ्र सर्पादि क्रूर प्राणी तथा विषम पर्वत बर्फ़ (हिम) अत्युष्णता, अतिशीतता, कुजलवायु, समुद्र और स्वज्ञाति के मनुष्य आदि हैं जहाँ सुराज्य होता है वहाँ चोर सिंहादि क्रूर प्राणियों की निवृत्ति राज्यद्वारा हो जाती है, एवं विषम पर्वतादि में मार्ग बनाने से व सद्विमानादि से गमन-सौकर्य होजाता है इसी प्रकार अधिक उष्णता में और कुजलवायु आदि में सदोषधि-सेवन-द्वारा व अधिक शीत हिमादि में उष्ण भोजन ऊर्णवस्त्रादि से गमन-श्रम का प्रणाश होजाता है, समुद्र में आगवोट (अग्नियान) द्वारा प्रवास-प्रतिबन्धकता का अभाव हो जाता है और ईश्वर की कृपा से व ब्रिटिश राज्य के प्रबन्ध से मसुद्रयात्रादि का उत्तम प्रबन्ध हो भी गया है परन्तुः—

मूर्खस्य † नास्त्यौषधम् ॥ भर्तृ० नी०

---

* यो न सञ्चरते देशान् यो न सेवेत पण्डितान्। तस्य संकुचिता बुद्धिर्घृतविन्दुरिवाम्भसि ॥ १ ॥ सुभा० प्र० २ ॥

† शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो, नागेन्द्रो

मूर्ख की कोई भी औषधि नहीं है, इस वाक्य के अनुसार समुद्र-यात्रा में इस देश के मूर्ख मनुष्य जातिरूप बन्धन की निवृत्ति का औषध (उपाय) कोई भी नहीं है, वर्त्तमान समय में प्रवास-स्वातन्त्रता का नाश करनेवाला केवल जातिबन्धन ही है यदि कोई पुरुष विद्याध्ययनार्थ अथवा व्यापार के अर्थ हरिवर्ष (योरोप) अङ्गरेज़ों की विलायत में जाकर वहाँ कुछ काल निवास करके प्रत्युत जब अपने घर को आता है उसी समय में जाति के लोग उसको जातिच्युत (जातिबाहिर) कर देते हैं यदि उनसे कोई पूछता है कि इसको जातिबाहिर क्यों करते हो तो वे ढकोसले पंडित इसका यह उत्तर देते हैं कि विलायत में जाकर इसने मद्य मांस का सेवन किया होगा वा अङ्गरेज़ों के हाथ का बनाया भोजन कर लिया होगा इसलिये इसको हम जातिबाहिर करते हैं क्योंकि कलियुग * में समुद्रयात्रादि का शास्त्र में निषेध किया है इसलिये हम इसको जातिबाहिर करते हैं, अब विचार करना चाहिये कि क्या विलायत में जाकर ही मनुष्य मद्य मांस भक्षण करते हैं और

निशितांकुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभो । व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं, सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥ ११ ॥ भर्तृ० नी० ।

* समुद्रयात्रास्वीकारः शोधितस्पाप्यसंग्रहः । इमान्धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥ १ ॥

यहाँ नहीं करते, वास्तव में तो बात यह है कि जिसको मद्य-मांसादि से घृणा है वह न तो यहाँ मद्य मांस का सेवन करता है और न विलायत में जाके, परन्तु जिसको इस बात का परिज्ञान नहीं है वह विलायत में भी मद्य-मांस का सेवन करता है और यहाँ भी, जैसे अनेक ब्राह्मणादि वर्ण इसी देश में होटलों में जाकर मांसादि भक्षण करते हैं तथा यवन व योरोपियन वेश्याओं के हाथ का भी भोजन करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु उनका उच्छिष्ट भी भक्षण कर लेते हैं और जिनको इस बात का विवेक है वे विलायत में जाकर के भी उस देशवासियों के हाथ में पकाये अन्न को नहीं खाते जैसे परलोकवासी मालवा [सेंट्रल इण्डिया] के नरसिंहगढ़ाधीश श्रीमान् राजा साहब डी० सी० एल० श्रीप्रतापसिंहजी वर्मा, अस्तु शास्त्रविचारानुसार तो खान-पानादि व्यवस्था इस प्रकार होती है कि मद्य मांसादि अमेध्य पदार्थों को भक्षण न करे तथा चाण्डालादि अति नीच कुकर्मी मनुष्यों के हस्त का पकान्न भोजन न करै परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये परस्पर एक-दूसरे के हाथ अवश्य भोजन कर लिया करें, इसमें कुछ भी हानि नहीं; क्योंकि शूद्र के हाथ का भोजन करना ब्राह्मणादि वर्णों को शास्त्रसम्मत है जैसा कि आपस्तम्बीय धर्मसूत्र में प्रतिपादन किया है देखो:—

आर्याऽधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः ॥ ४ ॥

आपस्तम्बधर्मसूत्र प्रपा० २ पट० २ खं० २।

आर्य्य भोजन [पाक] के स्वामी होवें और शूद्र भोजन को पकावें, ऐसे मनु में भी प्रतिपादन किया है कि द्विजों की उत्तम शुश्रूषा करने से शूद्र का निर्वाह न होय, तो आपत्काल * में शूद्र से नीच वर्णसङ्करादि के कर्म अर्थात्:—

जीवेत् † कारुककर्मभिः। ९९। मनु० अ० १०

रसोइये (बबर्ची) के कर्म से शूद्र अपना आजीवन

---

* देखो कुल्लूक की टीका।

† मनु के अध्या० १ श्लोक ८१ से देखो, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इनका स्व २ जीविकाओं से निर्वाह न होय तो हीन २ वर्णों की जीविकाओं से आजीवन करैं, जब द्विजों का उत्तम स्नान कराना वस्त्र पहिनाना चपरासी का काम करने आदि से शूद्रा का निर्वाह न होय तो पौरोगवादि वर्णसङ्करों की जो रसोई करना आदि जीविका है उससे जीवन करै, जहाँ कहीं स्मृतियों में शूद्र के अन्न का निषेध है वह असत् शूद्र के घर के पके हुए का निषेध है; क्योंकि उसके घर के पात्रादि मलीन होने से उसके मृत पात्रादि में पकाये हुए अन्न के खाने से द्विजातियों को ग्लानि होने से निषेध किया है परन्तु अत्रिस्मृति में तो शूद्र के यहाँ के अन्न के खाने का भी विधान किया है जैसेः—

आरनालं तथा क्षीरं कन्दुकं दधिसक्तवः। स्नेहपक्वं च तक्रं च शूद्र स्यापि नदुष्यति ॥ १ ॥ अत्रिस्मृति,

इसी प्रकार मनुजी ने भी श्रद्धा नहीं करनेवाले शूद्र के पक्वान्न का निषेध किया है देखो मनुस्मृ० अ० ४ श्लो० २२३।

करै अर्थात् शूद्र ब्राह्मणादिकों को रसोई बनावै, इससे भी शूद्र को पाक बनाने का अधिकार प्राप्त है, एवं महाभारत में भी लिखा है, देखो:—

शतं दासीसहस्राणां यस्य नित्यं महानसे ।
पात्रीहस्तं दिवारात्रमतिथीन् भोजयत्युत ॥ १७ ॥

भा० वि० प० अ० १८।

जिस समय में पाण्डव विराट् राजा के वहाँ जाकर रहे थे, उस समय में द्रौपदी* ने भीम से कहा कि जिस युधिष्ठिर के महानस (रसोड़े) में सहस्रों (हज़ारों) दासी दिन-रात हाथ में पात्र लिये हुए बहुत से अतिथियों को भोजन कराती थीं वही युधिष्ठिर आज दूसरे का भृत्य हो रहा है एवं:—भा० उद्योगपर्व अ० ९२ श्लो० ३९ में लिखा है कि श्रीकृष्ण ने क्षत्तापाचित अन्न ब्राह्मणों को खिलाकर पुनः आपने भी खाया और क्षत्ता नाम शूद्र से वैश्य कन्या में उत्पन्न हुए मनुष्य का है देखो मनुस्मृ० अ० १० श्लो० १२ एवं—

नित्यं संस्कृतमन्नन्तु विविधं राजवेश्मनि ॥ २४ ॥

भा० अनुशा० प० अ० ५२।

राजा कुशिक के गृह में अपनी भार्य्या के सहित

---

*सूर्य्यदत्ताक्षयान्नेन कृष्णाया भोजनावधि । ब्राह्मणांस्तर्पमाणोपुयेच्छान्नार्थमुपागताः । व० य० अ० २६२ ।

च्यवन ऋषि पका हुआ अन्न खाता रहा, ऐसे ही:—

प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाभिपूजितः ।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिगृह्य द्विजोत्तमः । १८ ॥

भा० वन० प० अ० २७ ।

एक समय में कौशिक ऋषि उपदेश ग्रहणार्थ धर्म्म-व्याध (चाण्डाल) के घर में गया तब उस व्याध ने ऋषि का आसन जलादि से आतिथ्य-सत्कार किया और कौशिक ऋषि ने कसाई का जलपान किया, इस पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट है कि सभी मनुष्य परस्पर एक दूसरे के हाथ का खाते-पीते थे तथाः—

विप्राणां वेदविदुषांगृहस्थानां यशस्विनाम् ॥
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैःश्रेयसः परः । ३३४ ।

मनु० अ० ९ ।

परिचर्य्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् । ४४ ।

भग० गी० अ० १८ ।

मनुस्मृति और गीता आदि सब पुस्तकों में द्विजों की सेवा शुश्रूषा करना ही शूद्र का परम धर्म लिखा है, जब ऐसा है तो फिर रसोई करना भी सेवा ही है, क्या स्नान कराना सेवा और रसोई बना के खिलाना शत्रुता है? कदापि नहीं, हाँ इतना अवश्य है कि पौरोगव आन्धसिक आदि शूद्रों से भी अधम वर्णशंकरों का काम है और द्विजों

की अन्य साधारण सुश्रूषा करना शूद्रों का काम है, परन्तु पूर्वोक्त मनु-प्रमाण से शूद्र रसोई भी करे तो हानि नहीं और हमारी सम्मति में तो जो मूर्ख है वह शूद्र होने से सब प्रकार की सेवा किया करे जिससे कि उसका यथोचित भोजनादि व्यवहार ठीक-ठीक चले, पूर्व समय में अन्त्य-जादि का बनाया भोजन करने की रीति भी थी ऐसा ज्ञात होता है जैसा कि बाल्मीकि-रामायण में प्रतिपादन किया है कि:—

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद्यथाविधि ।
तामुवाच ततो रामः श्रमणीं धर्मसंस्थिताम् ।१७।

बाल्मी० रा० अरण्यका० स० ७४ ।

रामचन्द्र महाराज ने (शवरी) भीलिनी के दिये हुए जल से आचमन किया, तथा:—

राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमबहिष्कृताम् ॥१९॥

बा० रा० आर० कां० स० ७४ ।

इस श्लोक की टीका में टीकाकार ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि तद्दत्तमाहारादि अङ्गीकृत्येति), माङ्गादि सर्व महर्षि इस भीलनी के हाथ की पकाई रोटी खाते थे, तथा मनुस्मृति में लिखा है कि:—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पंकेन न स पापेन लिप्यते ॥१०४॥

मनु ० अ० १० ।

आपत्काल में ब्राह्मण चाहे तिस के हाथ का खा लेने पर भी उसको पाप लेपायमान नहीं होता जैसे कीचड़ में आकाश होने पर भी आकाश मलीन नहीं होता, जब मन्वादिधर्मशास्त्रकार आपत्काल में सब के हाथ के बनाये भोजन खाने की ब्राह्मण को आज्ञा देते हैं तो कोई ब्राह्मणादि आपत्काल के कारण से विद्या पढ़ने को विलायत जाकर किसी विजिटेरियन होटल में भोजन करेगा तो मनुस्मृति के सिद्धान्तानुसार वह दोष का भागी नहीं हो सकता, अस्तु हमारी सम्मति में तो जहाँ तक हो सके नीच, मलीन चाण्डाल, यवनादि के हाथ का पक्कान्न न खाया जाय तो उत्तम है, परन्तु वर्त्तमान समय में ब्राह्मणादि वर्णों की भोजनव्यवस्था विलक्षण है जैसे कान्यकुब्ज, मैथिल, बंगाली, सारस्वत, कशमीरी ब्राह्मणादि माँस खाते हैं; गौड़, पञ्चद्राविड़ादि माँस नहीं खाते, एवं सारस्वत खत्रियों की कच्ची (सखरी) रोटी और गौड़ादि* हलवाई की पक्की पूरी खा लेते हैं कान्यकुब्ज व पञ्चद्राविण बरफी, पेड़े आदि हलवाई के घर का जल-रहित घृतपक्कान्न को खा लेते हैं ऐसे ही कशमीरी ब्राह्मण कच्ची रोटी को ऊन के वस्त्र में लपेट के मुसलमान के सिर पर

*गौड़ पञ्चद्राविड़ादि ब्राह्मणों में चोरी से माँस, मद्य आदि का अनेक सेवन करते हैं परन्तु उनकी जाति में माँसादि का निषेध ही है।

रख देते हैं मुसलमान उस रोटी को ले जाता है और कशमीर में कशमीरी ब्राह्मण उसको खा लेते हैं, एवं चौके का विचार भी कशमीरी ब्राह्मण में नहीं है वे मुसलमान के चूल्हे पर रोटी बना लेते हैं, इनके जलादि भरनेवाले भी मुसलमान होते हैं एवं दाक्षिणात्य ब्राह्मणों में भी विद्यार्थी ब्राह्मण बनी-बनाई रोटी गलियों में से व बाज़ारों में से माँगकर ले आते हैं और खा लेते हैं तथा ब्राह्मणादि वर्ण अँगरेज़ी औषधि खाते हैं जिसमें अंगरेज़ों का स्पर्श किया हुआ जलादि होता है, एवं चमारादिकों की बनाई गुड़ शर्करादि खा लेते हैं, परन्तु अनेक संप्रदायों में ऐसी लीला देखने में आती है कि वे लोग चूल्हे में जलाने की लकड़ी को धोकर चौके में लेते हैं और चमारों का बनाया गुड़ जिसके बनाने में वे अपनी रोटी आदि उसी रस में पका लेते हैं, उनकी रोटी के उच्छिष्ट टुकड़े उस गुड़ शक्करादि में रहते हैं उन गुड़, शक्कर, मेवादि पदार्थों को वे बिना धोये ही स्वाहा कर जाते हैं यह बड़ी ही आश्चर्य की वार्त्ता है, इस देश में मूर्खता के कारण से अनेक सम्प्रदाय हो जाने से भोजनादि व्यवहार में इतना गड़बड़ होगया है कि जिसका अन्त नहीं, जैसे एक ही घर में स्त्री बल्लभ-सम्प्रदाय की चेली है और उसका पति रामानुज-सम्प्रदाय का शिष्य है वे दोनों परस्पर पति-पत्नी होने पर भी एक दूसरे के हाथ का नहीं खाते यह मूर्खता नहीं तो क्या है ?

वास्तव में मद्य, माँसादि अभक्ष्य पदार्थों को छोड़कर व मलीन म्लेच्छ चाण्डालादि मनुष्यों के हाथ के बनाये भोजन छोड़कर आर्यों को परस्पर एक दूसरे के हाथ का भोजन करने में कुछ भी हानि नहीं है, एवं मनुस्मृति अ० १० व० ४४ में वर्णन किया है कि यवनादि सब क्षत्रिय थे, ये सब क्रिया के परित्याग से व ब्राह्मणों (विद्वानों) के अदर्शन से शूद्रभाव को प्राप्त हुए, जब ऐसा है तो सुक्रिया करने से व ब्राह्मणों के सहवास करने से ये लोग पुनः क्षत्रिय हो जाएँगे अथवा मनुस्मृति अ० ११ श्लोक १९१ के अनुसार तीन कृच्छ्र् व्रत करके उपनयन लेने से ये सब द्विज होजाएँगे, पुनः इनके हाथ का पकाया भोजन करने में मनुस्मृति के सिद्धांतानुसार कुछ भी अनाचार*दूषण नहीं हो सकता, एवं यदि कल्पित स्मृतियों के भरोसे पर समुद्रयात्रा का निषेध करते हो तो उन स्मृतियों में अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सिन्धु, सौराष्ट्र आदि देशों में जाने का निषेध भी किया है जब ऐसा है तो फिर बङ्गाल [वङ्ग] आदि देशों में रहनेवाले ब्राह्मण को आप ब्राह्मण मानते हो वा नहीं, यदि मानते हो तो समुद्रयात्रा का निषेध किस प्रकार से करते हो क्या उन स्मृतियों के इन वचनों को मानते हो और दूसरे वचन को नहीं, यदि विचार से देखिये तो ऐसी-ऐसी वार्त्ताओं के

---

*अनाचारेण मालिन्यं अत्याचारेण मूर्खता । विचाराचारयोर्योगः सदाचारः स उच्यते ॥१॥

विधान करनेवाली स्मृतियें यवनों के राज्य में बनी होंगी उस समय में यवनों ने अत्याचार किया होगा इसलिये पण्डितों ने वहाँ जाने का निषेध किया होगा परन्तु वास्तव में समुद्रयात्रा का निषेध नहीं है क्योंकि वेद में समुद्रयात्रा की आज्ञा दी है देखोः—

समुद्रं गच्छ स्वाहा ॥२१॥ यजुर्वेद अ० ६।

समुद्र की यात्रा कर और सुन्दर वचन बोल, एवं शतपथ कां० ३ प्र० ६ ब्रा० ५ कं० ११ में भी समुद्रयात्रा का विधान है तथा मनुस्मृति में भी लिखा है किः—

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥१५७॥

मनु० अ० ८।

नौका पोत [जहाज] आदि समुद्रयानों की चालनक्रिया में जो निपुण और देश काल व लाभालाभ को जाननेवाले अर्थात् किस देश में किस समय में समुद्र के जाने से कितना धन प्राप्त हो सकता है इत्यादि व्यवहार के जाननेवाले जो राजकर [शुल्क] नियत करें वही राजा को प्रमाण करना चाहिये, इस मनुप्रमाण से भी समुद्रयात्रा सिद्ध है, इसी प्रकार अनेक सद्ग्रन्थों में लिखा है, समुद्रयात्रा करने की वार्त्ता केवल लेखमात्र ही नहीं है। किन्तु प्राचीन समय में अनेक आर्य्य पुरुष समुद्र की यात्रा कर चुके हैं जैसेः—

आम्लेच्छावधिकान् सर्वान् स भुंक्ते रिपुमर्दनः ।
रत्नाकर समुद्रांतांश्चातुर्वर्ण्यजनावृतान् ॥५॥

भा० आदिप० अ० ६८ ।

राजा दुष्यन्त ने जहाँ तक म्लेच्छ रहते थे तथा जहाँ तक ब्राह्मणादि वर्ण रहते थे इस सर्व रत्नाकर के टापुओं में राज्य किया था एवं:—

स तु वाजी समुद्रान्तां पर्य्येत्य वसुधामिमाम् ॥१॥

आश्वमे० प० अध्या० ८१ ।

समुद्र के पार की पृथ्वी तक युधिष्ठिर का अश्व हो आया था इसी प्रकार:—

वणिग्यथा समुद्राद्वै यथार्थं लभते धनम् ॥२८॥

भा० शा० प० अ० २९१ ।

महाभारत के समयपर्य्यन्त वणिक् अर्थात् व्यापारी समुद्रयात्रा करके धनोपार्जन करते थे * एवं अन्य ग्रन्थों में भी है, ग्रन्थ विस्तार भय से यहाँ हम अधिक प्रमाण नहीं लिख सकते, बस पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध हो चुका कि पूर्व समय में वेदानुसार आर्य लोग सब देश-देशान्तरों में जाते थे और अब भी जाना चाहिये, जैसी कि वेद ने आज्ञा दी है कि:—

* श्री रामचन्द्रजी ने भी समुद्रयात्रा करके लंका पर आक्रमण किया था ।

मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ।९

अथर्व० कां० १८ अनु० ३ व० १२

हे मनुष्य ! तेरी जहाँ इच्छा हो वहाँ ही तू चला जा यह सब पृथ्वी तेरे रहने के लिये ही है, एवं कलियुगी* पाराशरस्मृति में भी लिखा है कि:—

वसन्वा यत्र तत्रापि स्वाचारं न विवर्जयेत् ॥१॥

वृहत्पाराशरस्मृ० अ० १ ।

ब्राह्मण जिस देश में चाहे उसी देश में रहे किन्तु अपना जो आचरण (आचार) है उसको न बिगाड़े, जो मनुष्य परदेशयात्रा के विरोधी हैं वे कुएं के मेंडक (कूप-मंडूक) यदि उन कूपमंडूकों का ही कथन सब लोग मान के बैठे रहें तो विलायत में जाने के बिना कोई भी मनुष्य सिविल सर्विस, बैरिष्टरी, डाक्टरी इञ्जिनियरी आदि उत्तम पद को प्राप्त नहीं हो सकते, जैसा कि पञ्चतन्त्र में लिखा है कि:—

विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक् ।
यावद्व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तरं हृष्टः ॥४३१॥

पञ्च० १

जब तक मनुष्य उत्साहपूर्वक एक देश से दूसरे देशों

---

*कृते तु मानवाधर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः । द्वापरे शंख-लिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ॥१॥ प० स्मृ० अ० १ ।

को नहीं जाता है तब-तक विद्या, धन, शिल्प [कारीगरी] को प्राप्त नहीं हो सकता और न ❀ वे अपनी उन्नति कर सकते हैं परन्तु ईश्वर की कृपा से अब बुद्धिमान् मनुष्य इन कूप-मण्डूकों के कथन को प्रमत्त-गीत समझकर ऐसी मिथ्या बातों को न मानकर विलायत को चले जाते हैं और जायेंगे भी क्योंकि यह एक मनुष्य-समाज में स्वाभाविक प्रकृति देखने में आती है कि जो हित की बात होती है उसे समझने पर यदि प्रतिबन्धकता न होय तो मनुष्य स्वीकार करने को कटिबद्ध होता है और यथा-शक्ति कर भी लेता है, जैसे मार्ग में १० मनुष्य क्रमशः एक दूसरे के पीछे समीप-समीप चले जाते हैं, उनके चलने में सबसे अगाड़ी चलनेवाला चलने में शिथिलता करने लगता है तब पीछे के तेज़ चलनेवाले अगाड़ी चलनेवालों को कहते हैं कि जल्दी चलो, यदि उनके कहने को अगाड़ी चलनेवाले मान के जल्दी चलने लगे तब तो अगाड़ी के अगाड़ी और पिछाड़ी के पिछाड़ी ही बने रह के मञ्जिल पुरी करते हैं,

---

❀ परदेशभयाद्भीता बहुमाया नपुंसकाः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥३४॥

क्षुद्र हिजड़ा कापुरुष मनुष्य काक और पशु ये सब परदेश के भय से अपने ही देश में कीड़े मकोड़ों की नाईं मरते हैं परन्तु शूरवीर पुरुष दूसरे देशों पर आक्रमण करके अपनी सत्ता स्थापन कर लेते हैं ।

यदि पीछेवालों का कथन अगाड़ीवाले न मानकर ढीली चाल ही चलते रहें वा मार्ग रोककर बैठ जायें तो पीछे के लोग झट आगे हो जाते हैं और आगे चलनेवाले पीछे रह जाते हैं, यही व्यवस्था वर्त्तमान समय में ब्राह्मणवर्ण की भी है, ३ वर्ण ब्राह्मणों के कथनानुसार उनके पीछे चलनेवाले थे परन्तु जब देशोन्नति के अर्थ योरोप आदि परदेशों में जाने को इन से कहा गया कि आप जाँय और हमें भी जाने दें, तब अविद्या से इन्होंने परदेश जाने का निषेध किया तब नव शिक्षित लोगों ने इनको व इनके कथन को पीछे रखकर योरोपादि देशों में जाना आरम्भ किया और इन अविद्या के पुतलों को पीछे रख दिया* जब यह व्यवस्था हुई तब अमुके शास्त्री ढमुके शास्त्री भी लाचार होकर कहने लगे कि समुद्र-यात्रा में कुछ दोष नहीं है; अस्तु यद्यपि कुछ-कुछ बुद्धिमान् शास्त्रियों ने समुद्रयात्रा को शास्त्ररीत्या निर्दोष ठहराया है, परन्तु अभी तक ढकोसले शास्त्री इस बात को नहीं मानते, यद्यपि मूर्खता से वे अभी नहीं भी मानेंगे परन्तु उनकी सन्तति को तो अवश्य ही मानना पड़ेगा, अस्तु जैसे गमनस्वातन्त्र्य की आवश्यकता है ऐसे ही वक्तृत्व व लेखनस्वातन्त्र्य की भी आवश्यकता

---

* आकिञ्चन्यादतिपरिचयाज्जाययोपेक्ष्यमाणो मूपानामननुसरणाद्भिभ्यदेवाखिलेभ्यः । गेहे तिष्ठन्कुमतिरजसः कूपकूमैः सधर्मा किं जानीते भुवनचरितं किं सुखं चोपभुङ्क्ते॥ ९ सुभा० प्र० २ ।

है क्योंकि इन दोनों स्वातन्त्र्य के बिना मनुष्य न तो कुछ कह सकता है और न कोई नवीन पुस्तक बना सकता है, ब्रिटिश-राज्य में मनुष्यों को इन दोनों स्वतन्त्रताओं की भी कुछ-कुछ प्राप्ति हुई है और आशा है कि आगे भी होती जायगी, जैसे पूर्वोक्त सर्व स्वतन्त्रताओं की आवश्यकता है ऐसे ही धर्मस्वातन्त्र्य की भी आवश्यकता है। महाभारत की लड़ाई (युद्ध) पीछे अन्य धर्मावलम्बियों ने भारत-वासियों के धर्मस्वातन्त्र्य का सर्वथा नाश कर दिया, इस बात को सर्व इतिहासवेत्ता लोग जानते हैं, जिन हिन्दुओं (आर्य्यों) ने अन्यमतावलम्बियों के अन्यायी राजाओं के राज्य में धर्मस्वातन्त्र्य का परित्याग नहीं किया उनके मुख में थूका, जनेऊ (यज्ञोपवीत) तोड़े, मन्दिर गिराये, घर लूटे, स्त्रियों को पकड़कर ले गये, एवं और भी अनेक ऐसे-ऐसे उपद्रव करके अन्यायी राजाओं ने अन्त में उनके प्राण हरण भी किये ऐसी दशा इस देशवासियों की अन्यायी लोगों ने अनेक वार की परन्तु हिन्दुओं की यही दशा रही कि जब लोगों ने सुना कि ऐसे लुटेरे आर्य्यधर्मद्वेष्टा लोग आये हैं और फलाने गाँव को लूट रहे हैं बस इतना सुनते ही झट हिन्दू लोग अपने-अपने दर्वाजों (द्वारों) को बन्द करके घर में घुस जाते थे वे क्रूर दुराचारी लोग हिन्दुओं की पूर्वोक्त दशा करके लूट खसोटकर चले जाते थे तब फिर हिन्दू अपना-अपना दरवाजा खोल के अपने

काम में लग जाते थे, हिन्दुओं में इतनी मूर्खता कायरता तथा नपुंसकता छाय गई कि ये उन लुटेरों से सर्वदा दुःख ही उठाते रहे परन्तु उनसे यथावत् मुकाबला कभी नहीं किया, मुकाबला करना तो दूर रहा परन्तु वे उन अन्यायी लोगों से अपने बचाव का प्रबन्ध भी यथावत् न कर सके, जब वे लुटेरे लूटकर चले जाते थे तब इस अन्याय अत्याचार घोर दुःख से बचने के लिये अनेक पोप धर्मलोप अविद्या के पुतले गोमुखी में हाथ डालकर "ताडय-ताडय मारय-मारय" का जाप करना प्रारम्भ करते थे परन्तु लातों का काम बातों से कब हो सकता है, वे गोमुखी में हाथ डाले ही बैठे रहते थे और लुटेरे लोग वारम्बार लूट खसोट कर के धर्म का नाश करते ही चले जाते थे इस अत्याचार को देखकर इस देश के अनेक शूरवीर क्षत्रिय राजाओं ने युद्ध करके उन लोगों को यथासम्भव परास्त भी किया परन्तु फूट के कारण से जैसा चाहिये वैसा प्रबन्ध नहीं कर सके और अनेक श्रद्धालु भोले-भाले क्षत्रियों ने ब्राह्मणों से उन अन्यायी लोगों को हटाने के लिये उनसे युद्ध करने को कहा भी परन्तु उन भोले ब्राह्मणों ने उन शूरवीरों को यही धोखा दिया कि हम पुरश्चरण करते हैं इस पुरश्चरण से सब म्लेच्छों का नाश हो जायगा, वे क्षत्रिय भी उनके कथन के विश्वास पर बैठे रहे, उसका परिणाम जो हुआ वह किसी से छुपा नहीं है, इस प्रमाद का फल यदि

हिन्दुओं (आर्य्यों) को सर्वदा के लिये शायद न भी भोगना पड़े परन्तु बहुत काल तक तो इस फल के भोगने के बिना हिन्दु कैसे बच सकते हैं। हमारे देशवासी ब्राह्मणादि ऐसी-ऐसी मिथ्या बातों के ऐसे-ऐसे दुष्ट काल भोग भी चुके हैं तथापि अभी तक यन्त्र मन्त्र तन्त्र जादू टोने आदि मिथ्या बातों से इनका विश्वास दूर नहीं होता, यदि कोई बुद्धिमान पुरुष यन्त्र मन्त्रादि लीला को मिथ्या जानकर इन को न माने तो उसकी निन्दा करते हैं और जाति बाहिर करने आदि अनेक प्रकार की धमकियें उसको देते हैं। इसका कारण अविद्या और स्वार्थपरता ही है, हम परमात्मा से सविनय प्रार्थना और देशवासियों से निवेदन करते हैं कि आप इस देश से अविद्या को दूर करें ताकि देशोन्नति और सुख से आप वञ्चित न रहैं, धर्मस्वतन्त्रता के विरोधी किसी देशविशेष में ही नहीं हुए हैं, किन्तु सभी देशों में हुए हैं. योरोप के इतिहास से जो लोग परिचित हैं वे लोग सम्यक् जानते होंगे कि योरोप के पोप धर्मस्वतन्त्रता के कितने विरोधी हुए हैं, एवं यवन [मुसलमान] तो धर्मस्वतन्त्रता के विरोधियों के शिरोमणि प्रसिद्ध थे और एवं कुछ ब्राह्मणादि भी धर्मस्वतन्त्रता के विरोधी हैं, जैसे यवनों ने कुराम के मत को स्वीकार न करने पर सहस्रों मनुष्यों के प्राण हरण किये, ऐसे ही पेशवा के राज्य में अकस्मात किसी शूद्र के वेदमन्त्र कर्णगोचर

होने पर अनेक शूद्रों को भोजन भट्टों ने खूब दुःख दिया, परन्तु हिन्दुओं (आर्य्यों) के अन्तःकरण में स्वभावसिद्ध दया रहती है। इसलिये इन लोगों ने यवनादि के सदृश अधिक अत्याचार किसी मनुष्य (प्राणी) पर इस विषय में नहीं किया और आर्य्य लोग अब भी किसी पर अत्याचार करना नहीं चाहते, यद्यपि अविद्या के कारण से हिन्दू भी कुछ-कुछ धर्मस्वतन्त्रता के विरोधी हैं, परन्तु जैसे अन्य सब मतवाले धर्मस्वतन्त्रता के विरोधी हुए हैं वा हैं- ऐसे आर्य्य लोग नहीं, अब भी अनेक मनुष्य अविद्या के वशीभूत हुए-हुए धर्मस्वतन्त्रता से विरोध करते हैं परन्तु ऐसा करना मनुष्यता से विरुद्ध है, जिस धर्माभास के कारण से अनेक प्राणियों का वध हो, जिससे मनुष्यसमाज में विद्वेष बढ़े, जो धर्म तलवार के बल से वा धन, स्त्री आदि के लोभ से दीन मनुष्यों को स्वीकार कराया जाय व जिस धर्म में दया का लेश न हो, किन्तु हिंसा ही को धर्म मानते हों, जिस धर्म में मनुष्य परतन्त्र किये जायँ जिस धर्म में स्त्रियों पर व अन्यान्य दीन प्राणियों पर अत्याचार किया जाय, जिस धर्म से पदार्थविद्या ब्रह्मविद्यादि का प्रचार न हो सके, मनुष्यों के गुण, कर्म, स्वभाव बिगड़ें, जिस धर्म से न्याय का नाश और अन्याय की वृद्धि हो, जिस धर्म से मानवोन्नति देशोन्नति आदि न होवे किन्तु प्रत्युत मनुष्यों के उभय लोक भ्रष्ट हो जावें,

ऐसे दुष्ट धर्माभास को बुद्धिमान् पुरुष धर्म से नहीं कहते हैं ऐसे धर्मरूप-अधर्मजाल में फँसकर सहस्रों मनुष्यों ने काशी करवट लिया, सहस्रों ने हिमालय में प्राणत्याग किये, सहस्रों मनुष्यों ने तलवार की कठिन धारा से सहस्रों मनुष्यों को मारा, सहस्रों के घर लूटे, हजारों स्त्रियों के पतिव्रत धर्म नष्ट किये और अब भी सहस्रों मनुष्यों को धर्म के बहाने (व्याज) से लोग लूट रहे हैं, इसलिये मनुष्यों को समुचित है कि अपने जन्म को सफल करने के अर्थ तन-मन-धन से सदार्य्य वैदिकधर्म का खोज [अवलोकन] करें, सत्यधर्म के निर्णयार्थ मनुष्य हठ दुराग्रह पक्षपात मताभिमान, छल, कपट, दम्भ, पाखण्ड आदि कुकर्मों का परित्याग करके न्यायशील विद्वान् परीक्षक तथा सरलस्वभाव से विद्यार्थी * के सदृश धर्मजिज्ञासु बनकर धर्म की परीक्षा करें, यद्यपि इस संसार में अनेक धर्मावलम्बियों का यही कथन है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा धर्म की परीक्षा करनी अनुचित है। अतः हमारे अमुक अपौरुषेय पुस्तक (आशमानी) किताब में जो कुछ लिखा

---

*विद्यार्थी किसी धर्म के वास्ते मदरसे की पढ़ाई को नहीं पढ़ता किन्तु इमतिहान में पास होने के वास्ते मास्टर जो पुस्तक पढ़ाता है उसी को पढ़ता है। ऐसे ही धर्मजिज्ञासु को भी सब मतमतान्तर की बातें सुनकर पुनः सत्यासत्य की परीक्षा करके सत्य का ग्रहण करना उचित है।

है। वही सत्य धर्म होने से इसको स्वीकार करो, धर्म के विषय में तर्क न करनो चाहिये किन्तु गुरु और ग्रन्थ के वचन पर विश्वास रखना चाहिये; क्योंकि "विश्वासःफलदायकः" विश्वास ही फलदायक है, गुरु और ग्रन्थ के बचन में कुतर्कना व सन्देह करने से मनुष्य पापी व नास्तिक होजाता है इसलिये गुरु व ग्रन्थ के बचन में सन्देह कभी नहीं करना चाहिये आर्य्य लोगों को छोड़कर इन कल्पित धर्माभासाभिमानियों की सब की ऐसी ही लीला है, जैसे वर्त्तमान काल में अन्य धर्माभिमानियों का धर्म के विषय में गोलमाल है, वैसे ही भोले हिन्दुओं का भी है। जैसे और लोगों के धर्मगुरु धर्म के बहाने से धनहरणार्थ अनेक लीला निर्माण करते हैं। उनसे कैई गुणी अधिक हिन्दुओं के धर्म के मिस (व्याज) से अनेक लीला बनाकर हिन्दुओं का भी धन-हरण करते हैं। जिससे उन शिष्य और गुरु दोनों की ही महा हानि होती है। अतः ऐसो लोला से सब को सर्वदा बचना चाहिये, यद्यपि वर्त्तमान काल में जैसे अन्य लोग कहते हैं कि धर्म के विषय में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की आवश्यकता नहीं, ऐसे ही हिन्दू लोग भी कहते हैं, परन्तु हिन्दुओं (आर्य्यों) के पूर्वजों ने न तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से धर्म का निर्णय करना लिखा है, हमारी सम्मति में आर्य्य सन्तानों के लिये यह भारो गौरव और आनन्द का विषय है, क्यों न हो, आर्य्यों के पूर्वज

सब दुष्ट कर्मों से तथा पूर्वोक्त धनहरण लीलाओं से रहित होकर पुकार-पुकार कर यही उपदेश करते आये हैं कि—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।

त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्मशुद्धमभीप्सत,

१०५ मनु० अ० १२

सत्य धर्म के (खोजी) जिज्ञासु को समुचित है कि जैसे सुनार (सुवर्णकार) सोने को कसौटी पर घिसकर व गलाकर सुवर्ण की परीक्षा कर लेता है ऐसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों से धर्म की परीक्षा करके सत्यधर्म को ग्रहण करो, आर्य्यों के पूर्वजों ने यह कभी नहीं कहा कि बाबा-वाक्यं प्रमाणम् जो कुछ हम कहें उसी को ही तुम मान लो, आर्य्यों के गौतम कणादादि पूर्वजों ने पृथ्वी से लेकर परमात्मापर्यन्त के लक्षण करके आर्य्यों को उपदेश किया है कि--

लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः

जो लक्षण व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हो उसी को मानो, इतना ही नहीं किन्तुः—

अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिशोधकम्।
अन्यार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्यायैकसेविना॥
युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं परमेष्ठिना॥ योग०मू०स०१८

आर्यों के पूर्वजों का यहाँ तक कथन है कि चाहे किसी पुरुष का शास्त्र हो परन्तु युक्तियुक्त हो तो उसको अवश्य ग्रहण करलो और युक्तिविरुद्ध किसी ऋषि के आर्ष ग्रन्थ का बचन हो तो उस का भी परित्याग करना चाहिये, यदि छोटा बालक भी यथार्थ वर्त्ता कहे तो उसको स्वीकार करनी योग्य है और ब्रह्मा का कथन भी युक्तिशून्य होय तो उसका परित्याग कर देना चाहिये यद्यपि वर्त्तमान काल के अनेक भोले मनुष्य यही कहा करते हैं कि जो कुछ अपने बाप दादा करते आये हैं वही करना चाहिये, परन्तु यह उनकी सर्वथा भूल है क्योंकि जिसका पिता पितामहादि बाममार्गी (कूण्डापन्थी) हो जो कि परस्त्रींगमन मद्यमांसादि सेवन को मोक्ष* प्राप्ति का साधन मानते हैं तो क्या उनके सन्तान भी ऐसा ही अत्याचार करे, यह तो वही बात है कि:—

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रबाणः क्षारं जलं कापुरुषाः पिवन्ति । ३५१ । पञ्च० तं० १ ।

गङ्गाजल को परित्याग करके पिता का खुदाया हुआ होने के कारण से उसके खारे (क्षार) जल को पीता रहे ऐसे मूर्खों के काम होते हैं विज्ञों के नहीं, हमारे पूर्वजों का तो अनादिकाल से यही सिद्धान्त है कि:—

* धातुवादेषु वित्ताशा मोक्षाशा कौलके मते, जामान्तरि च पुत्राशा त्रयमेतन्निरर्थकम् ॥ १०२ ॥ सुभा० प्र० २

अन्त्यादपि परन्धर्मम् ॥ २३ ॥ मनु० अ० २।

चाहे महा नीच चाण्डाल म्लेच्छ भी हो परन्तु यदि उसके पास सत्य धर्म होय तो उससे भी सत्यधर्म को ग्रहण कर लेना चाहिये, यद्यपि सभी मतवाले अपने-अपने धर्म को सत्य और पर धर्म को मिथ्या बताते हैं परन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाण, युक्ति, तर्क, लक्षण, ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव, सृष्टिक्रम, विद्या, बुद्धि, न्याय विचारादि से परीक्षा करने पर जो सत्य धर्म ठहरे उसको स्वीकार करना योग्य है, उस सत्यधर्म का लक्षण यही है कि:—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिःस धर्मः। २।
वैशे० शा० ० अ० १ आ० १।

जिससे इस लोक में मनुष्य की उन्नति हो तथा परलोक के अतीन्द्रिय सुख की सिद्धि हो अर्थात् जिससे लौकिक सर्व सुखों के सहित मोक्ष की प्राप्ति हो उसको सत्यधर्म कहते हैं। वास्तव में सत्यधर्म वह है कि संसार को हानिकारक कुकर्मों का परित्याग कर के जिससे संसार का उपकार हो और मनुष्यों की उन्नति हो व जिससे मनुष्य का उभय लोक सुधरें उस कर्म का करना, जैसे वेद में परमात्मा ने आज्ञा दी है कि:—

सङ्गच्छध्वं* सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।२।
ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४९।

---

* संगच्छध्वं सं उपसर्गपूर्वक गम्लृगतौ धातु का प्रयोग होने

हे मनुष्यो ! तुम सब पदार्थों का अच्छी प्रकार से ज्ञानोपार्जन करो व सर्व देश देशान्तरों में जाकर विद्या व्यापारादि की वृद्धि करो व सर्व पदार्थों का उपार्जन करो तथा जो उभय लोक श्रेयस्कर मार्ग है उस सुमार्ग पर चलो, कुमार्ग पर कभी मत चलो, एवं सब से छल कपट पाखण्ड-रहित सत्य* सुखद, हितकर, मित, मिष्ट, शुद्ध, सम्भाषण करो, इसी प्रकार मन से राग द्वेष और विरोध दम्भा-हङ्कार मद मत्सर काम क्रोधादि अविद्या के परिवार को मन से दूर करके, सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥ मनु० अ० ४ किसी प्राणी को दुःख न देता हुआः—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविष-याणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।३३। योगशा० पा० १

सुखी पुरुषों को देखकर ईर्षादि न करके उनसे मैत्री (मित्रता) करना, दुःखी पुरुषों के ऊपर दया (करुणा) करना पुण्यात्मा को देखकर प्रसन्न होकर अपने को भी पुण्यात्मा बनाना, पापी पुरुष को देखकर पाप से ग्लानि करके पाप से बचने का उपाय करना, तथाः—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः,

से ज्ञान गमन प्राप्ति ये तीनों अर्थ इस गम्लृ धातु के होते हैं ।

* अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयन्तप उच्यते ॥१५॥ भ० गी० अ०१७

तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतन्तु वर्जयेत् १६१ मनु० अ०४

जिस कर्म के करने में आत्मा को सन्तोष हो, उस कर्म को करना चाहिये आत्मा के विरुद्ध किसी कार्य्य को न करे क्योंकिः—

आत्मनस्तुष्टिरेव च । ६ मनु० अ० २ ।

आत्मा के अनुकूल हो वही धर्म है, जैसे अपने को ताड़ना आदि से दुःख होता है ऐसे ही अन्य प्राणियों को भी होता है, दुःख भोगना अपने आत्मा के विरुद्ध होने से अपना आत्मा दुःख भोगना नहीं चाहता, ऐसे ही—

आत्मवत्सर्वभूतेषु ॥ १४ हि० १ ।

अपने सदृश सब प्राणियों को जानना मानना और ऐसा ही वर्ताव करना, एवं—

धृतिः [१] क्षमा [२] दमो [३] स्तेयं [४]

---

१ धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः, यः स्याद्धारण-संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।। ११ भा० शांत प० अ० १०६

२ बाह्ये वाभ्यन्तरे चैव दुःखे चौत्पातिके क्वचिन्न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्त्तिता ॥

३ दमः पवित्रं परमं मंगल्यं परमं दमः । दमेन सर्वमाप्नोति यत्किंचिन्मनसेच्छसि । १ विष्णु स्मृ७ ७२

४ अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिंदितैः । आचारेषु व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते ॥ १ अत्रिस्मृत०

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् । योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ १०६ मनु० अ० ५

शौचमिन्द्रिय निग्रहः धीर्विद्या सत्यंक्रोधो दशकं धर्म [५] लक्षणम् ॥ ९२ ॥ मनु० अ० ६ ।

(धृति) कायिक वाचिक मानसिक धारणशक्ति की वृद्धि करना व धीरज रखना, (क्षमा) कुकर्मी मनुष्यों को सुकर्मी बनाने में जितना श्रम हो उस सब को सहन करना, [दम] मन को वश करना क्योंकि संसार के सर्व कर्म मन के आधीन हैं इसीलिये वेद में प्रतिपादन किया है कि—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्नऽऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ३ ॥ य० अ० ३४ ।

जो उत्तम ज्ञान और धृतिरूप चित्त है, जोकि ज्योतियों का भी ज्योति सर्व प्रजा के आभ्यन्तर विद्यमान है। जिसके बिना मनुष्य कुछ भी कर्म नहीं कर सक्ता वह मेरा मन शुभ संकल्प युक्त हो, यदि मनुष्य का मन शुद्ध होकर मनुष्य के वश में होजाय तो सम्पूर्ण कुकर्मों से बचकर मनुष्य धार्मिक हो सक्ता है, मन को वश में करने का यही उपाय है कि—

अभ्यास ❀ वैराग्याभ्यान्तन्निरोधः ॥ १२ ॥

योग० शा० पा० १

---

५ अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः, एतत्सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ६३ मनु० अ० १०

❀ अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ भ०गीता०अ० ६ ।

अभ्यास अर्थात् मन को शनैः शनैः प्राणादि में लगाकर स्थिर करना जैसे आज एक मिनट मन को स्थिर किया, कल २ मिनट, परसों ३ मिनट, ऐसे ही यथाशक्ति मन को स्थिर करने का अभ्यास करे, जब मन किसी कुकर्मों में लगे, तब विराग से उसको रोके अर्थात ऐसा विचार करे कि जिस शरीर के लिये मैं ऐसे-ऐसे घोर अत्याचार करता हूँ, जिससे संसार का अपकार होता है वह शरीर नाशवान होने से नष्ट होजायगा, परन्तु किया हुआ पाप प्राणी के साथ जायगा, इसलिये इस अनित्य शरीर के लिये कुकर्म नहीं करना चाहिये इत्यादि विचार करके कुसङ्ग से मन हटाकर मन को युक्तिपूर्वक स्थिर करे (अस्तेयं) किसी पर की वस्तु को उस की आज्ञा बिना ग्रहण न करना (शौचं) मन वाणी शरीर से शुद्ध रहना (इन्द्रियनिग्रह) जितेन्द्रिय होना (धीः) बुद्धि की की वृद्धि करना (विद्या) विद्याध्ययन करना (सत्यं) का सेवन करना, इस सत्य के सेवन करने से मनुष्य परम धार्मिक होजाता है क्योंकि चोरी आदि सब कुकर्मों में झूठ (मिथ्या) बोलने की आवश्यकता होती है, बिना झूठ बोलने के कुकर्म हो ही नहीं सकता, जब मनुष्य झूठ बोलना छोड़ देता है तो वह सब कुकर्मों से बच कर धार्मिक हो सकता है इसलिये सत्य बोलना, सत्य मानना सत्य पर चलना मनुष्य का परम धर्म है जैसेः—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्। १२

अथ० कां० ८ अनु० २ व० १०।

उत्तम ज्ञान चाहनेवाले मनुष्य के लिये सत्य और और असत्य दोनों ही प्रकार के वचन अपना-अपना प्रभाव दिखाते हैं उन दोनों में जो सत्य है वही सरल धर्म और मनुष्य को रक्षा करता है और जो असत् अर्थात् मिथ्या है वह अधर्मरूप मनुष्य का हनन करता है अर्थात् मनुष्यों को दुर्व्यसनों में फँसाकर उभय लोक का नाश करता है इसलिये मनुष्य को सर्वदा सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना योग्य है, जैसा कि रामचन्द्र महाराज ने जाबालि ऋषि से कथन किया है कि:—

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परम्पदम्॥१३॥

वाल० रा० अयो० कां० सर्ग० १०९।

जगत् में सत्य ही ईश्वर है और सत्य के आश्रित ही रहता है और सब पदार्थ भी सत्यमूलक ही हैं तथा सत्य से भिन्न कोई परमपद भी नहीं है, अर्थात ईश्वर तदाश्रित धर्म और प्रकृति तथा मोक्ष ये सब सत्यरूप हैं इसलिये सत्य का ही सर्वदा ग्रहण करना चाहिये एवंः—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१३८॥

मनु० अ० ४।

मनुस्मृति में प्रतिपादन किया है कि मनुष्य को उचित है कि सत्य बोले तथा प्रिय वचन बोले परन्तु अप्रिय सत्य न बोले, ऐसे ही प्रिय असत्य को भी न बोले यही सनातन-धर्म है, इस श्लोक में ऐसे अप्रिय सत्य कथन का निषेध किया है कि जिस अप्रिय सत्य के बोलने से श्रवण करने वाले को कुछ भी लाभ न हो और उद्वेग हो जैसे काणे को काणा कहना आदि। परन्तु जिस अप्रिय कथन से श्रोता को लाभ हो उस अप्रिय सत्य कथन का निषेध नहीं है, एवं झूठी बात प्रिय भी लगती हो परन्तु झूठ न बोले, किन्तुः—

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुस्कवैरं विवादञ्च न कुर्यात्केनचित् सह।१३९।

मनु० अ० ४।

सर्वदा सब को कल्याण का करनेवाला वचन कहे कल्याण को कल्याण ही कहे और किसी से भी निष्प्रयोजन बकवाद तथा वैर-विरोध कदापि न करे, चाहे राजा, महा-राजा, योगी, यति, धनिक कोई भी प्रतिष्ठित पुरुष क्यों न हो, परन्तु जब वह झूठ बोलता है और उसका झूठ बोलना मनुष्यों को ज्ञात हो जाता है तो उसी समय मनुष्यों की दृष्टि से वह पुरुष तुच्छ होजाता है, इस

झूठ की वृद्धि से मनुष्य-समाज की बड़ी हानि हो रही है अतः हानि से बचने लिये समुचित है कि झूठ का सर्वथा परित्याग करदें एवं (अक्रोध) क्रोध* से मनुष्य की बड़ी हानि होती है क्योंकि क्रोधी मनुष्य बिना निमित्त के क्रोध के वशीभूत होकर माता-पिता गुरु आदिकों को कुवाक्य दण्डप्रहारादि से दुःख पहुँचाता है तथा क्रोध से मनुष्य अनेक कर्म कर बैठता है इसलिये मनुष्य क्रोध का परित्याग करे तथाः—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधंप्राहुःसाक्षाद्धर्मस्यलक्षणम् १२मनु० अ०२

वेदों में जो प्रतिपादन किया है व वेदानुकूल स्मृति में जो प्रतिपादन किया है तथा सत् पुरुषों के आचार और आत्मा के जो अनुकूल है वही धर्म है, इस संसार में धर्म एक ऐसा पदार्थ है कि जिसके होने से मनुष्य सर्वगुणालंकृत हो जाता है और जिस धर्म के न होने से मनुष्य के सब गुण अपगुण होजाते हैं। जिस मनुष्य में सत्यधर्म नहीं है वह मनुष्य नाम मात्र का मनुष्य है यथार्थ में वह मनुष्य मनुष्य नहीं है। संसार में जितना सुख होता है वह सब धर्म का ही फल है। वास्तव से देखिये तो मनुष्य का सहा-

* न यथाऽसिस्तथा तीक्ष्णः सर्पो वा दुरधिष्ठितः । यथा क्रोधो हि जन्तूनां शरीरस्थो विनाशकः ॥४॥ आ० स्मृ० अ० १०

यक धर्म के सदृश कोई भी नहीं है इसी हेतु से मनुस्मृति में प्रतिपादन किया है कि:—

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद्व वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥
नामुत्रहि सहायार्थं पितामाता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एको नु भुङ्क्ते सुकृतमेक एवच दुष्कृतम् ।२४०।
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति । २४१ ।
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम॥ २४२
मनु० अ० ४।

मनुष्य किसी प्राणी को दुःख न देकर शनैः शनैः धर्म को ऐसे सञ्चित (इकट्ठा) करे कि जैसे दीमक धीरे-धीरे एक-एक मिट्टी के कण से थोड़े ही दिनों में बड़ा मिट्टी का ढेर (बांबी) को बना लेती है। परलोक में धर्म के बिना मनुष्य का माता-पिता पुत्र स्त्री वा बन्धु कोई भी सहायक नहीं होता, इस संसार में मनुष्य अकेला ही आता है और अकेला ही चला जाता है इसलिये अपने किये पाप पुण्य के

फल दुःख सुख को भी आप ही भोगता है। जब मनुष्य मर जाता है तब उसको उसके सम्बन्धी लोग काठ वा लोहे के समान पृथ्वी में डालकर अपने-अपने घर को चले जाते हैं परन्तु धर्म उसके साथ जाता है इसलिये मनुष्य को अपनी सहायता के लिये अहर्निश धर्म करना चाहिये उस धर्म की सहायता से ही मनुष्य बड़े-बड़े दुःखों से उत्तीर्ण होकर सुख को भोगता है। इस मनु के वचन से स्पष्ट है कि जैसा मनुष्य का सहायक धर्म है ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है अतएव मनुष्य को उचित है कि सत् आर्य्य वैदिक धर्म जिसको कि आर्य्यसमाज मनुष्यों के हित के लिये प्रचार कर रहा है ग्रहण करें क्योंकि संसार में वेद के धर्मानुसार ही बर्त्ताव करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है, हम आशा करते हैं कि जो कुछ इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है उसको पाठक स्वीकार करके उभय लोक सुधारेंगे। इत्याशास्महे:—

अवति यः सततं समनुष्ठितः
समुचितैर्विभवैश्चतुराश्रमान्।
सकलसौख्यकरः स गृहाश्रमो
बधहुधनैः सुजनैः किल सेव्यताम् ॥ १ ॥
मुनिभिरप्रतिमोद्धृतयोगजैः
रवियतं परमात्मनि निष्ठितैः

वननिवासिभिरप्युररीकृताः,
स च जनैः सुजनैरिवसेव्यताम् ॥२॥
प्रियतमाकर एष गुणाकारः
सुखकरः स च सन्ततिविस्तरम् ।
बहुतरं विदधाति सुकर्मभिः
स च जनैः सुजनैरिव सेव्यताम् ॥३॥
उपगतैः समयोचितवस्तुभिः
प्रसभसत्प्रियतामनुसेविभिः ।
सुखमतिप्रमितं सुलभं यतः
स च जनैः सुजनैरिवसेव्यताम् ॥४॥
प्रियजनेष्वपि दुर्जनतामनु-
प्रविशति प्रियतां न च यन्मनः ।
समुचितं द्रविणं च न सञ्चितं
न च नरैरवरैः स सुखायतैः ॥५॥
आर्य्यावर्त्तः पतति नितरां येन सन्तप्यमानम्
भूयो भूयः प्रबलरिपुणा नित्यमालस्यनाम्ना ।
तस्य त्यागः परमपुरुषार्थस्य चादानमात्रम्

श्रौतैः स्मार्तैर्निगमवचनैर्वर्णितं पुस्तकेऽस्मिन्॥६॥

मनुष्यजन्मार्जितपुण्यकर्मणा

विधीयतां किं किमिति क्रमागतम् ।

समन्ततो वर्णितमत्र पुस्तके,

निरीक्ष्य लोकव्यवहारचेष्टितम् ॥ ७ ॥

नसंसारोत्पन्नं चरितमनुकूलं किमपि वै,

विधातुं संशक्तः सुमतिरपि यस्यानभिमुखः ।

क्रमादस्मिंस्तस्य प्रकरणकलापः समुदितः,

प्रकाशेनैवातः सयुतपुरुषार्थेन गदितः ॥ ८ ॥

अविदितमिह लोकेऽस्यार्यदेशस्य कस्य,

प्रतिविषयसमृद्धिः सर्व वृद्धिर्यथाऽभूत् ।

समुदितपुरुपार्थे नैव निश्शेषतस्तां

कथितुमचलचित्तश्चित्तवान् कः समर्थः । ९ ।

निवेद्यतेन्ते विनिवेदनीयं, जहीहि सर्वालसतां सतांच

समुन्नतो यः पुरुषार्थमार्गः,प्रवृत्यतां तत्र सुखाय नूनम्

पश्येम् शरदः शतम् । १ । जीवेम शरदः शतम् । २

बुध्येम् शरदः शतन् । ३ । रोहेम शरदः शतम् । ४।

पुष्येम शरदः शतम् । ५ । भवेम शरदः शतम् । ६ ।

भूषेम शरदः शतम् । ७ । भूयसीः शरदः शतात् । ८

अथर्व कां० १९ व० ६७ ।

इति श्रीमत्स्वामि विश्वेश्वरानन्दब्रह्मचारि नित्यानंद विरचिते पुरुषार्थप्रकाशे गृहस्थाश्रमप्रकरणं पूर्तिगमात्

ग्रन्थश्चायं समाप्तः

* ओ३म् *

अथ संक्षेपतो ग्रन्थसङ्केताः ॥

इस पुस्तक में जिन ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं उनकी व्यवस्था निम्नलिखित क्रमानुसार जाननी चाहिये, मुख्य सङ्केत यह है कि जिन-जिन ग्रन्थों के प्रमाण इस ग्रन्थ में दिये हैं, उन-उन के आदि-आदि के एक-दो अक्षर लिख दिये हैं। जैसे ऋग्वेद का ऋ० अष्टक का प्रथम अ० अध्याय का द्वितीय अ० वर्ग का व०, एवं कहीं-कहीं ऋग्वेद का ऋ० मण्डल का मं० और सूक्त का सू० भी लिखा है। यजुर्वेद का य० अध्याय का अ० लिखा है, सामवेद का साम० पूर्वार्चिक का पू० प्रपाठक का प्र० दशति का दश० उत्तरार्चिक में दशतियें नहीं हैं, परन्तु प्रपाठक के दो भेद हैं जैसे पूर्वार्ध प्रपाठक व उत्तरार्द्ध प्रपाठक, यथासाम० उ० पू० प्र० व साम० उ० उ० प्र०, अथर्ववेद का अथर्व० किंवा अथ० काण्ड का कां० अनुवाक का मनु० वर्ग० का व० ऐतरेयब्राह्मण का ऐ० पञ्चिका का पं० अध्याय का अ०, शतपथ ब्राह्मण का श० काण्ड का कां० प्रपाठक का प्र० ब्राह्मण का ब्रा० कण्डिका का कं०, गोपथ का गोप० पूर्वभाग का पू० उत्तरभाग का उ० प्रपाठक का प्र० चरक का चर० किम्बा च० सूत्रस्थान, निदानस्थान, विमानस्थान

चिकित्सास्थान और कल्पस्थान का क्रमशः सू० नि० वि० शा० चि० क० और अध्याय का अ० समझना चाहिये, चिकित्सास्थान में पाद भी हैं इसलिये पाद का पा० लिखा है, सुश्रुत का सु० एवं सूत्रस्थान शारीरस्थान चिकित्सास्थानादि व उत्तर तन्त्रादि की व्यवस्था भी जान लो, छान्दोग्य का छां० किम्वा छां० उ० प्रपाठक का प्र० खण्ड का खं०, वृहदारण्यक का वृ० उपनिषत् उ० अध्याय का अ० ब्राह्मण का ब्रा० ऐसे ही अन्य उपनिषत् के संकेतों की ऊहा करलो, अष्टाध्यायी का प्रथम अ० अध्याय का द्वितीय अ० पाद का पा० महाभाष्य का महा० अध्याय का अ० पाद का पा० आन्हिक का आ० निरुक्त का नि० पूर्वषट्क पू० उत्तरषट्क का उ० अध्याय का अ० और खण्ड का खं० एवं गोभिलीयपारस्कर आश्वलायन शाङ्खायन लाट्यायन आपस्तम्बीय कात्यायन सूत्रादि के भी एक-एक आदि के अक्षर लिखे हैं, तथा मीमांसा का मी० अध्याय का अ० पाद का पा० वेदान्त का वे० अध्याय का अ० पाद का पा० न्याय वैशेषिक का न्या० वै० अध्याय का अ० आन्हिक का अ०, सांख्य का सां अध्याय का अ०, योग का यो० पाद का यो० पाद का पा० मनुस्मृति का मनु० अध्याय का अ० बाल्मीकीयरामायण का बा० बाल अयोध्या आरण्य किष्किन्धा सुन्दर युद्ध कांड का बा० अ० आ० कि० सुं० यु० महाभारत का महा० और कहीं मा० आदिप० वनप०

उद्योगप० शान्तिप शल्यप० गदाप० करणप० आदि सब पर्वों के प्रथम का एक-एक अक्षर लिखे हैं पुनः अध्याय का अ० लिखा है, एवं भगवत्गीता शुक्रनीति पञ्चतन्त्रादि सब ग्रन्थों की व्यवस्था बुद्धिमान् स्वयं ही जान लेंगे, विस्तारभय से सब ग्रन्थों के नाम यहाँ पर नहीं लिख सकते, प्रथम के पाँच वेदमन्त्रों को छोड़कर शेष सब ग्रन्थों के मन्त्र श्लोक सूत्र आदि की अङ्क संख्या मन्त्र श्लोक सूत्र आदि की समाप्ति पर ही लिखे हैं, सुधी पाठक अन्यान्य संकेतों की भी ऊहा कर लेंगे—

इति संक्षेपतो ग्रन्थसंकेताः ॥